

स्वामी विवेकानंद के वेदान्तिक समाजवाद का समीक्षात्मक
अध्ययन
भारतीय दर्शन में पी-एच.डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध
2021



शोध-निर्देशक
डॉ. नवीन दीक्षित
विभागाध्यक्ष एवं सहायक प्राध्यापक
भारतीय दर्शन विभाग

शोधार्थी
पुष्पलता
पी.एच.डी. शोध छात्रा
भारतीय दर्शन विभाग
नामांकन क्र. En18-00010

भारतीय दर्शन विभाग
सनातन धर्म एवं भारतीय ज्ञान अध्ययनशाला
साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय
साँची, रायसेन (म.प्र.)-464661

शोधार्थी द्वारा घोषणा पत्र

मैं एतद् द्वारा घोषणा करती हूँ कि यह शोध कार्य 'स्वामी विवेकानंद के वेदान्तिक समाजवाद का समीक्षात्मक अध्ययन' डॉ. नवीन दीक्षित (शोध-निर्देशक) सनातन धर्म एवं भारतीय ज्ञान अध्ययनशाला के अंतर्गत भारतीय दर्शन विभाग, साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची, मध्य प्रदेश के अधीन किया गया है। यह मेरा मौलिक शोधकार्य है, जिसे विभागीय शोध समिति द्वारा अनुमोदित किया गया है।

मैं यह भी घोषणा करती हूँ कि मेरी जानकारी के अनुसार इस शोध-प्रबंध में किसी प्रकार का कोई ऐसा तथ्य उद्धृत नहीं किया गया है, जो इस विश्वविद्यालय या किसी अन्य विश्वविद्यालय के समक्ष किसी भी उपाधि हेतु प्रस्तुत किया गया हो।

साथ ही मैं यह भी घोषणा करती हूँ कि –

1. मैंने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम 2018 के मापदंडों के अनुसार एक सत्र का कोर्स वर्क सफलतापूर्वक पूर्ण कर लिया है।
2. मैंने शोध-प्रबंध अंतिम रूप से जमा करने के पूर्व विभागीय शोध समिति के समक्ष प्रस्तुति भी दी है और दिये गये निर्देशों/सुझावों के आधार पर संशोधनों को सफलतापूर्वक शामिल किया है।
3. मैंने शोध-प्रबंध से संबंधित दो शोध-पत्र ISSN/रेफर्ड जर्नल में प्रकाशित कराया है, जिसकी छायाप्रति शोध-प्रबंध के अंत में संलग्न है। मैंने शोध विषय से संबंधित राष्ट्रीय संगोष्ठी में शोध-पत्र भी प्रस्तुत किया है।
4. मेरे द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबंध में कोई भी कंटेंट, किसी अन्य शोध या किसी प्रकाशित सामग्री का हिस्सा नहीं है। यदि साहित्यिक चोरी के अंतर्गत कोई भी कंटेंट पाया जाता है, तो उसके लिए मैं स्वयं उत्तरदायी रहूँगी।

दिनांक :

हस्ताक्षर शोधछात्रा

स्थान : साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, मध्य प्रदेश

पुष्पलता
पी-एच.डी. (भारतीय दर्शन विभाग)
साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय

शोध—निर्देशक का प्रमाण—पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि शोध—प्रबंध जिसका विषय 'स्वामी विवेकानंद के वेदान्तिक समाजवाद का समीक्षात्मक अध्ययन' पुष्पलता द्वारा किया गया शोध—कार्य है, जिसे भारतीय दर्शन विभाग, सनातन धर्म एवं भारतीय ज्ञान अध्ययनशाला, साँची बौद्ध—भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची, मध्य प्रदेश में पी—एच.डी. उपाधि हेतु मेरे निर्देशन में पूर्ण किया गया।

मेरी जानकारी के अनुसार —

1. यह शोधछात्रा का मौलिक कार्य प्रतीत होता है।
2. यह शोध—कार्य विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के मापदंडों/निर्देशों को पूरा करता है।
3. विश्वविद्यालय की पी—एच.डी. उपाधि से संबंधित अध्यादेश की आवश्यकताओं को पूरा करता है।

दिनांक :

हस्ताक्षर शोध—निर्देशक

स्थान : साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, मध्य प्रदेश

डॉ. नवीन दीक्षित
सहायक प्राध्यापक (भारतीय दर्शन विभाग)
साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, मध्य प्रदेश

हस्ताक्षर विभागाध्यक्ष

भारतीय दर्शन विभाग
साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, मध्य प्रदेश

सर्वाधिकार

मैं, **पुष्पलता** एतद् द्वारा घोषणा करती हूँ कि साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, साँची, मध्यप्रदेश द्वारा इस शोध-प्रबंध 'स्वामी विवेकानंद के वेदान्तिक समाजवाद का समीक्षात्मक अध्ययन' को शैक्षणिक/अनुसंधान उद्देश्य से इलेक्ट्रॉनिक या प्रिंट प्रारूप में उपयोग करने के अधिकार होंगे।

नोट :- शोधार्थी अथवा अन्य द्वारा शोध-प्रबंध के ऑकड़ों/निष्कर्षों का प्रयोग व्यक्तिगत रूप से किया जा सकेगा। बशर्ते कि यथा स्थान विश्वविद्यालय के सर्वाधिकार का उल्लेख किया जाए।

दिनांक :

हस्ताक्षर शोधछात्रा

स्थान : साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, मध्य प्रदेश

पुष्पलता

पी-एच.डी. (भारतीय दर्शन विभाग)
साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, मध्य प्रदेश

साहित्यिक प्रतिबद्धता/नकल का प्रमाण—पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत शोध—प्रबंध 'स्वामी विवेकानंद के वेदान्तिक समाजवाद का समीक्षात्मक अध्ययन' की साहित्यिक प्रतिबद्धता की जाँच निम्नलिखित उपकरण से की गई है। मैं, पुष्पलता यह घोषणा करती हूँ कि :

1. शोध—प्रबंध ज्ञान के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कार्य है। यह शोध—प्रबंध इस विषय में अब तक किए गए कार्य/प्रकाशित/प्रकाशित होने वाले कार्यों से भिन्न है। किसी भी प्रकार का वाक्य, चित्र, आरेख, अनुच्छेद कहीं से भी नकल नहीं है तथा जहाँ भी किसी पूर्व के कार्यों का उल्लेख शोध—प्रबंध में किया गया है उसे उद्धरण चिह्न के अंतर्गत रखा गया है।
2. यह शोधार्थी का मौलिक कार्य है (किसी भी कार्य का नकल नहीं है)। शोधार्थी द्वारा किसी अन्य के कार्यों, संकल्पना, प्रक्रिया, परिणाम को अपने शोध—कार्य का दावा नहीं किया गया है।
3. शोध—कार्य के परिणाम एवं विश्लेषण में किसी भी प्रकार की मिथ्या का सहारा नहीं लिया गया है।
4. शोध—कार्य में किसी भी अनुसंधान सामग्री, उपकरण या प्रक्रियाओं या परिणामों की अदला—बदली के माध्यम से गलत परिणाम आते हैं। शोध—कार्य में ऐसा कोई भी प्रयास नहीं है।
5. 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (उच्चतर शिक्षा संस्थानों में अकादमिक सत्यनिष्ठा एवं साहित्यिक चोरी की रोकथाम को प्रोत्साहन) विनियम, 2018' के दिशा—निर्देश के अनुसार शोध—प्रबंध की जाच URKUND के द्वारा की गई है।

दिनांक :

हस्ताक्षर शोधछात्रा

स्थान : साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, मध्य प्रदेश

पुष्पलता

पी—एच.डी. (भारतीय दर्शन विभाग)
साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.वि., साँची, मध्य प्रदेश

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन	i-iii
आभार	iv-v
प्रस्तावना	1-12
प्रथम अध्याय – स्वामी विवेकानंद : एक संक्षिप्त परिचय	13-44
1.1 जीवन-परिचय	
1.2 शैक्षणिक-विवरण	
1.3 रामकृष्ण का स्वामी विवेकानंद पर प्रभाव	
1.4 स्वामी विवेकानंद की भारत परिग्रजना एवं उसका महत्त्व	
द्वितीय अध्याय – स्वामी विवेकानंद का वेदान्त-दर्शन	45-80
2.1 विवेकानंद के दर्शन में ब्रह्म	
2.1.1: ब्रह्म का स्वरूप	
2.1.2: ईश्वर का स्वरूप	
2.1.3: ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के तर्क	
2.1.3.1: पारम्परिक प्रयोजनात्मक प्रमाण	
2.1.3.2: कार्यकारणमूलक प्रमाण	
2.1.3.3: श्रुति-प्रमाण	
2.1.3.4: अंतःप्रज्ञामूलक या प्रत्यक्षानुभूतिमूलक प्रमाण	
2.2 विवेकानंद के दर्शन में जगत्	
2.2.1: जगत् का स्वरूप	
2.2.2: मायावाद	
2.3 मानव का स्वरूप	
2.3.1: जीव अथवा मानव का भौतिक स्वरूप	
2.3.2: मानव का आध्यात्मिक स्वरूप	
2.4 विवेकानंद का व्यावहारिक वेदान्त	
2.4.1: ज्ञानयोग	
2.4.2: भक्तियोग	
2.4.3: कर्मयोग	
2.4.4: राजयोग	

3.1 समाज-दर्शन का स्वरूप एवं क्षेत्र

3.2 समाज का अभिप्राय

- 3.2.1: समाज की उत्पत्ति
- 3.2.2: दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त
- 3.2.3: सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त
- 3.2.4: विकासवादी सिद्धान्त

3.3 भारतीय समाज व्यवस्था

- 3.3.1: परिवार
- 3.3.2: कुल एवं गोत्र
- 3.3.3: विवाह
- 3.3.4: चातुर्वर्ण्य व्यवस्था
- 3.3.5: जाति
- 3.3.6: वर्ण तथा जाति का सम्बंध
- 3.3.7: आश्रम व्यवस्था
 - 3.3.7.1: ब्रह्मचर्य आश्रम
 - 3.3.7.2: गृहस्थ आश्रम
 - 3.3.7.3: वानप्रस्थ आश्रम
 - 3.3.7.4: संन्यास आश्रम
- 3.3.8: ऋण-व्यवस्था
- 3.3.9: पुरुषार्थ-व्यवस्था

3.4 समाज एवं संस्कृति

- 3.4.1: संस्कृति की संकल्पना
- 3.4.2: समाज और संस्कृति में सम्बंध
- 3.4.3: भारतीय संस्कृति एवं सोलह संस्कार
- 3.4.4: भारत का सांस्कृतिक बहुलतावाद

4.1 सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलनों का समाज पर प्रभाव

- 4.1.1: भक्ति आन्दोलन
- 4.1.2: ईसाई धर्म का प्रचार
- 4.1.3: पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव
- 4.1.4: भारतीय समाचार-पत्र एवं साहित्य
- 4.1.5: प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का ज्ञान
- 4.1.6: पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव

4.1:7: भारतीय समाज एवं पुनर्जागरण काल

4.2 विवेकानंद के समाज—दर्शन का स्त्रोत

4.3 विवेकानंद के अनुसार समाज एवं समाज—दर्शन की अवधारणा

4.3.1: विवेकानंद के अनुसार समाज की संकल्पना

4.3.2: समाज का आधार: मानव की अंतस्थ शुभता

4.3.3: समाज की संकल्पनाओं का वर्गीकरण

4.4 समाज में जाति एवं वर्ग विभाजन

4.4.1: वर्णव्यवस्था का लचीलापन

4.4.2: वर्ण, जाति एवं नस्ल

4.4.3: जन्मना एवं कर्मणा वर्णव्यवस्था

4.4.4: जातिय व्यवस्था एवं अंतर्जातीय संघर्ष

पंचम् अध्याय — विवेकानंद का वेदान्तिक समाजवाद

143—219

5.1 समाज की पाश्चात्य संकल्पनाएँ

5.1.1: समाज की संकल्पनाओं का वर्गीकरण

5.1.2: समाजवाद का अर्थ

5.1.3: समाजवाद की परिभाषा

5.1.4: समाजवाद का संक्षिप्त इतिहास

5.1.5: समाजवाद की प्रमुख विशेषताएँ

5.1.6: समाजवाद और राज्य

5.1.7: भारतीय समाजवाद

5.2 समाजवाद एवं वेदान्तिक समाजवाद

5.2.1: नैतिकता का आधार के रूप में अद्वैत वेदान्त

5.2.2: समाज—परिवर्तन में अद्वैत वेदान्त

5.2.3: समाज—दर्शन एवं वेदान्तिक समाज—दर्शन

5.2.4: मानव की मूलभूत एकता एवं समस्त अस्तित्व की एकता

5.2.5: समाजवाद एवं शिक्षा

5.2.6: समाजवाद एवं व्यावहारिक वेदान्त

5.2.7: भारत की मूल आध्यात्मिक प्रकृति एवं समाजवाद

5.2.8: वेदान्तिक समाजवाद का समाज में व्यवहृत करने का साधन: सेवायोग

5.3 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त

5.3.1 स्वामी विवेकानंद का तरंग सिद्धान्त

5.3.2 भिन्न राष्ट्रों के सामाजिक—सांस्कृतिक प्रतिरूप

5.3.3: सामाजिक प्रगति का आधुनिक दृष्टिकोण

5.4 आदर्श समाज व्यवस्था

5.4.1: भारत के राष्ट्रीय आदर्श: त्याग एवं सेवा

5.4.2: जातिभेद का प्राकृतिक आधार

षष्ठम् अध्याय – विवेकानंद के समाज—दर्शन के मुख्य अभिलक्षण

220—250

6.1 सामाजिक अखंडता, समता, न्याय एवं बंधुता

6.1.1: शोषणमुक्त एवं विशेषाधिकार

6.1.2: व्यावहारिक वेदान्त

6.2 आदर्श मानव समाज की स्थापना में मानव—निर्माण शिक्षा का योगदान

6.2.1: स्वामी विवेकानंद के अनुसार शिक्षा का अभिप्राय

6.2.2: शिक्षा में अधिकारी भेद

6.2.3: स्वामीजी की शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष

6.3 स्त्री शिक्षा एवं नारी सशक्तिकरण

6.4 आत्म कल्याण एवं योग चतुष्टय

उपसंहार

251—270

संदर्भ—ग्रंथ सूची

271—274

परिशिष्ट

प्रस्तावना

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का शीर्षक **“स्वामी विवेकानंद के वेदान्तिक समाजवाद का समीक्षात्मक अध्ययन”** है। इस शोध कार्य का सर्वप्रथम उद्देश्य यह प्रदर्शित करना कि अद्वैत वेदान्त के आधार पर कर्म सम्बन्धी नीति दर्शन की स्थापना संभव है। इस नीति दर्शन का व्यावहारिक जगत् से जुड़े आयामों जैसे समाज-दर्शन तथा आर्थिक-दर्शन में विनियोग करना रहा है। साथ ही इसका उद्देश्य स्वामी विवेकानंद के समाज-दर्शन का समाजवाद के समानान्तर अध्ययन करना है। इस हेतु शोध में मुख्य रूप से “समीक्षात्मक शोध प्रविधि” का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत शोध कार्य का प्राथमिक ग्रंथ दस भागों में ‘विवेकानंद साहित्य’ है, जिसका इस शोध प्रबंध में प्रचुरता से उपयोग किया गया है। अन्य संदर्भित साहित्य में मुख्य रूप से स्वामी गम्भीरानंद की तीन भागों में ‘युगनायक विवेकानंद’, स्वामी निखिलानंद की ‘विवेकानंद एक जीवनी’, स्वामी रंगनाथानंद की ‘परिवर्तनशील समाज के शाश्वत मूल्य’, सांत्वना दास गुप्ता की ‘सोशल फिलोसफी ऑफ स्वामी विवेकानंद’, महेन्द्र कुमार मिश्र की ‘भारत का सामाजिक इतिहास’ एवं ‘भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति’, रामधारी सिंह दिनकर की ‘संस्कृति के चार अध्याय’, तथा रोमां रोलां कृत ‘विवेकानंद की जीवनी’ आदि हैं।

स्वामी विवेकानंद ने एक बार कहा था कि “मैं समाजवादी हूँ, इसलिए नहीं कि मैं इसे पूर्ण रूप से निर्दोष समझता हूँ, परन्तु इसलिए कि रोटी न मिलने से आधी रोटी ही अच्छी है। अन्य सब मतवाद काम में लाये जा चुके हैं और दोषयुक्त सिद्ध हुए हैं। इसकी अब भी परीक्षा होने दो – यदि और किसी कारण से नहीं तो इसकी नवीनता के लिए ही। सर्वदा एक ही वर्ग के व्यक्तियों को सुख और दुःख मिलने की अपेक्षा सुख और दुःख का बँटवारा करना अच्छा है”। वस्तुतः प्रस्तुत शोध-प्रबंध का प्रधान उद्देश्य स्वामी विवेकानंद के इन कथनों का ही परीक्षण करना है। इस कार्य की पूर्ति के लिए विवेकानंद-साहित्य, रामकृष्ण-विवेकानंद भावधारा के विद्वानों के संदर्भित साहित्य एवं अन्य संबंधित ग्रंथों से सहायता ली गई है। इस शोध-प्रबंध के माध्यम से यह प्रतिपादित किया गया है कि स्वामी विवेकानंद के समाजपरक विचारों से समाजवादी व्यवस्था का तो निष्कर्ष निकाला जा सकता है किंतु इसे ‘वेदान्तिक’ विशेषण से विशेषीकृत करना अत्यंत आवश्यक है।

ध्यातव्य है कि स्वामी विवेकानन्द के वेदान्तिक समाजवाद का स्रोत उनका वेदांत-दर्शन है। वेदांत के अनुसार सत्, ब्रह्म अथवा वास्तविकता अपरिवर्तनीय है। इसके विपरीत जगत् सापेक्षिक, परिवर्तनशील होने से मिथ्या कहा गया है। समाज भी नित्य परिवर्तित होते हुए विकसित होता है। ऐसे में वेदान्त-दर्शन एवं इससे सम्बन्धित किसी सिद्धांत जैसे वेदान्तिक समाजवाद को उस पर आधारित कैसे माना जा सकता है ? जो लोगों की भौतिक स्थिति को उन्नत बनाने में सचेष्ट है। यदि वेदांत के अनुसार जगत् मिथ्या है, तो ऐसी कौन सी नैतिक बाध्यता है, जो इसे समाज की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति को परिवर्तित करने के लिए प्रेरित करे। इस प्रकार प्रत्येक वेदांती के समक्ष वेदान्तिक समाजवाद पर विचार करने के पूर्व वेदान्तिक नीति-दर्शन की समस्या उपस्थित होती है। यदि जगत् में मानवों का सामूहिक जीवन सदैव शुभ-अशुभ मिश्रित एवं परिवर्तनीय है तो उनके कल्याण के लिए नीति-दर्शन या नैतिकता की क्या आवश्यकता है ? यह संशय वेदांत की गलत धारणा के कारण उत्पन्न होते हैं। वेदांती संसार से सन्यास पर उतना जोर नहीं देते, जितना वे आत्मत्याग पर देते हैं। स्वामी विवेकानंद के अनुसार अद्वैत वेदांत वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार की नैतिकता का सुदृढ़ आधार है। केवल अद्वैत वेदांत ही नैतिकता की सही व्याख्या करता है। अस्तित्व की एकता का अद्वैतवादी सिद्धांत ही यह बताता है कि 'किसी को कष्ट देकर तुम स्वयं को ही कष्ट देते हो'। विवेकानंद के अनुसार 'जितना हम पूर्ण से अपने को अलग करते हैं, उतना ही ज्यादा दुःखी होते हैं'। इसी अद्वैती सिद्धांत से हम नैतिकता का आधार प्राप्त करते हैं।

अद्वैत वेदांत पर आधारित नैतिकता संभव है, यह सामाजिक एवं समाज से पृथक् दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों के आचार का नियमन कर सकती है। मानव जीवन में उसकी यही उपयोगिता उसकी सार्थकता का मापदण्ड है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार कोई भी दर्शन चाहे कितना ही उच्च क्यों न हो, यदि उसे व्यवहार में न उतारा जा सके, यदि वह विभिन्न योग्यता तथा स्वभाव वाले व्यक्तियों को सहायता न पहुंचा सके तो उसका मूल्य बहुत कम है। अद्वैत वेदांत पर आधारित यही नैतिकता स्वामी विवेकानंद के समाज-दर्शन का आधार है।

स्वामी विवेकानंद के पूर्व अद्वैत वेदांत के मूल तत्त्वों के आधार पर समाज-दर्शन का विकास नहीं किया गया। अपनी भारत परिर्वर्जना के दौरान स्वामी विवेकानंद ने भारतीय

समाज की स्थिति को बहुत करीब से देखा एवं समझा था। किन्तु उन्होंने अन्य समाज सुधारकों की भांति धर्म को इस स्थिति के लिए जिम्मेदार नहीं माना, बल्कि वे तो अद्वैत वेदान्त के सभी आत्माओं की एकता के तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत द्वारा समाज में समता स्थापित किये जाने पर जोर देते रहें। समाज-परिवर्तन में धर्म की इस व्यावहारिक भूमिका के लिए धर्म को केवल सैद्धान्तिक सीमाओं में आबद्ध किये जाने के वह सदा विरोधी रहें। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि— “किसी धर्म के सिद्धांत कितने ही उदात्त एवं उनका दर्शन कितना ही सुगठित क्यों न हो, जब तक वह कुछ ग्रंथों और मतों तक ही परिमित है मैं उसे नहीं मानता”। स्वामी विवेकानंद जी भारतीय समाज में प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने एक आदर्श समाज का चित्रण किया। समाज की व्याख्या करते हुए स्वामी जी कहते हैं— “वही समाज सबसे श्रेष्ठ समाज है, जिस समाज में सर्वोच्च सत्य को कार्य में परिणत किया जा सकता है”।

उनका समाज-दर्शन विभिन्न मूल्यों से परिपूर्ण है। उनके समाज-दर्शन में जहाँ एक ओर हमें मानव-सेवा, समाज-सेवा और देश-सेवा का विशद विवेचन मिलता है, वहीं दूसरी ओर आत्म-लाभ कर वैयक्तिक मोक्ष प्राप्ति का मार्ग निर्देशन भी प्राप्त होता है।

संसार ज्यों-ज्यों आगे बढ़ रहा है त्यों-त्यों जीवन की सामाजिक समस्या गहरी और व्यापक हो रही हैं। दिन-प्रतिदिन यह और भी स्पष्ट हो रहा है कि किसी प्रश्न की मीमांसा सिर्फ जातीय, राष्ट्रिय या किन्ही संकीर्ण भूमियों पर नहीं टिक सकती। हर एक विषय को तथा हर एक भाव को तब तक बढ़ाना चाहिए, जब तक उसमें सारा संसार न आ जाये। हर एक आकांक्षा को तब तक बढ़ाते रहना चाहिए, जब तक वह समस्त मनुष्य जाति को ही नहीं वरन् समस्त प्राणी जगत् को आत्मसात् न कर लें। वेदांत दर्शन ही ऐसी समग्रता प्रदान करता है। इसका समाज में विनियोग आवश्यक है। इस सन्दर्भ में समाज-दर्शन की सामान्य अवधारणा को समझ लेना भी आवश्यक है। समाज-दर्शन दर्शनशास्त्र की एक महत्वपूर्ण शाखा है। समाज-दर्शन व्यक्ति और समाज के विभिन्न संबंधों, विविध सामाजिक क्रिया-कलापों, विविध सामाजिक-सिद्धांतों और विविध सामाजिक-गतिविधियों का सम्यक-रूपेण अध्ययन करता है। समाज सतत् परिवर्तनशील मानव समाज का सम्यक-रूपेण मनन व चिन्तन करता है। समाज-दर्शन, वस्तुतः समाज, सामाजिक मूल्यों व आदर्शों तथा सामाजिक जीवन के तात्त्विक

पक्षों का अध्ययन करता है। इन उच्चतम आदर्शों, सर्वोच्च मूल्यों सर्वमान्य सिद्धांतों की स्थापना करना एवं तदनुरूप समाज के निर्माण की प्रेरणा देना समाज-दर्शन का प्रमुख कार्य क्षेत्र है।

अद्वैत वेदांत दर्शन समस्त अस्तित्व की एकता का उद्घोष करता है। इसकी निष्पत्ति यह है कि मानव मूलतः एक है। इस एकता का आधार मानव का दिव्य स्वरूप है, जो सभी प्रकार के अनुभवों से परे है, जिस पर किसी प्राकर के बंधन लागू नहीं किये जा सकते हैं। अद्वैत वेदांत व्यक्ति-स्वतंत्रता का उद्घोष करता है। भारत में वेदान्त की सामाजिक एकता एवं स्वतंत्रता की मूलभूत शिक्षाओं पर कभी भी समाज-दर्शन का भवन नहीं खड़ा किया गया। यद्यपि कि यह सत्य है कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक कार्य विभाजन एवं नियत भूमिका का महत्वपूर्ण योगदान होता है। लेकिन इसने नाकारात्मक रूप से सामाजिक एकता के आदर्श को खंडित करके सामाजिक विखंडन का मार्ग प्रशस्त किया। 'मानव की एकता' के वेदान्तिक आदर्श से समझौता करते हुए दर्शन एवं समाज के क्षेत्र में 'पारमार्थिक' एवं 'व्यवहारिक' भेद उपस्थित करके, वेदान्त की इन शिक्षाओं को भारतीय समाज में कभी भी लागू नहीं किया। सर्वप्रथम स्वामी विवेकानंद ने अपने समाज-दर्शन में वेदांत की इन शिक्षाओं को समाज में व्यवहृत करने का प्रयास किया। उन्हें 'तत्त्वमसि' जैसे उपनिषदों के महावाक्य में भेदभावरहित नवीन समाज व्यवस्था के बीज दिखाई दिये।

भारत के व्यवहारिक समस्याओं के प्रति स्वामी जी की दृष्टि मूलतः आध्यात्मिक थी। भारत की आम जनता के लिए वह नवीन आर्थिक व्यवस्था एवं नवीन समाज-व्यवस्था चाहते थे। उन्हें इस तथ्य की भली भांति अवगति थी कि स्वतंत्रता एवं सामाजिक न्याय के आदर्शों से प्रेरित राजनैतिक क्रान्ति, आम जनता के लिए स्वतंत्रता एवं सामाजिक न्याय को लाने में विफल हुई है। इन आदर्शों की प्राप्ति का उद्यम जीवन के किसी ऐसे गहरे तत्व या भाव द्वारा प्रेरित होने पर जीवित रहता है, जो किसी तुच्छ कामना, शक्ति की आकांक्षा एवं व्यक्तियों या समूह के आपसी झगड़ों में भी जीवित रहे। वे क्रांतिकारी से क्रांतिकारी राजनैतिक विचारधारा से भी अधिक क्रांतिकारी आदर्श चाहते थे। अपने ज्ञानयोग पर दिये व्याख्यान में वे इसी विचार को प्रस्तुत करते हैं— 'सुधार के लिए हिंसक उपायों का अंत सुधार की ही समाप्ति में हो जाता

है'। वे सुधार में नहीं स्वाभाविक विकास में विश्वास करते थे। वे स्वयं कहते थे कि "मैं सुधार में विश्वास नहीं करता, मैं विश्वास करता हूँ स्वाभाविक उन्नति में। स्वामी जी समाज में आमूल सुधार लाना चाहते थे, इसके लिए उनकी बिल्कुल रचनात्मक योजना थी। समकालीन भारतीय दर्शन में समाज को एक व्यवहारिक प्रयोगशाला के रूप में जाना गया है। स्वामी विवेकानंद ने वेदांत की व्यावहारिकता को सामाजिक सम्बन्धों से जोड़कर जीवन का सर्वांगीण दर्शन प्रस्तुत किया। स्वामी विवेकानंद ही एकमात्र ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने अद्वैत वेदांत दर्शन की यथार्थ और समयानुकूल व्यावहारिक व्याख्या कर उसे राष्ट्रीय एवं सामाजिक धारा से जोड़ा। स्वामी विवेकानंद का विचार था कि जब तक वेदांत को हम व्यावहारिक जीवन में नहीं उतारते, तब तक समाज का कल्याण संभव नहीं है।

शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय का शीर्षक "स्वामी विवेकानंद: एक संक्षिप्त परिचय" है। इस अध्याय में स्वामी विवेकानंद के जीवन से जुड़ी विविध घटनाओं, शिक्षा, श्रीरामकृष्णदेव से उनके मिलन तथा प्रभाव, भारत-परिव्रजना तथा उसके महत्व, शिकागो विश्वधर्म तथा प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृति के समागम, भारत के पुनरोदय की योजना एवं रामकृष्ण मिशन की स्थापना आदि की विवेचना है। इन घटनाओं का महत्व इसलिए है कि इसने उनके समाज-दर्शन की दिशा निर्धारित की।

शोध-प्रबंध के दूसरे अध्याय में विवेकानंद के वेदांत दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या समाहित है। विवेकानंद ने द्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं अद्वैत आदि मतों में इसी क्रम से समन्वय स्थापित किया है। इस समन्वयकारी दृष्टि की अभिनवता को देखते हुए आधुनिक मनीषी उनके दर्शन को 'नव्य-वेदांत' की संज्ञा देते हैं। वेदांत के आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक जोर देने के कारण उनका दर्शन 'व्यावहारिक वेदांत' भी कहलाता है। विवेकानंद सच्चिदानंद ब्रह्म के स्वरूप को समझाते हुए, ब्रह्म को अनंत, एक तथा अविभाज्य के रूप में निरूपित करते हैं। वे ब्रह्म को व्यक्तित्व कहते हुए इसे अपरिणामी निरूपित करते हैं। उनके अनुसार परिवर्तनशील व्यक्तित्व हो ही नहीं सकता, यह स्व-विरोधी वाक्य है। ब्रह्म इन्द्रियों और बुद्धि से परे है। "जो शाश्वत् 'सत्' है, इन्द्रियों और बुद्धि से परे है वह स्वयं ईश्वर ही है"। उनके अनुसार वह निरपेक्ष सत् या ब्रह्म विशुद्ध विज्ञाता है। वह ज्ञान का आधार है, स्वयं ज्ञानस्वरूप है।

विवेकानंद के अनुसार निर्गुण निरपेक्ष ब्रह्म ही प्रेममय भगवान या ईश्वर है। विवेकानंद का निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म का विभाग केवल दृष्टिभेद है। तात्त्विक दृष्टि से जो ब्रह्म है, वही धार्मिक दृष्टि से ईश्वर है। विवेकानंद ने सगुण ब्रह्म को निर्गुण ब्रह्म का आभास मात्र न मानकर, उसे निर्गुण ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वीकार किया है। उनके दर्शन में निर्गुण और सगुण ब्रह्म जैसे दो स्तर नहीं हैं। वस्तुतः जो सगुण ब्रह्म हैं वही निर्गुण ब्रह्म हैं।

‘सच्चिदानंद’ स्वरूप के उनके अर्थ निरूपण में सत् और चित् की अवधारणाएँ प्रायः अद्वैत वेदांत के समान ही हैं। वेदांती सत् का लक्षण त्रिकाल में अबाधित सत्ता से करते हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य में जिसकी सत्ता एक जैसी बनी रहे। हमारे इन्द्रियग्राह्य जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो इस कसौटी पर खरी उतरे। प्रगाढ़ निद्रा में विषयों, इंद्रियों आदि का अनुभव नहीं होता अतः तत्तज्जन्य सुख की उपस्थिति का भी प्रश्न नहीं उठता। किन्तु फिर भी एक प्रकार के आह्लाद का अनुभव सतत होता रहता है। वेदांती इसी इंद्रियातीत सुख को आनंद की संज्ञा देकर इसे जीव, आत्मन् या ब्रह्मन् का स्वरूप निरूपित करते हैं। स्वामी विवेकानंद अपने नव्य वेदांत में, ‘आनंद’ लक्षण का ऐसा अर्थ अभिव्यक्त करते हैं जो अन्यत्र दिखाई नहीं देता। वह आनंद के मूल में ‘प्रेम’ को स्वीकार करते हैं। विवेकानंद के अनुसार “ब्रह्म आनंद है, जो प्रेम के समरूप ही है”। स्वामी विवेकानंद ने ‘आनंद’ के मूल में प्रेम को स्वीकार करके इसकी अद्वैती भावना के अनुरूप अवैयक्तिक, असंवेगात्मक तथा दिव्य संकल्पना को प्रस्तुत किया है।

वस्तुतः विवेकानंद को भी ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य प्रतीत होता है। वह आत्मा एवं जगत् के समान ही साक्षात् अनुभूतिगम्य है। विवेकानंद के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में प्रयुक्त युक्तियों की उपयोगिता कम से कम दो कारणों से है। ईश्वर की अनुभूति हर किसी को हर कभी तो नहीं हो सकती है। इसके लिए तो कई वर्षों की कठोर साधना तथा आत्म-अनुशासन एवं मनन की आवश्यकता पड़ती है। बहुत कम ही लोग इस प्रकार की अनुभूति का दावा कर सकते हैं। अतएव अधिकांश व्यक्तियों के लिए तो इस अनुभूति के लिए प्रारम्भिक अभिरुचि एवं श्रद्धा का आधार होना चाहिए एवं वह प्रारम्भ में उसी प्रकार के विश्वास पर अपना ध्यान केंद्रित कर सकता है, जिसकी प्रामाणिकता प्रस्तुत की जा

सके तथा जिसका आधार बौद्धिक हो। इस कारण से ईश्वर-अस्तित्व के पक्ष में दिए गए तर्कों की उपयोगिता है। विवेकानंद के अनुसार दूसरा कारण यह है कि जिन दृष्टाओं को ईश्वरीय अनुभूति हुई है, वे अनुभव को अन्य तक कैसे पहुँचा सकते हैं। वह तो विशिष्ट प्रकार की अनुभूति है; साधारण दृष्टि से रहस्यात्मक होने से इसे सामान्य भाषा में अभिव्यक्त करना सरल नहीं है। क्योंकि साधारण मनुष्यों के अवबोध के लिए इन अनुभूतियों की यथार्थता एवं प्रामाणिकता को बौद्धिक परिवेश में प्रस्तुत करना पड़ता है। अतएव इन कारणों से इन युक्तियों की उपयोगिता है। स्वामी विवेकानंद ने प्रयोजनात्मक तर्क का कुछ सीमा तक केवल व्यावहारिक महत्व स्वीकार किया है। उनके अनुसार ईश्वर को सृष्टि करने के लिए किसी प्रारूप या पूर्व-योजना की आवश्यकता नहीं है। कार्यकारण भावमूलक तर्क से हम सगुण ब्रह्म की सत्ता का अनुमान कर सकते हैं। अतएव स्वामी विवेकानंद ने कार्यकारण भावमूलक तर्क से ईश्वर के अस्तित्व-सिद्धि को स्वीकृत किया है। विवेकानंद के अनुसार जब तक हमें 'ईश्वर' का ज्ञान या ईश्वरीय अनुभूति प्राप्त नहीं होती, तब तक तो हमें इन शास्त्रों का सहारा लेना ही है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि हम इन शास्त्रों के ईश्वरीय आधार का निषेध कर रहे हैं। विवेकानंद ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए शास्त्रों के उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। वे प्रायः वेद, उपनिषद आदि श्रुति ग्रंथों एवं गीता के वचनों को उद्धृत करते हैं। विवेकानंद के अनुसार अंतःप्रज्ञात्मक प्रमाण सर्वाधिक ठोस प्रमाण है। जब ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव संभव है तब अन्य बौद्धिक प्रमाणों का अधिक महत्व नहीं रह जाता। ऐसे महापुरुषों के जीवन-दृष्टांत दिए जा सकते हैं जिन्हें ईश्वर की साक्षात् अनुभूति हुई है।

विवेकानंद सृष्टि की चक्रक गति, क्रमसंकोच एवं क्रमविकास आदि को मानते हैं। उनके मत में आधुनिक क्रमविकासवादी सिद्धांत सत्य है किंतु अपूर्ण है, क्योंकि इसकी पूर्ववर्ती स्थिति क्रमसंकोच है। विवेकानंद अद्वैत वेदांत के समान ब्रह्म को ही जगत् का मूल कारण मानते हैं। सांख्य के समान वे प्रकृति को जगत् की उत्पत्ति का कारण नहीं मानते। विवेकानंद के अनुसार माया जगत् का यथातथ्य कथन है। जगत् में हमारे अस्तित्व का आधार विरोधों तथा व्याघातों में है। विवेकानंद ने 'मानव के वास्तविक स्वरूप' एवं 'मानव के प्रातिभासिक स्वरूप' की चर्चा की है। स्वामी विवेकानंद को वेदांत की देह और आत्म सम्बंधी सभी अवधारणाएँ मान्य हैं। वे

अपने नव्य-वेदांत में जीव के भौतिक स्वरूप अर्थात् मानव के शरीर की आरोग्यता और सबलता पर अत्यधिक जोर देते हैं। उनके अनुसार दुनिया के सभी व्यक्तियों को मोटे तौर पर चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। कुछ स्वभाव से ही जिज्ञासु प्रवृत्ति के होते हैं। वे सदैव विश्व और अपने अस्तित्व के आगमन और भवितव्य के बारे में चिंतातुर रहते हैं। ऐसे व्यक्ति ज्ञानयोग की साधना के लिए उपयुक्त हैं। कुछ नैसर्गिक रूप से भावनाप्रधान होते हैं। वे बुद्धि से अधिक भाव शक्ति पर निर्भर रहते हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा सौम्य और समर्पणयुक्त होता है कि वे सहज भाव से श्रेष्ठ और पवित्र भावों के समक्ष समर्पण कर देते हैं। ऐसे व्यक्ति भक्तियोग की उपासना के लिए अनुकूल हैं। कुछ व्यक्तियों में महान संकल्पशक्ति के दर्शन होते हैं। ये काल्पनिक विचारों से अधिक व्यावहारिक कर्मों में अपने मन की शक्ति निक्षेपित करते हैं। ऐसे व्यक्ति कर्मों से पलायन नहीं करना चाहते बल्कि उसके स्वरूप को समझकर, अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए कर्मयोग की साधना श्रेयस्कर है। कुछ का स्वभाव, सदैव एकांत में रहकर अंतर्मुखी होकर अपनी प्राण और मनःशक्ति पर ध्यान लगाने का होता है। ऐसे व्यक्ति राजयोग की रहस्य-साधना के लिए उपयुक्त पात्र हैं। विवेकानंद ने इन चारों मार्गों पर समान रूप से अपने विचार व्यक्त किए हैं। वास्तव में उनके ये विचार ही व्यावहारिक वेदांत के कलेवर का निर्माण करते हैं।

तृतीय अध्याय का शीर्षक 'समाज-दर्शन का स्वरूप' है। इसमें समाज के अभिप्राय, उत्पत्ति, भारतीय समाज व्यवस्था, परिवार, कुल-गोत्र, विवाह, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था, वर्ण तथा जाति के मध्य संबंध, आश्रम व्यवस्था, ऋण तथा पुरुषार्थ व्यवस्था, समाज तथा संस्कृति के मध्य संबंध एवं सांस्कृतिक बहुलतावाद पर विमर्श है।

अव्यवस्थित जन समुदाय को भीड़ कहा जा सकता है। भीड़ तो पशुओं की भी हो सकती है। वैयाकरणों ने उसे समज् कहा है। समाज और समज् में अंतर केवल संस्कारों का ही है। 'संगठित समाज और परस्पर व्यवहार करने वाले लोगों का एक समूह है, जो एक निर्दिष्ट जीवन शैली का अनुसरण करता है।' समाज की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक अनुबंध का सिद्धांत, दैवी अनुबंध का सिद्धांत एवं विकासवादी सिद्धांत प्रचलित हैं। दैवी सिद्धान्त की मान्यता है कि समाज की उत्पत्ति भी ईश्वर के द्वारा की गई है क्योंकि वह

सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन करने वाला है। ईश्वर के सृष्टिकर्ता मानने में लोगों में पाप और पुण्य, शुभ और अशुभ की भावना का विकास होता है। सामाजिक अव्यवस्था, अशान्ति और अराजकता पर अंकुश लगाने में इस प्रकार की आस्था एक नैतिक और आध्यात्मिक अंकुश का कार्य करती है। सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धांत के अनुसार समाज वस्तुतः दैवी-इच्छा का परिणाम नहीं है अपितु यह एक सामाजिक अनुबन्ध के द्वारा अस्तित्व में आया जिसे प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्यों ने अपनी इच्छा एवं सहमति से स्थापित किया। समाज की रचना में मनुष्यों की इच्छा का जो महत्व है, उसके एक पक्ष का उद्घाटन ही सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त में हुआ है। वस्तुतः मनुष्य समाज की रचना उन प्रवृत्तियों को लेकर करता है जो उसके स्वभाव में रहती हैं। सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त एक प्रकार का सामाजिक आरंभवाद है तथा इससे समाज की समुचित व्याख्या नहीं हो पाती है। विकासवादी दार्शनिक समाज को ऐतिहासिक संगठन न मानकर प्रगतिशील और विकासशील संगठन मानते हैं।

भारतीय समाज व्यवस्था मुख्यतः वर्णाश्रम व्यवस्था है। यह पुरुषार्थ एवं ऋण व्यवस्था के नैतिक विधान पर कार्य करती है। इसी का विस्तृत विवेचन इस अध्याय में शामिल किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में विवेकानंद के समाज-दर्शन की विवेचना शामिल की गई है। इसमें सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलनों के समाज पर पड़े प्रभाव का विवेचन है। इसमें भक्ति आंदोलन एवं पाश्चात्य देशों के प्रभाव को भी रेखांकित किया जाना है। पुनर्जागरण काल के सुधार आंदोलन ने समाज पर गहरा प्रभाव डाला है। अतएव इसका भी इस अध्याय में विवेचन है। यह विवेकानंद के समाज दर्शन की पृष्ठभूमि है।

स्वामी विवेकानंद के समाज दर्शन के स्रोत मुख्यतः वेद, उपनिषद्, महाभारत, स्मृति एवं सूत्र-साहित्य आदि हैं। ब्रिटिश शासनकाल के समय इतिहास, पुरातत्व एवं समाज दर्शन के क्षेत्र में पाश्चात्य शोध-प्रविधियों का प्रयोग करके जो शोधें हो रही थीं, विवेकानंद उन सभी से भी परिचित थे। इसके अतिरिक्त परिव्राजक के रूप में अपनी भारत परिव्रजना में उन्होंने समाज की यथार्थ स्थिति का साक्षात् परिचय प्राप्त किया था। इस प्रकार उनके समाज दर्शन

के स्रोत या पद्धति को भारतीय ग्रंथों पर आधारित होने से 'इंडोलॉजिकल' तथा यथार्थ निरीक्षण पर आधारित होने से 'आनुभविक' भी कहा जा सकता है।

विवेकानंद के अनुसार समाज का मूल प्रयोजन एवं कार्य मनुष्य की वासना को नियंत्रित करना है। उनके अनुसार 'प्रेम' एवं 'आत्म-त्याग' निष्कामता की प्राप्ति का सबसे सरलतम उपाय है। समाज के द्वारा व्यक्तियों को प्रेम, आत्म-त्याग एवं आत्म-संयम के सद्गुणों का पालन करने की शिक्षा दी जाए है, जिससे की वे अपने दिव्य स्वभाव का साक्षात्कार कर सकें। उनके अनुसार "वही समाज सर्वश्रेष्ठ है, जहाँ सर्वोच्च सत्यों को कार्यरूप में परिणत किया जाता है यदि समाज इन सत्यों को प्रदर्शित करने में सक्षम नहीं है तो उसे जल्दी ही ऐसा करने में सक्षम होना चाहिए"। "समाज में जो कुछ भी शुभ श्रेष्ठ एवं महान् है, वह प्रेम की अभिव्यक्ति है"। समाज का मूल कार्य व्यक्तियों की पाश्विक प्रवृत्तियों को संयमित करके उसे उसके उच्चतर अस्तित्व के प्रति सजग करना है। अतएव समाज में आत्म-संयम का बहुत महत्व है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार "समाज का सम्पूर्ण ताना-बाना आत्म-संयम के विचार पर आधारित है"। वे धर्म को समाज की संघटनात्मक शक्ति निरूपित करते हैं। समाज तो सत्य की प्राप्ति का साधन है। यह अपने आप में साध्य नहीं है। सत्य के प्रति समाज को आदर का भाव प्रदर्शित करना है न कि सत्य को समाज के प्रति समर्पित होना है। इसका कारण यह है कि समाज सदैव परिवर्तनशील है। परिवर्तित समाज कभी भी अपने आप में साध्य नहीं हो सकता है। स्वामी विवेकानंद इस बात पर जोर देते हैं कि समाज का आधार मानव में विद्यमान शुभता है। उनके अनुसार "सारे सामाजिक, राजनैतिक तंत्रों का आधार मानव की शुभता है। कोई भी राष्ट्र इसलिए महान् नहीं है कि संसद अमुक-अमुक विधेयक पारित करती है बल्कि इसलिए कि उसके व्यक्ति अच्छे एवं महान् हैं"।

स्वामी विवेकानंद समाज को स्वतः साध्य नहीं मानते। यह मनुष्य की पूर्णता की प्राप्ति का साधन है। इसीलिए समाज में मनुष्य के व्यवहार का मापदंड सदैव सामाजिक विधान ही नहीं होते बल्कि प्रज्ञा होती है। क्योंकि सत्यता के प्रति समाज को आदर का भाव प्रदर्शित करना होता है। समाज सदैव परिवर्तनशील है। परिवर्तित समाज कभी भी अपने आप में साध्य

नहीं हो सकता है। विवेकानंद के अनुसार सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों के आधार पर ही वर्ण – व्यवस्था का निर्माण हुआ।

पंचम् अध्याय का शीर्षक 'विवेकानंद का वेदान्तिक समाजवाद' है। इसमें सर्वप्रथम, समाज की कुछ पाश्चात्य संकल्पनाओं जैसे यांत्रिक, आण्विक, जैविक आदि का वर्णन शामिल है। तत्पश्चात् समाजवाद, साम्यवाद एवं भारतीय समाजवाद की विवेचना शामिल है। स्वामी विवेकानंद के वेदान्तिक समाजवाद का स्रोत उनका वेदान्त-दर्शन है। वेदान्त के अनुसार सत्, ब्रह्म अथवा वास्तविकता अपरिवर्तनीय है। इसके विपरीत जगत् सापेक्षिक, परिवर्तनशील होने से मिथ्या कहा गया है। समाज भी नित्य परिवर्तित होते हुए विकसित होता है। ऐसे में वेदान्त-दर्शन एवं इससे सम्बन्धित किसी सिद्धांत जैसे वेदान्तिक समाजवाद को उस पर आधारित कैसे माना जा सकता है ? जो लोगों की भौतिक स्थिति को उन्नत बनाने में सचेष्ट है। यदि वेदान्त के अनुसार जगत् मिथ्या है, तो ऐसी कौन सी नैतिक बाध्यता है, जो इसे समाज की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति को परिवर्तित करने के लिए प्रेरित करे। अद्वैत वेदान्त पर आधारित नैतिकता संभव है, यह सामाजिक एवं समाज से पृथक् दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों के आचार का नियमन कर सकती है। मानव मूलतः एक है। इस एकता का आधार मानव का दिव्य स्वरूप है। इसी अध्याय में विवेकानंद के वेदान्तिक समाजवाद के व्यावहारिक पहलुओं जैसे सेवायोग, शिक्षा, नारी सशक्तिकरण, निर्धन सेवा, चिकित्सा तथा धर्म प्रचार आदि का उल्लेख किया गया है।

सामाजिक परिवर्तन की संकल्पना में ही सामाजिक विकास या प्रगति का विचार निहित है। इस अध्याय में रेखीय एवं तरंग या चक्रीय सिद्धांतों की विशद व्याख्या शामिल है। विवेकानंद आध्यात्मिकता एवं भौतिकता की वृहत् तरंगों के माध्यम से विकास की व्याख्या करते हैं। वे क्रमविकास के साथ क्रमसंकोच को भी स्वीकार करते हैं। उनके सिद्धांत का आनुभविक आधार भी उपलब्ध है। उनके अनुसार जातिव्यवस्था का प्राकृतिक आधार भी उपलब्ध है। वे प्रत्येक युग में एक वर्ण का प्रभुत्व स्वीकार करते हैं।

षष्ठम् अध्याय में उनके समाज दर्शन के मुख्य विशेषताओं का उल्लेख है। ये सामाजिक अखण्डता, समता, न्याय एवं बंधुता हैं। विवेकानंद के अनुसार किसी वर्ग को विशेषाधिकार देने और किसी को अधिकारों से वंचित कर देने से ही अस्पृश्यता जैसी सामाजिक बुराईयों का जन्म हुआ है। उनके अनुसार समाज में किसी भी वर्ग को विशेषाधिकार नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग होने के कारण महत्वपूर्ण है। जाति-जाति में भेद का बीज अंकुरित करने वाली व्यवस्था, हर हाल में निन्दनीय और कड़वी है। विश्वबन्धुत्व की भावना करुणा, दया, क्षमा, और अहिंसात्मक विचारों के आधार पर होती है। विवेकानंद के अनुसार, “शिक्षा मनुष्य के भीतर निहित पूर्णता का विकास है”। शिक्षा का भारतीय आदर्श मन का वह नियंत्रण है, जिससे हम उसे जहाँ चाहें ठीक वहीं लगा सकें। एकाग्रता की प्राप्ति उत्तम तो है, पर जब तक उसके साथ हममें अनासक्ति की भी शक्ति नहीं आती, तब तक सम्भव है कि वह हमें कठिनाइयों के आवर्त में डाल दे। स्वामीजी कहते हैं, “तथ्यों के संग्रह को नहीं अपितु एकाग्रता को ही मैं शिक्षा का मूल समझता स्वामी विवेकानंद निर्भीक वेदान्ती थे और वे महिलाओं के अधिकार एवं स्वाधीनता का खुले तौर पर समर्थन करते हैं। स्वामीजी अपने समय की नारी समस्याओं पर चर्चा करते हुए कहा— “परतत्त्व ब्रह्म में लिंगभेद नहीं। हमें ‘मैं-तुम’ की भूमि में लिंगभेद दिखाई देता है”। उन्होंने और भी कहा — “इस देश में पुरुष और स्त्रियों में इतना अन्तर क्यों समझा जाता है, यह समझना कठिन है। वेदान्त शास्त्र में तो कहा है, एक ही चित् सत्ता सर्वभूतों में विद्यमान है”। विवेकानंद के अनुसार मनुष्य का आदर्श मुक्ति या मोक्ष है और इस मोक्ष प्राप्ति का मार्ग सेवा है। पहले के ऋषियों ने कहा था — मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव। स्वामीजी ऋषि थे और ऋषि-परम्परा में उन्होंने नया उपनिषद् देते हुए कहा — दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव, रूग्णदेवो भव — गरीब को देवता समझो, मूर्ख को देवता समझो, रोगी को देवता समझो और देवता समझकर उनकी सेवा करो, उनकी उन्नति का उपाय करो।

अध्याय 1:

स्वामी विवेकानंद : एक संक्षिप्त
परिचय

अध्याय 1: स्वामी विवेकानंद : एक संक्षिप्त परिचय

भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही समय-समय पर महापुरुषों का जन्म होता रहा है, जिन्होंने अपने उच्च विचारों एवं व्यक्तित्व द्वारा समाज में अपनी अलग पहचान बनाकर देश की गरिमा को बढ़ाया है। ऐसे ही एक महान विभूति स्वामी विवेकानंद जी हैं, जिन्होंने न सिर्फ भारत में अपनी छवि बनाई वरन् विदेशों में भी अपने व्यक्तित्व से लोगों को प्रभावित किया। स्वामी विवेकानंद जी भारतीय और विश्व इतिहास के उन महान् व्यक्तियों में से हैं, जो राष्ट्रीय जीवन को एक नई दिशा प्रदान करने में अमृत धारा की भाँति है। स्वामीजी के व्यक्तित्व एवं विचारों में भारतीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ तत्व निहित थे। उनका जीवन भारत के लिए वरदान था। स्वामी जी का सम्पूर्ण जीवन माँ भारती तथा भारतवासियों के सेवा हेतु समर्पित था। स्वामी जी क्रान्ति की नई छवि गढ़ने वाले विचारक एवं भारतीय आध्यात्मिकता के प्रमुख चिन्तक के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

1.1: जीवन-परिचय:—

स्वामी विवेकानंद का जन्म 12 जनवरी 1863 ई. दिन सोमवार, पौष संक्रांति को सूर्योदय के बाद 6 बजकर 49 मिनट पर कलकत्ते के शिमुलिया मोहल्ले में हुआ था। मकर संक्रांति का वह दिन हिन्दू जाति के लिए महान उत्सव का दिन था। उस दिन लाखों की संख्या में भक्तजन माँ गंगा की पूजा अर्पण के लिए जा रहे थे। उस समय उनके घर के समीप ही प्रवाहमान माँ भागीरथी लाखों श्रद्धालुओं की प्रार्थना, पूजन एवं भजन के कलरव से प्रतिध्वनित हो रही थीं।

स्वामी विवेकानंद जी के माता एवं पिता का नाम भुवनेश्वरी देवी एवं विश्वनाथ दत्त था। विश्वनाथ दत्त पाश्चात्य सभ्यता में विश्वास रखते थे। माता भुवनेश्वरी देवी विशेष भक्ति परायण-धर्मप्राण, बुद्धिशील, कार्यकुशल एवं मधुर स्वभाव की थीं। स्वामी विवेकानंद जी के जन्म से पूर्व अन्य धर्मप्राण हिन्दू माताओं के समान माता भुवनेश्वरी देवी ने भी व्रत-उपवास किए थे तथा एक ऐसी सन्तान के लिए प्रार्थना की थी, जिससे उनका कुल धन्य हो जाए।

उन दिनों उनके मन पर 'त्यागीश्वर शिव' ही अधिकार जमाए हुए थे, अतः उन्होंने वाराणसी में रहने वाली अपने रिश्तेदार की एक महिला से वहाँ के 'विरेश्वर शिव' के मन्दिर में विशेष पूजा चढ़ाकर आशीर्वाद माँगने का अनुरोध किया था। स्वामी विवेकानंद का जन्म उन्हीं के आशीर्वाद से हुआ था।

कलकत्ते के जिस दत्त वंश में नरेन्द्रनाथ का जन्म हुआ था, वह अपनी समृद्धि, सहृदयता, पाण्डित्य एवं स्वाधीन मनोवृत्ति के लिए सुविख्यात था। उनके दादा श्री दुर्गाचरण ने अपने प्रथम पुत्र का मुख देखने के बाद ही ईश्वरप्राप्ति की अभिलाषा से गृहत्याग कर दिया था। कहा जा सकता है कि स्वामी विवेकानंद को संन्यास की वृत्ति अपने वंशानुगत संस्कार से प्राप्त हुई थी। उनके पिता श्री विश्वनाथ दत्त कलकत्ता हाईकोर्ट के प्रसिद्ध वकील थे। उन्होंने अँग्रेजी तथा फारसी साहित्य का गहन अध्ययन किया था। उनके मतानुसार बाइबिल तथा हाफिज के काव्य में जगत् के सर्वश्रेष्ठ विचार निहित हैं। वे बहुधा उक्त दोनों ग्रन्थों के उद्धरण दुहराकर अपने मित्रों का मनोरंजन किया करते थे। उत्तर भारत के शिक्षित मुस्लिम समुदाय के साथ घनिष्ठ सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उन्हें इस्लामी संस्कृति का अच्छा ज्ञान था। अनुमान किया जा सकता है कि कालान्तर में स्वामी विवेकानंद जो सभी धर्मों के प्रति सम्मान एवं सहयोग की बात की थी, उसके बीज-वपन हेतु अनुकूल पारिवारिक परिवेश पहले से ही उनके घर में विद्यमान था।

विश्वनाथ दत्त को उनके व्यवसाय से अच्छी-खासी आय हो जाती थी और वे अपने संन्यासी पिता के स्वभाव के बिल्कुल विपरीत सांसारिक जीवन का खूब आनन्द लेते थे। धर्म के मामले में वे अज्ञेयवादी थे और सामाजिक रीति-रिवाजों के प्रति उपहास का भाव रखने के बावजूद उनका हृदय विशाल था। किंतु इसके साथ ही नरेन्द्र के पिता अपनी सन्तानों पर तीक्ष्ण दृष्टि रखते थे और सन्मार्ग से उनका थोड़ा भी विचलित होना सहन नहीं कर पाते थे।

नरेन्द्र की माता भुवनेश्वरी देवी भी एक अलग ही साँचे में ढली थीं। वे देखने में गम्भीर एवं आचरण में उदार थीं तथा प्राचीन हिन्दू परम्परा का पालन करती थीं। पारिवारिक सारे कर्मों का सुन्दर रीति से संचालन करने के पश्चात् भी उन्हें लिखने-पढ़ने, सिलाई-कढ़ाई और

पास-पड़ोसियों के सुख-दुःख सुनने के लिए पर्याप्त समय मिला। वे अल्पभाषिणी, गम्भीर प्रकृति, बातचीत में अत्यन्त मधुर, तेजस्विनी और राजरानी की भांति अत्यन्त गरिमामयी थीं। निर्धनों के लिए वे आश्रय थीं। अपनी ईश्वर-भक्ति, आन्तरिक शान्ति तथा व्यस्तता के बीच तीव्र अनासक्ति के फलस्वरूप वे सबके सम्मान की अधिकारिणी हुई थीं। अपनी सन्तान को सुशिक्षित करने की प्रवृत्ति भी उनमें प्रबल थी। उनकी ही गोद में बैठकर बालक नरेन्द्र ने वंशगौरव पितामह आदि की बातों, भारत के महापुरुषों तथा देवी-देवताओं की महिमा के विषय में जानकारी प्राप्त की थी। माँ के द्वारा ही उनका प्रथम विद्यारम्भ हुआ था।

नरेन्द्र के जीवन में आध्यात्मिक विषयों के प्रति झुकाव बचपन से ही था। रामायण एवं महाभारत आदि धार्मिक ग्रंथों के प्रति उनके आकर्षण को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है —

“आध्यात्मिक विषयों के प्रति उनका अद्भुत आकर्षण था। रामायण और महाभारत के भावप्रवण प्रसंग सुन कर वे मन ही मन रोमांचित हो उठते। उस छोटी सी ही आयु में ध्यान-पूजन व मनन की ओर उनकी विशेष रुचि हो गई थी। प्रायः वे खेल खेल में मित्रों के साथ राम-सीता की मूर्ति के समक्ष ध्यान मग्न हो जाते। माता के द्वारा सुनाई गई रामायण और महाभारत की कहानियों का उनके व्यक्तित्व पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। नरेन्द्रनाथ ने कई बार गर्व के साथ घोषणा की थी, अपने ज्ञान के विकास के लिए मैं अपनी माँ का ऋणी हूँ”।¹

कहा जा सकता है कि नरेन्द्रनाथ के जीवन में उनके ज्ञान विकास एवं उच्च संस्कार के लिए उनकी माँ का बहुत बड़ा योगदान रहा है।

परिवार के धार्मिक एवं आध्यात्मिक वातावरण के प्रभाव से नरेन्द्र के मन में बचपन से ही धर्म एवं अध्यात्म के संस्कार गहरे होते गये। उनमें साहस, परदुःखकातरता एवं संन्यासी जीवन के प्रति तीव्र आकर्षण था। बचपन से ही नरेन्द्र के हृदय में परिव्राजक संन्यासी जीवन के प्रति आकर्षण बना रहा। कभी-कभी तो नरेन्द्र अपनी हथेली की एक रेखा की ओर संकेत करते हुए अपने मित्रों से कहा करते, “मैं अवश्य ही संन्यासी बनूँगा; एक हस्तरेखाविद् ने बताया है”।

नरेन्द्र साधुओं के प्रति बहुत सहृदय थे। बोध या विचारशक्ति के कुछ और बढ़ने के बाद उनमें साधु-संन्यासियों के प्रति एक स्वाभाविक आकर्षण का भाव दिखाई पड़ा। वे साधु-संन्यासियों को देखकर आनन्दित होते एवं उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने में सदैव आनन्द का अनुभव करते थे। उनके आने पर वे उनके निकट दौड़ जाते। कोई उन्हें रोक नहीं पाता, और जो वे पाते उन लोगों को दे देते थे। कभी-कभी तो वे अपने पहने हुए वस्त्र तक दान में दे डालते थे। कभी-कभी पहने हुए वस्त्र को फाड़कर कौपिन पहनकर सुन्दर नरेन्द्रनाथ 'शिव' शिव' कहते हुए ताली बजाकर आँगन में नाचने लगते। उस अद्भुत नृत्य को, उस प्रफुल्ल सुन्दर मुखमण्डल, विभूति-भूषित बाल संन्यासी को अतृप्त नेत्रों से देखती हुई स्नेहमुग्ध माता उन पर अनुशासन करने की बात भूल जाती।

खेल-कूद के प्रति नरेन्द्रनाथ को बचपन से ही एक स्वाभाविक प्रेम था। दूसरे दिन क्या खेलना है इसका प्रोग्राम भी एक दिन पहले ही ठीक कर रखते थे। नरेन्द्र को राजदरबार का खेल बहुत प्रिय था। कभी-कभी वे अपने समवयस्क मित्रों के साथ राजदरबार का खेल खेलते हुए उसमें वे राजा का अभिनय करते तथा उनके अन्य मित्रगण मंत्री, सेनापति, तथा अन्य अधिकारी बन जाते। नरेन्द्र जब खेलते तब और किसी बात का होश नहीं रहता। मार्बल, दौड़ादौड़ी, घूँसेबाजी आदि उनके सर्वाधिक प्रिय खेल थे। इसके साथ ही साथ कभी नाटक मण्डली की स्थापना, तो कभी व्यायामशाला का आयोजन, लाठी चलाना, नाव खेना आदि खेलों में भी नरेन्द्र की विशेष रुचि थी।

इन प्रारम्भिक वर्षों में नरेन्द्र ने अपने प्रतिभाशाली पिता एवं माता से बहुत कुछ सीखा। उन्हें नियंत्रण में लाने के लिए पिता का अपना अलग ही तरीका था। यथा, एक बार जब नरेन्द्र ने नाराज होकर अपनी माँ को कठोर अपशब्द कह दिए और इसकी शिकायत पिता के पास पहुँची, तो विश्वनाथ दत्त ने पुत्र की डाँट-फटकार तो नहीं कि, परन्तु जिस कमरे में वे अपने साथियों के साथ गपशप किया करते थे, उसके दरवाजे के ऊपर की दीवाल पर लिख दिया, "नरेन बाबू ने आज अपनी माँ से ऐसी-ऐसी बातें कही हैं"। उस जगह पर नरेन्द्र द्वारा कहे गये शब्दों को अंकित कर दिया, जिससे उनके मित्र आसानी से उसे पढ़ सकें। उनका

उद्देश्य था इससे लज्जित और दुःखी होकर नरेन्द्र इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करना बन्द कर देंगे।

नरेन्द्र के भावी उतार-चढ़ावपूर्ण जीवन में उनके पिता द्वारा दिये गए बहुमूल्य परामर्श काफी सहयोगी सिद्ध हुए। यह दोनों के निम्नलिखित संवाद से स्पष्ट होता है —

“संसार में किस प्रकार का आचरण करना उचित है, पिता ने उत्तर दिया — “कभी भी किसी विषय में झुकना नहीं”। यह बहुमूल्य परामर्श नरेन्द्र के भावी उतार-चढ़ावपूर्ण जीवन में काफी सहयोगी सिद्ध हुआ। इस सुझाव की सहायता से ही नरेन्द्रनाथ भविष्य में राजमहल और दरिद्र की कुटिया दोनों जगहों पर समान रूप से अपने मन का सन्तुलन बनाये रख पाने में सक्षम हो सके थे”।²

माता भुवनेश्वरी देवी भी नरेन्द्र में निहित सद्गुणों की अभिव्यक्ति में सहायक हुई थी। एक दिन विद्यालय के किसी शिक्षक ने यह सोचकर कि नरेन्द्र ने भूगोल के पाठ में गलती की है उन्हें अनुचित रूप से दण्ड दिया। घर लौटकर जब नरेन्द्र ने अपनी माँ से बताया कि विद्यालय में उनके साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार हुआ है, तो स्नेहमयी माता भुवनेश्वरी देवी बालक को दिलासा देते हुए उन्हें सत्य का कभी भी त्याग न करने की शिक्षा दी।³

जाँच किए बिना कभी किसी की बात पर विश्वास न करना। बिना प्रत्यक्ष प्रमाण के किसी बात पर विश्वास कर लेना नरेन्द्र नहीं जानते थे। नरेन्द्र इसी भाव की प्रेरणा से प्रेरित होकर सत्य की प्राप्ति के लिए साधना में प्रवृत्त हुए थे।

नरेन्द्रनाथ के जीवन पर मुसीबतों का पहाड़ उस समय टूट पड़ा जब उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। उस समय नरेन्द्र बी.ए. की परीक्षा में द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए थे। पिता का श्राद्ध कर्म आदि करने के उपरान्त नरेन्द्रनाथ को पता चला कि उन लोगों की आर्थिक स्थिति भयावह है। पिता विश्वनाथ दत्त कोमल एवं उदार स्वभाव के होने के कारण अपनी आय से अधिक व्यय करते थे तथापि वे अपने परिवार एवं बच्चों के लिए कुछ भी नहीं रख पाए। सहसा उनके निधन से उनके परिवार पर काफी कर्ज का भार आ पड़ा। पिता की मृत्यु के बाद की उनकी मनोदशा को उन्हीं के शब्दों में—

“मातम की अवधि समाप्त होने के पहले ही मुझे नौकरी का दरवाजा खटखटाना पड़ा। चिलचिलाती धूप में भूखे पेट और नंगे पाँव, और हाथ में आवेदन पत्र लिए। मैं एक दफ्तर से दूसरे दफ्तर में घूमता रहा। मेरे एक दो घनिष्ठ मित्र, जिन्हें मेरे दुर्भाग्य के साथ संवेदना थी, कभी—कभी मेरे साथ हो लेते। मगर प्रत्येक स्थान पर मेरे लिए द्वार बंद था। जीवन की इस वास्तविकता के प्रथम सम्बन्ध ने मुझे अच्छी तरह समझा दिया है, कि संसार में निःस्वार्थ सहानुभूति एक दुर्लभ वस्तु है। यहाँ दीन, दुःखी और निर्बलों के लिए कोई स्थान नहीं है। मैंने देखा कि जो लोग पहले मुझे बड़े अभिमान से किसी भी प्रकार की सहायता देते, उन लोगों ने भी मुँह मोड़ लिया। यद्यपि उनके पास देने को बहुत कुछ था, इन सबको देखकर कभी—कभी मुझे दुनियाँ एक शैतान का घर मालूम पड़ती”।⁴

इन विषम परिस्थितियों के समय नरेन्द्र को एहसास हुआ कि ईश्वर की सत्ता से उनका विश्वास उठता जा रहा है। किन्तु कुछ ही दिनों बाद नरेन्द्र के मन में विचार आया कि श्रीरामकृष्ण जी की बात तो ईश्वर सुनते हैं, क्यों न श्रीरामकृष्ण जी से ही कहा जाये शायद वे काली माँ से प्रार्थना कर दें, जिससे परिवार की गरीबी मिट जाये। अतः वे दक्षिणेश्वर पहुँचे और श्रीरामकृष्ण जी के चरण पकड़कर उन्होंने कहा, “माँ—भाईयों का कष्ट दूर करने के लिए आपको माँ जगदम्बा से प्रार्थना करनी ही होगी”। किन्तु बार—बार प्रार्थना करने के बाद भी त्याग, विवेक एवं वैराग्य के अतिरिक्त माँ काली से अन्य कुछ माँग नहीं सके।⁵

ठाकुर ने उन्हें समझाया कि सांसारिक सुखभोग उनके भाग में नहीं है। तथापि उन्होंने दिलासा देते हुए कहा कि उनके परिवार को साधारण अन्न—वस्त्र का अभाव नहीं रहेगा। रामकृष्ण के इस आश्वासन से नरेन्द्र ने स्वयं को एक दूसरे ही भावालोक में पाया। वे काली माँ की प्रतिमा में मातृत्व के साक्षात् दर्शन का अनुभव करने लगे थे।

इस घटना ने नरेन्द्र के मन पर गहरा छाप छोड़ा, जिससे नरेन्द्रनाथ को ईश्वर तथा अपने जागतिक कार्यों के बारे में एक नवीन दृष्टिकोण प्राप्त हुआ, जिसके परिणामस्वरूप उनका आध्यात्मिक जीवन अधिकतर पूर्ण और व्यापक हो गया। इसके पूर्व उनकी ईश्वर सम्बन्धी धारणा एक अस्पष्ट निराकार सत्ता अथवा एक जगदातीत सृष्टिकर्ता तक ही सीमित

थी। वे दृश्य जगत् को सत्य मानते थे, पर काली को अस्वीकार करते थे। वे भूख-प्यास, दुःख-सुख तथा जगत् की अन्य विशिष्टताओं का बोध करते थे, परन्तु इन शक्तियों को संचालित करने वाली जगदम्बा को न मानते थे। परन्तु उस मंगलवार की रात को उनकी आँखों के सामने से पर्दा हट गया। उन्होंने काली को जगदम्बा के रूप में स्वीकार किया और उनके अनुरक्त भक्त हो गये। अब उन्हें ज्ञात हुआ कि ईश्वर अपनी सम्पूर्ण सृष्टि में ओत-प्रोत है और इस जगत् को अपने भीतर से निर्माण करने के पश्चात् वे व्यक्त तथा अव्यक्त सभी वस्तुओं में जीवन तथा चेतना के रूप में प्रविष्ट हो गये हैं।

रामकृष्ण की आध्यात्मिक पाठशाला में ही गढ़कर, वह नरेन्द्रनाथ से आध्यात्मिक अनुभूतिसम्पन्न स्वामी विवेकानन्द हुए। शुरू में नरेन्द्रनाथ काली कृष्ण आदि देवी-देवताओं को नहीं मानते थे और अद्वैतवाद को भी स्वीकार नहीं करते थे। “सभी ब्रह्म हैं” – उपनिषद् के इस कथन का तिरस्कार किया करते थे। किन्तु श्रीरामकृष्ण के दिव्य स्पर्श से उनकी चेतना में परिवर्तन हुआ और वह अद्वैतवाद में आस्थावान हो गए। श्रीरामकृष्ण ने विभिन्न रीतियों से उनको शिक्षा प्रदान की। सर्वधर्म समन्वय, धार्मिक स्वतंत्रता, धार्मिक सहिष्णुता, सगुण-निर्गुण ईश्वर की एकता और ईश्वर भाव से जीव (मानव) सेवा आदि मुख्य धार्मिक शिक्षाओं को स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरुदेव से ही ग्रहण किया। गुरु के निर्वाण के बाद उन्होंने अखंड भारत की परिव्रजना की। भारत की तत्कालीन निर्धन स्थिति और उनकी भौतिक सुविधाओं में वृद्धि की आवश्यकता को समझा। अपने गुरु के सर्वधर्म समन्वय के आध्यात्मिक उपदेश को प्रचारित करने का दायित्व भी उनके कंधों पर था। उनको इसके लिए सुयोग भी मिल गया। सितम्बर सन् 1893 में शिकागो (अमेरिका) में विश्वधर्म सम्मेलन का आयोजन हुआ। स्वामी विवेकानन्द ने इसमें हिंदू धर्म का प्रतिनिधित्व करके वेदांत धर्म-दर्शन का सफलतापूर्वक प्रचार किया। इनसे भारत के सम्बंध में प्रचलित भ्रांत धारणाओं का निर्मूलन हुआ।

उन्होंने पश्चिम की दो बार यात्राएँ कीं : पहली सन् 1893 में तथा दूसरी सन् 1897 में। सन् 1897 में अपनी प्रथम भारत वापसी पर दिए गए उनके व्याख्यान भारत के सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं।

उपर्युक्त ओजस्वी संदेशों का राष्ट्रीय और सार्वभौमिक महत्व था। आगामी राष्ट्रसेवकों ने इससे प्रेरणा ली और आध्यात्मिक जिज्ञासुओं ने 'दरिद्रनारायण-सेवा' के मंत्र को शिरोधार्य किया। रामकृष्ण मिशन के रूप में, आध्यात्मिक मुक्ति और समाजसेवा का एक सुदृढ़ यंत्र निर्मित करके, जब योग विधि से उन्होंने 4 जुलाई सन् 1902 को देह त्यागी तब उनकी आयु 40 वर्ष भी पूरी न हो पायी थी।

1.2: शैक्षणिक-विवरण:-

नरेन्द्र अर्थात् 'स्वामी विवेकानंद' बाल्यकाल से ही अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि के थे। नरेन्द्र ने प्रारम्भिक शिक्षा में अपनी माँ से बहुत कुछ सीखा। रामायण, महाभारत एवं अन्य पौराणिक कथाएँ वे अपनी माता जी से सुना करते थे।

नरेन्द्र को लिखने-पढ़ने के लिए अत्यधिक समय नहीं लगाना पड़ता था। उनकी प्रतिभा के हिसाब से नित्य एक-दो घण्टे पढ़ लेना ही काफी था। बाकी समय वह अपने साथियों के साथ खेलने एवं नये-नये क्रीड़ा-कौतुक के आविष्कार में व्यस्त रहते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में भारत में अँग्रेजी शिक्षा का सूत्रपात हुआ था तथा भारतीय विश्वविद्यालयों एवं शिक्षा संस्थानों में पाश्चात्य विज्ञान, इतिहास एवं दर्शनशास्त्र की पढ़ाई होने लगी थी। शिक्षित हिन्दू नवयुवक पाश्चात्य चकाचौंध से सम्मोहित होकर अपनी विचारधारा गढ़ने लगे थे। नरेन्द्र भी इस प्रभाव से बच नहीं सके। विश्लेषणात्मक वैज्ञानिक पद्धति के प्रति उनकी असीम श्रद्धा थी और वे श्रीरामकृष्ण की दिव्य अनुभूतियों को इसी कसौटी पर कसते थे। वर्ड्सवर्थ, शेली आदि अँग्रेज कवि उनकी भावनाओं को उभार देते।⁶

नीरस पढ़ाई में नरेन्द्र को ज्यादा रुचि न थी। फिर वे ग्रन्थपाठ द्वारा ज्ञानार्जन की अपेक्षा प्रत्यक्ष अनुभव एवं अपरोक्षानुभूति को अधिक महत्त्व देते थे। वे जीवन एवं विचार के द्वारा विचार का प्रज्वलित होना अधिक पसन्द करते थे। उन्होंने अपने कॉलेज के एक मित्र ब्रजेन्द्रनाथ शील की सहायता से — जो उक्त शैली के बहुदेववाद, निराकार प्रेम तथा मानवतावाद की धारणाओं पर अनुरक्त थे — शेली का अध्ययन किया। आगे चलकर ब्रजेन्द्रनाथ अपने काल के प्रमुख दार्शनिक हुए थे। अब नरेन्द्र को यह ब्रह्माण्ड एक निर्जीव, निर्मम

यन्त्रमाला के स्थान पर एकत्व के आध्यात्मिक सिद्धान्त पर आधारित प्रतीत होने लगा। इसके अतिरिक्त ब्रजेन्द्रनाथ ने उनके समक्ष वेदान्त के ब्रह्म, हेगल की सार्वलौकिक प्रज्ञा तथा फ्रांसीसी क्रांति के स्वाधीनता, समानता एवं बन्धुत्व के सन्देश का परस्पर सामंजस्य प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

संगीत के किसी भी अन्य प्रकार की तुलना में ध्रुपद के प्रति स्वामी जी का बड़ा सम्मान का भाव था। कालान्तर में उनके द्वारा व्यक्त निम्नलिखित उद्गारों से भी उनका यह सम्मान प्रदर्शित होता है –

“जिन सब गीत-वाद्यों से मनुष्य के हृदय के कोमल भावसमूह उद्दीप्त हो जाते हैं, उन सबको अब थोड़े दिनों के लिए बन्द रखना होगा। खयाल-टप्पा बन्द करके ध्रुपद का गाना सुनने का अभ्यास लोगों को कराना होगा। वैदिक छन्दों के उच्चारण से देश में प्राण संचार कर देना होगा”।⁷

ध्रुपद के प्रति उनके सम्मान का कारण उसमें निहित विज्ञान था। वे संगीत में भाव को बहुत अधिक महत्व देते थे। वे लोग संगीत के माधुर्य एवं शास्त्रीय संगीत की वैज्ञानिकता के समन्वय के अभिलाषी थे। उनके निम्नलिखित कथनों से यह प्रमाणित होता है –

“ध्रुपद और खयाल आदि में एक विज्ञान है। किन्तु कीर्तन अर्थात् माथुर और विरह तथा ऐसी अन्य रचनाओं में ही सच्चा संगीत है, क्योंकि वहाँ भाव है। भाव ही आत्मा है, प्रत्येक वस्तु का रहस्य है”।⁸

“बहुत से लोग सोचते हैं कि भाव मात्र ही संगीत है, पर ऐसी बात नहीं। दूसरी ओर, भावविहीन परन्तु केवल व्याकरण शास्त्र पर आधारित शब्दों की कसरत भी संगीत नहीं है।.... लोकगीतों की मधुरता, शास्त्रीय संगीत का विज्ञान और कीर्तन का भाव – इन्हें मिलाने से ही आदर्श संगीत की सृष्टि होगी”।⁹

युवक नरेन्द्र के व्यक्तित्व के गठन में कई उपादान कार्यशील थे। इसमें प्रमुख थी उनकी जन्मजात आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ, जो श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आकर अभिव्यक्त होने

लगी थीं, परन्तु उनका युक्तिपरक मन इनके खिलाफ तीव्र विद्रोह करता था। दूसरा उपादान था – उनके उच्च विचार एवं सत्कर्म का अभ्यास, जो उन्हें भारत की आध्यात्मिक संस्कृति में पली अपनी माता से विरासत में मिला था। तीसरा था – उनका उदार दृष्टिकोण, सत्य के प्रति सम्मान का भाव – चाहे वह कहीं से भी क्यों न मिले – चौथा था तत्कालीन हिन्दू धर्म के विश्वासों एवं सामाजिक रीति-रिवाजों के प्रति उनका समालोचनात्मक दृष्टिकोण। ये चीजें उन्होंने अपने आंग्लशिक्षा प्राप्त पिता से सीखी थीं और ये उनके पाश्चात्य सभ्यता के साथ सम्पर्क में आने पर और भी दृढ़ हो गई थीं।

विवेकानंद जी ने न सिर्फ भारतीय शास्त्रों का अध्ययन किया वरन् पाश्चात्य विचारों से भी अपना परिचय बढ़ाया। उनकी प्रारम्भिक मानसिकता एक बौद्धिक विचारक तथा संशयवादी दोनों के अंशों के साथ सर्जित हुई।

1.3: रामकृष्ण का स्वामी विवेकानंद पर प्रभाव:—

युवक नरेन्द्र के व्यक्तित्व के गठन में कई उपादान कार्यशील थे। इसमें प्रमुख थी उनकी जन्मजात आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ, जो श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आकर अभिव्यक्त होने लगी थीं, परन्तु उनका युक्तिपरक मन इनके खिलाफ तीव्र विद्रोह करता था। दूसरा उपादान था – उनके उच्च विचार एवं सत्कर्म का अभ्यास, जो उन्हें भारत की आध्यात्मिक संस्कृति में पली अपनी माता से विरासत में मिला था। तीसरा था – उनका उदार दृष्टिकोण, सत्य के प्रति सम्मान का भाव – चाहे वह कहीं से भी क्यों न मिले – चौथा था तत्कालीन हिन्दू धर्म के विश्वासों एवं सामाजिक रीति-रिवाजों के प्रति उनका समालोचनात्मक दृष्टिकोण। ये चीजें उन्होंने अपने आंग्लशिक्षा प्राप्त पिता से सीखी थीं और ये उनके पाश्चात्य सभ्यता के साथ सम्पर्क में आने पर और भी दृढ़ हो गई थीं।

कॉलेज में पढ़ते समय ही नरेन्द्र ने श्रीरामकृष्णदेव का नाम सुना था। एक दिन अंग्रेजी साहित्य के अध्यापक किसी कारणवश क्लास में अनुपस्थित थे। अतएव कॉलेज में प्राचार्य सुपण्डित विलियम हेस्टी छात्रों को वर्ड्सवर्थ की कविता पढ़ा रहे थे। पाठ्य कविता थी – 'एक्स्कर्शन'। उस कविता में कवि बता रहे हैं कि किस प्रकार प्रकृति के सौन्दर्य का ध्यान

करते—करते उनका मन एक अतीन्द्रिय लोक में चला जाता था। वे समझाना चाहते थे, किसी विशेष वस्तु पर ध्यान केंद्रित करने से मनुष्य अपनी सुध—बुध भी खो देता है। किन्तु छात्रगण अनुभूत तत्व की धारणा नहीं कर पा रहे हैं — यह देखकर हेस्टी महोदय ने समझाते हुए कहा—

“मन की पवित्रता और विषय—विशेष के प्रति एकाग्रता के फलस्वरूप इस प्रकार की अनुभूति होती है। निश्चय ही यह दुर्लभ है, विशेषकर आधुनिक काल में। मैंने ऐसे मात्र एक व्यक्ति को देखा है जो मन की इस अत्यन्त मंगलमय अवस्था में उपनीत हुए हैं। वे हैं दक्षिणेश्वर के श्रीरामकृष्ण परमहंस। तुम लोग वहाँ जाकर स्वयं देख आने पर इसे समझ सकोगे”।¹⁰

श्रद्धापूर्ण हृदय से नरेन्द्र बीच—बीच में महर्षि के घर जाते तथा अपने घर में नियमित ध्यान किया करते। उन दिनों नरेन्द्रनाथ ने ध्यान में अधिक मन लगाया था। किन्तु प्राणों की पिपासा मिटती नहीं थी। अभाव—जनित यह असन्तोष जब असह्य हो गया तब वे एक दिन आवेग से भरकर महर्षि के पास चले — आज चरम प्रश्न पूछकर उसका उत्तर प्राप्त करना ही होगा। अपने हृदय की इस व्याकुलता से प्रेरित होकर वे ब्रह्मसमाज के माननीय नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के पास गए और वे कुछ कह पाएँ इसके पूर्व ही नरेन्द्र ने पूछा, “महाशय, क्या आपने भगवान को देखा है” ? देवेन्द्रनाथ संकोच में पड़ गए और उन्होंने इतना ही कहा, “बच्चा, तुम्हारी आँखें योगियों की भाँति हैं”।

अपने प्रयास में विफल नरेन्द्र फिर कोलाहलमयी महानगरी के एक कोने में स्थित अपने घर लौट आये। महर्षि से प्राणों की लालसा नहीं मिटी। इसके बाद दूसरे किसी—किसी धर्मगुरु के समक्ष भी उन्होंने यही एक प्रश्न रखा — “क्या आपने भगवान को देखा है ?” किन्तु सभी मौन रहे। अब क्या होगा ? ऐसे ही समय दक्षिणेश्वर के उन्हीं परमहंस श्रीरामकृष्ण की स्मृति मन में हो आयी। उनसे मिलने का भी एक अप्रत्याशित सुयोग उपस्थित हो गया।

1881 ई. के नवम्बर महीने में नरेन्द्रनाथ जब एफ. ए. की परीक्षा देने के लिए प्रस्तुत हो रहे थे उसके पहले से ही सिमुलिया के श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ मित्र ने दक्षिणेश्वर आना—जाना शुरू

कर दिया था। उन्होंने एक दिन अपने घर पर भक्तों के साथ श्रीरामकृष्ण को आमन्त्रित कर एक लघु उत्सव का आयोजन किया। उस दिन उत्सव में अच्छे गायक की आवश्यकता थी। मुहल्ले के उदीयमान सुकण्ठ गायक नरेन्द्रनाथ सुरेन्द्रनाथ के परिचित थे। अतः सुरेन्द्र ने उन्हें ही बुलावा भेजा। नरेन्द्र ने सन्देश पाया कि दक्षिणेश्वर के श्रीरामकृष्ण को गीत सुनाने होंगे – वे ही परमहंस रामकृष्ण जिनकी प्रशंसा हेस्टी साहब के मुँह से उन्होंने सुनी थी तथा जो सम्भवतः उसी उत्तरहीन जिज्ञासा का समाधान कर सकेंगे।¹¹

नरेन्द्र सहमत हो वहाँ गए और कलाविद की भाँति सुन्दर सधे हुए कण्ठ से सुर ताल लय के साथ भजन सुनाकर सब को परितृप्त कर दिया। नवागत शारीरिक लक्षण, भावतन्मयता आदि सब कुछ को श्रीरामकृष्ण ने लक्ष्य किया तथा उस प्रथम मिलन में ही उनकी ओर आकृष्ट हुए। भजन समाप्त होने पर स्वयं युवक की बगल में आकर उनके शारीरिक लक्षणों का निरीक्षण करने के बाद सन्तुष्ट होकर उन्हें एक दिन दक्षिणेश्वर बुलाया।

कुछ ही समय के पश्चात् एफ. ए. की परीक्षा हो गई और नरेन्द्र द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। उसी समय एक धनी परिवार से विवाह का प्रस्ताव आया। लडकी साँवली थी, अतः कन्यापक्ष के लोग दस हजार रुपये दहेज में देने को तैयार थे। विश्वनाथ बाबू को भी यह प्रस्ताव स्वीकार कर लेने योग्य लगता था। किन्तु नरेन्द्रनाथ ने विवाह करने से असहमति प्रकट की। तब विश्वनाथ के अनुरोध पर रामचन्द्र तथा अन्य आत्मीय बन्धुओं ने नरेन्द्र को कई तरह से समझाया। किन्तु नरेन्द्र का विचार नहीं बदला। रामबाबू ने समझा कि धर्मभाव की प्रेरणा ही नरेन्द्र की इस असहमति का कारण है। रामबाबू पहले से ही श्रीरामकृष्ण के प्रति आकृष्ट हो दक्षिणेश्वर जाया-आया करते थे तथा अपने आत्मीय एवं मित्रों को भी वहाँ ले जाते अथवा जाने का परामर्श देते थे। अतः नरेन्द्र को भी स्पष्ट रूप से कहा, “यदि धर्मलाभ करना ही तुम्हारी वास्तविक इच्छा है तो ब्रह्मसमाज आदि स्थानों पर नहीं जाकर दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के पास चलो”। पड़ोसी सुरेन्द्रनाथ ने भी एक दिन उन्हीं की गाड़ी से दक्षिणेश्वर जाने की इच्छा व्यक्त की। प्रस्ताव स्वीकार कर नरेन्द्रनाथ दो समवयस्क मित्रों एवं सुरेन्द्रनाथ के साथ घोड़ागाड़ी से दक्षिणेश्वर पहुँचे।

श्रीरामकृष्ण परमहंस ने तो प्रथम भेंट में ही अपनी सूक्ष्म दृष्टि से निकटतम शिष्य को पहचान लिया था। श्रीरामकृष्ण के समीप कई बालक, युवक और वृद्ध बैठे थे। ठाकुर ने नरेन्द्र से जिज्ञासा की, “क्या तू सोने से पहले कोई ज्योति देखता है” ? नरेन्द्र ने उत्तर दिया, “जी हाँ” ! इस पर ठाकुर बोले, “वाह, सब मिल रहा है। यह ध्यानसिद्ध है — जन्म से ही ध्यानसिद्ध है”। नरेन्द्र बैठे बैठे सब कुछ लक्ष्य करने लगे। उन्होंने देखा कि ठाकुर की चाल ढाल, बातचीत और दूसरों से व्यवहार में उन्माद जैसा कुछ भी नहीं है। वरन् उनकी सत्कथा एवं भावसमाधि को देखकर नरेन्द्र में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि ये सचमुच ही ईश्वर के लिए सर्वस्वत्यागी हैं तथा ये मुख से जो कुछ कहते हैं, उसका स्वयं अनुष्ठान भी करते हैं। ये अत्यन्त सहज सरल भाषा में उच्च आध्यात्मिक बातें कहते हैं; इसीसे नरेन्द्र को लगा— “ये सम्भवतः सचमुच एक ऊँचे सत्यद्रष्टा महापुरुष हैं!”¹²

अतएव जो प्रश्न आज तक वे धर्माचार्यों से पूछते आये हैं, वही प्रश्न लेकर उनकी ओर आगे बढ़े और जिज्ञासा की, “महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है” ? सदा की भाँति नकारात्मक उत्तर पाने वाले नरेन्द्र ने आज कुछ दूसरा ही उत्तर पाया— हाँ, मैंने उसे देखा है। ठीक उसी तरह मैं तुम्हें देखता हूँ। बल्कि इससे तीव्र अनुभूति में, तुम ईश्वर को अनुभव कर सकते हो। कोई उसे देख सकता है, उससे बातें भी कर सकता हूँ, जैसे अभी मैं तुमसे कर रहा हूँ, मगर इसकी गरज किसे है ? लोग अपनी धन-दौलत व बच्चों के लिए तो खूब आँसू बहाते हैं, परंतु प्रभु के लिए ऐसा कौन करता है ? यदि प्रभु के लिए भी कोई सच्चे हृदय से रोए तो वे अवश्य प्रकट होते हैं।¹³

नरेन्द्रनाथ दत्त ने रामकृष्ण व्यक्तित्व को निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है —

“उनके श्रीमुख से ऐसी बातें सुनकर मुझे लगा कि अन्य धर्म प्रचारकों की तरह वे कल्पना या रूपक का सहारा लेकर व्याख्यान नहीं देते, यथार्थ में ही सब कुछ छोड़कर सम्पूर्ण मन से ईश्वर को पुकारकर जो कुछ प्रत्यक्ष अनुभव किया है, वही कह रहे हैं”।¹⁴

धीरे-धीरे नरेन्द्र को रामकृष्ण के संपर्क से मानसिक शांति मिलने लगी। कलकत्ता से दक्षिणेश्वर आना सहज न था। वे सप्ताह में एक बार ही वहाँ जा पाते थे। रामकृष्ण स्वयं को

इस अवधि में व्याकुल अनुभव करते थे। नरेन्द्र अक्सर गुरु की शिक्षा पद्धति को नकार देते, किंतु रामकृष्ण शांत भाव से उनकी सभी शंकाओं का समाधान कर देते।

श्रीरामकृष्ण एक सिद्धहस्त गुरु थे, अतः अधिकारी के अनुसार वे भिन्न प्रकृति के शिष्यों को भिन्न प्रकार की साधनाओं का उपदेश देते थे। नरेन्द्र के लिए उन्होंने न तो भोजन के कठोर नियमों पालन करने पर बल दिया और न ही हिन्दू देवी-देवताओं में विश्वास करने को कहा। नरेन्द्र के दर्शनपरक मन को प्रतिक पूजा की आवश्यकता न थी। परन्तु उनके विवेक, वैराग्य, संयम तथा ध्यान की साधना पर ठाकुर द्वारा तीक्ष्ण दृष्टि रखी जाती थी। अन्धविश्वास एवं मतान्धता पर नरेन्द्र का अन्य भक्तों के साथ प्रबल तर्क शुरू करवा कर, वे आनन्दपूर्वक देखते कि किस प्रकार उनके तर्कों को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। परन्तु जब उन्होंने देखा कि सौम्य राखल को माँ काली के प्रति समन प्रदर्शित करते देख नरेन्द्र ने उन्हें धिक्कारा, तो उन्होंने इसे सहन नहीं किया और नरेन्द्र को इस कार्य से विरत होने को कहा।

ब्रह्मसमाज के सदस्य के रूप में नरेन्द्र की एकेश्वरवाद तथा सगुण ब्रह्म में निष्ठा थी। वे मानव के जन्मजात पाप में भी विश्वास रखते थे। अद्वैत दर्शन में निरूपित आत्मा के दिव्यत्व एवं अस्तित्व के अखण्डत्व के सिद्धान्त उनके लिए ईशनिन्दा के समान थे। ईश्वर एवं जीव के अभेदत्व का विचार उन्हें कपोल-कल्पना सा लगता था।

किंतु एक दिन जब श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र का स्पर्श कर गहन समाधि में डूब गए तो उनके स्पर्श ने जादू सा असर किया और नरेन्द्र को चेतना के एक नए जगत् की अनुभूति होने लगी। वे देखने लगे कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही ब्रह्म से ओत-प्रोत है। भावावस्था में वे घर लौटे। भोजन करते समय भी उन्हें सभी वस्तुओं में ब्रह्मानुभूति होने लगी। रास्ता चलते उन्होंने देखा कि गाड़ियाँ, घोड़े, भीड़-भाड़ और वे स्वयं भी मानो एक ही तत्त्व के बने हैं। कुछ दिनों बाद उनकी तीव्रता क्रमशः थोड़ी कम हुई, परन्तु अब भी वे जगत् को मात्र एक स्वप्न के समान ही देख पाते थे। कलकत्ते के सार्वजनिक पार्क में घूमते हुए कई बार उन्होंने वहाँ के रेलिंग पर सिर ठोककर देखा कि सचमुच ही उसका अस्तित्व है अथवा वह मन की कल्पना मात्र है।

इस बार उन्हें अद्वैत की झलक भर ही मिली थी, जिसकी पूर्ण अनुभूति उन्हें परवर्ती काल में काशीपुर में होने को थी।

उन दिनों रामकृष्ण परमहंस के प्रति लोगों की श्रद्धा थी। नरेन्द्रनाथ ने भी उनके सत्संग से लाभ उठाना आरम्भ किया। धीरे-धीरे नरेन्द्र उनके उपदेशों से अत्यन्त प्रभावित हुए और उनकी भक्तमण्डली में सम्मिलित हो गए। फिर उन्होंने सच्चे गुरु से अध्यात्म तत्त्व और वेदान्त-रहस्य स्वीकार कर अपनी जिज्ञासा की तृप्ति की। रामकृष्ण वैज्ञानिक परीक्षण वृत्ति को बहुत अधिक महत्व देते थे। उनके निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य हैं —

“श्रीरामकृष्ण के शिष्यगण जब उनकी उक्तियों को स्वीकारने के पूर्व उनके आचरण की परीक्षा लेते, तो उन्हें बड़ा आनन्द होता। स्वयं रामकृष्ण भी चाहते थे कि उनके शिष्य बिना परीक्षा लिए उन पर विश्वास न करे इसलिए वे अपने शिष्यों से कहा करते थे— जैसे व्यापारी अपने सिक्कों की जाँच करते हैं, वैसे ही तुम मुझे भी ठोक-बजाकर देख लेना। पूरी तौर से परीक्षा किए बिना मेरी बात पर विश्वास न करना”।¹⁵

नरेन्द्र ने सुन रखा था कि आध्यात्मिक अनुभूतियों के फलस्वरूप ठाकुर की स्नायु प्रणाली में बड़ा परिवर्तन आ गया है और अब वे सोने चाँदी आदि किसी धातु का स्पर्श सहन नहीं कर सकते। एक दिन जब श्रीरामकृष्ण कलकत्ता गए हुए थे, मौका देखकर नरेन्द्र ने उनके बिस्तर के नीचे एक सिक्का छिपाकर रख दिया। कलकत्ते से लौटने के पश्चात् जब श्रीरामकृष्ण बिस्तर पर बैठे तो पीड़ा से चिल्ला उठे, मानों उन्हें किसी कीड़े ने काट खाया हो। बिस्तर उठाने पर उसके नीचे सिक्के का पता चला।

दूसरी ओर ठाकुर भी कभी-कभी नरेन्द्र की परीक्षा लिया करते थे। एक दिन जब वे दक्षिणेश्वर आये तो श्रीरामकृष्ण ने उनकी ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया, कुशल तक नहीं पूछी। एक सप्ताह बाद उनके पुनः आने पर एक बार फिर ठाकुर ने उनके प्रति वैसी ही उदासीनता दिखाई। तीसरी और चौथी बार भी श्रीरामकृष्ण का व्यवहार वैसा ही रहा।

ऐसे ही महीना बीत गया। तब एक दिन उन्होंने नरेन्द्र को निकट बुलाकर पूछा, ‘अच्छा, मैं तो तेरे साथ एक बात भी नहीं करता, तो भी तू यहाँ क्यों आता है, बता भला ?’ ‘क्या मैं

आपकी बात सुनने के लिए यहाँ आता हूँ ? मैं आपसे प्रेम करता हूँ, आपको देखने की इच्छा होती है, इसलिए आता हूँ।' – शिष्य ने उत्तर दिया। सुनकर श्रीरामकृष्ण हर्षातिरेक में शिष्य को आलिंगन पाश में बाँधते हुए बोले, मैं तेरी परीक्षा ले रहा था; आदर—सत्कार न पाने पर तू भाग जाता है या नहीं। तुझ जैसा ही इतना (अवज्ञा और उदासीन भाव) सहन कर सकता है – दूसरा होता, तो अब तक भाग जाता; फिर इधर न झाँकता।'

श्रीरामकृष्ण अपनी साधनाओं एवं अतीन्द्रिय अनुभूतियों द्वारा प्राप्त सिद्धियों का नरेन्द्रनाथ के अन्दर संचार कर देना चाहा। नरेन्द्र को ठाकुर की इन उपलब्धियों के विषय में रत्ती भर भी सन्देह न था। उन्होंने पूछा, 'महाराज, क्या इनसे मुझे ईश्वरलाभ में कुछ सहायता मिलेगी ?' श्रीरामकृष्ण ने कहा,

“उस विषय में सहायता न होने पर भी जब ईश्वरलाभ करके तू उन्हीं का कार्य करने लगेगा, तब इन सिद्धियों से विशेष सहायता ले सकेगा। इस पर नरेन्द्र ने कहा, 'महाराज, मुझे उनकी आवश्यकता नहीं है। पहले ईश्वरलाभ हो जाए, बाद में उनके ग्रहण करने और न करने के बारे में सोचा जाएगा।' विचित्र विभूतियों को प्राप्त करके यदि मैं जीवन का उद्देश्य ही भूल जाऊँ और स्वार्थ की प्रेरणा से उनका अनुचित व्यवहार कर बैठूँ तो सर्वनाश हो जाएगा"। अपने प्रमुख शिष्य की अटल भक्ति देखकर श्रीरामकृष्ण को अतीव आनन्द हुआ"।¹⁶

नरेन्द्र ने प्रायः छः वर्षों तक श्रीरामकृष्ण का संग किया और इस अवधि में उनके आध्यात्मिक जीवन का गठन हुआ। श्रीरामकृष्ण एक अलग प्रकार के शिक्षक थे। वे किसी पर भी अपने विचार थोपते नहीं थे। वे उपदेशों एवं व्यक्तिगत उदाहरणों की अपेक्षा अपने आन्तरिक जीवन के प्रभाव द्वारा शिक्षा देने में विश्वास रखते थे। उनके समीप निवास करने इच्छुक शिष्य के लिए वैचारिक शुद्धता एवं मानसिक एकाग्रता अनिवार्य शर्तें थीं। शारीरिक एवं मानसिक पवित्रता से थोड़ा भी विचलन तथा सत्य एवं त्याग के साथ कोई भी समझौता उनकी सहनशक्ति से परे था। बाकी सब कुछ उन्होंने जगदम्बा की इच्छा पर छोड़ दिया था।

रामकृष्ण अपनी सम्पूर्ण संचित शक्तियाँ अपने शिष्य को सौंप देना चाहते थे वे धीरे—धीरे उन्हें अपनी आध्यात्मिक शक्तियों से परिचित करवाने लगे, जिन्हें नरेन्द्र ने विनम्रतापूर्वक ग्रहण

किया। गुरु के माध्यम से ही नरेन्द्र ने निर्विकल्प समाधि का अनुभव किया। उन्हें ईश्वर के अनादि व अनंत रूप से साक्षात्कार हुए। उनका आध्यात्मिक तेज ठाकुर को भी विस्मित कर देता था। नरेन्द्र रामकृष्ण के प्रिय शिष्य थे तथा ईश्वर के द्वारा एक विशिष्ट उद्देश्य के लिए जगत् में भेजे गये थे। यद्यपि ऐसा लगता था कि वे अपने शिष्य की अव्यक्त शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों के विकास के लिए सारे अवसर दे रहे हैं, तथापि नरेन्द्र पर उनकी तीक्ष्ण दृष्टि रहा करती थी। जिस प्रकार एक सिंह श्रावक अपने माता-पिता के साथ खेल करता है, ठाकुर के सान्निध्य में नरेन्द्र भी प्रायः वैसा ही व्यवहार करते थे। श्रीरामकृष्ण के हार्दिक स्नेह के सहारे नरेन्द्र ने अपने जीवन की कठिनाईयों का शान्तिपूर्वक सामना किया।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि नरेन्द्र बाल्यकाल से ही कुशाग्र बुद्धि एवं चंचल स्वभाव के थे। परिवार में धार्मिक एवं आध्यात्मिक वातावरण होने से नरेन्द्र के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। बचपन से ही माँ के द्वारा सुनाई गयी रामायण, गीता एवं महापुरुषों की कहानियाँ भी उनके जीवन को आध्यात्मिक दिशा प्रदान करने में सहायक हुई। उनमें ध्यान-परायणता, साहस, परदुःखकातरता एवं सन्यासी जीवन के प्रति तीव्र आकर्षण था। परन्तु पिता की अकस्मात् मृत्यु से उनका धैर्य, साहस एवं आध्यात्मिकता कमजोर होने लगा। जीवन में आई इस विषम परिस्थिति ने उनके चंचल स्वभाव को गम्भीर बना दिया। वे अपने मार्ग से विचलित होने लगे थे, तभी उन्हें आभास हुआ की स्वामी रामकृष्ण उनकी समस्या का समाधान कर सकते हैं। अतः वे अपनी समस्या के समाधान के लिए स्वामी रामकृष्ण की शरण में गये। रामकृष्ण से नरेन्द्र ने ज्ञान प्राप्त कर अपने जीवन को पूर्ण रूप से आध्यात्मिकता के ढाँचे में ढाल लिया।

1.4: स्वामी विवेकानन्द की भारत-परिव्रजना एवं उसका महत्व :-

परिव्राजक संन्यासी जीवन के प्रति स्वामी विवेकानन्द जी के हृदय में बचपन से ही आकर्षण बना रहा। कभी-कभी तो वे अपनी हथेली की एक रेखा की ओर संकेत करते हुए अपने मित्रों से कहा करते – “मैं अवश्य ही सन्यासी बनूँगा; एक हस्तरेखाविद् ने बताया है”। रामकृष्ण जी जैसे जौहरी ने इस अमूल्य

रत्न को परखा। सन् 1881 में नरेन्द्र की रामकृष्ण से पहली मुलाकात हुई। रामकृष्ण परमहंस जैसे दिव्य महापुरुष के स्पर्श से नरेन्द्र का जीवन बदल गया।

नरेन्द्र को अपने गुरु के प्रति अपार निष्ठा थी। सन् 1886 ई में श्रीरामकृष्ण की मृत्यु के पश्चात् नरेन्द्र ने सन्यास धारण का निश्चय किया। रामकृष्ण की मृत्यु के समय नरेन्द्र उनके सर्वप्रिय शिष्य थे। अतः श्रीरामकृष्ण जी की इच्छा थी, कि नरेन्द्र सैकड़ों-करोड़ों व्यक्तियों की मुक्ति का साधन बने। इसलिए उन्होंने अपनी मृत्यु से पूर्व, अपनी सभी सिद्धियां नरेन्द्र को सौंप दी और महाप्रयाण को चले गए। तुझे अपना सर्वस्व देकर आज मैं फकीर हो गया। तू इस शक्ति द्वारा जगत का बहुत सारा कार्य सम्पन्न करेगा और कार्य समाप्त होने पर अपने मूल स्थान को लौट जाएगा।¹⁷

श्रीरामकृष्ण से प्रेरणा लेकर संन्यासी जीवन बिताने के इच्छुक युवा शिष्यों को अब एक ऐसे स्थान की जरूरत थी, जहाँ वे एक साथ मिलकर रह सकें। ठाकुर ने नरेन्द्र को अपने गुरुभाइयों पर निगाह रखने का आदेश दिया था ताकि वे घर न लौट जाएँ। नरेन्द्र को उनके अन्तिम शब्द स्पष्ट रूप से याद थे – ‘नरेन ! लडकों का ख्याल रखना।’ गृही भक्त भी एक ऐसा स्थान चाहते थे, जहाँ वे यदा-कदा मिलकर ठाकुर के बारे में चर्चा कर सकें। परन्तु प्रश्न यह था कि ये युवक जिस मकान में रहेंगे, उसका खर्च कौन वहन करेगा ? उनके आहार तथा जीवन की अन्य मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए क्या व्यवस्था करनी होगी ?

श्रीरामकृष्ण के एक प्रिय शिष्य सुरेन्द्रनाथ की उदारता से इन सारी समस्याओं का समाधान हो गया। उन्होंने ठाकुर के निराश्रय सन्तानों के आश्रय का व्ययभार वहन करने का प्रस्ताव रखा। कलकत्ता और दक्षिणेश्वर के बीच बसे वराहनगर अंचल में किराए पर एक मकान लिया गया। यह भवन टूटा-फूटा तथा सूनसान होने के साथ ही भुतहा मकान के रूप में प्रसिद्ध था। युवा भक्तगण कलकत्ते की भीड़-भाड़ से दूर इस निर्जन भवन में आकर बड़े आनन्दित थे। यही स्थान वराहनगर मठ के नाम से रामकृष्ण संघ के संन्यासियों का प्रथम केन्द्र हुआ। वहाँ एक ताम्रपत्र में ठाकुर के अस्थि-अवशेषों की स्थापना हुई थी, जिन्हें जीवन्त मानकर प्रतिदिन पूजा की जाती थी। मन्दिर का कमरा ही मठ का प्राण था।

वराहनगर मठ के ये युवक संन्यासी शीघ्र ही दण्ड एवं भिक्षापात्र हाथ में लेकर परिब्राजक जीवन बीताने को व्याकुल हो उठे। इस भ्रमणशील जीवन के द्वारा वे शरणागति, वैराग्य तथा आन्तरिक शान्ति की उपलब्धि करना चाहते थे। उन्हें 'रमता योगी बहता पानी, इसमें कभी न मैल लखानी' — इस प्रसिद्ध कहानी की याद आई। वे तीर्थ स्थानों का भ्रमण कर अपने आध्यात्मिक जीवन को और भी समृद्ध बनाना चाहते थे।

नरेन्द्र भी अब एकान्तवास के द्वारा अपने आन्तरिक बल की परीक्षा लेना चाहते थे और साथ ही यह भी चाहते थे कि उनके गुरुभ्रातागण अपने ही पैरों पर खड़ा होना सीखें। उनके परिब्राजक जीवन का आरम्भ होने के पूर्व ही मठ के कुछ भाई भ्रमणार्थ निकल चुके थे। पहले तो नरेन्द्र ने कई छोटी-मोटी यात्राएँ कीं पर प्रत्येक बार मठ के अन्तेयवासियों के अनुरोध पर लौट आए। किन्तु 1890 ई. में जब वे एक बार फिर हाथ में केवल दण्ड-कमण्डलु लिए, नाम-धाम सब त्यागकर बाहर निकले, तो वे भारत की विस्तीर्ण भूमि में खो गए, और इस उपमहाद्वीप की धूल ने भी उन्हें पूर्ण रूप से आत्मसात् कर लिया। गुरुभाइयों को 1893 ई. में जब फिर उनका पता मिला, तब तक वे अमेरिका के शिकागो नगरी में इतिहास की सृष्टि करने वाले स्वामी विवेकानन्द बन चुके थे।

अपनी भ्रमण की पिपासा के निवारणार्थ सर्वप्रथम वे पुण्यतीर्थ वाराणसी गये। यह नगरी अतीव प्राचीन काल से ही साधु-सन्तों के पवित्र संस्पर्श से धन्य हो चुकी है। बुद्ध, शंकर एवं चैतन्य जैसे आचार्य भी अपने सन्देश का प्रचार करने के पूर्व, मानो ईश्वर की अनुमति लेने को, पहले यहीं आए थे। गंगाजी का प्रवाह यहाँ के वातावरण को एक विशेष प्रकार की पवित्रता से पूर्ण कर देता है। नरेन्द्र वहाँ पर सर्वत्र व्याप्त त्याग एवं भक्ति के भाव से अभिभूत हो उठे। वे मन्दिरों तथा सन्त-महात्माओं के दर्शन करने गए। उन्होंने गंगातट पर रहकर निरन्तर ध्यान में तन्मय रहने वाले त्रैलंग स्वामी से भेंट की। वे स्वामी भास्करानन्द जी से भी मिलने गए, जिनका मत था कि कोई भी व्यक्ति काम-कांचन के लोभ पर पूर्णरूपेण विजय नहीं पा सकता। नरेन्द्र उनसे सहमत न हो सके क्योंकि वे अपनी आँखों के समक्ष ही श्रीरामकृष्ण का जीवन देख चुके थे, जिन्होंने इन क्षुद्र वृत्तियों का समूल नाश कर दिया था।¹⁸

वाराणसी में एक दिन कुछ बन्दर नरेन्द्र के पीछे लग गए। वे तेजी से भागने लगे। उसी समय एक संन्यासी ने चिल्लाकर कहा, “रूको; उन बन्दरों के सम्मुखहीन हो खड़े रहो”। वे ठहरे और निर्भयतापूर्वक पूर्वक बन्दरों की ओर देखा। तुरन्त बन्दर सिर पर पाँव रखकर भाग गए। परवर्ती काल में अपने कई व्याख्यानों में श्रोताओं के समक्ष इस अनुभव का वर्णन करते हुए वे उन्हें विपत्तियों से पलायन न कर, साहसपूर्वक उनका सामना करने का उपदेश देते।

कुछ दिनों बाद वराहनगर लौटकर नरेन्द्र पुनः ध्यान, स्वाध्याय एवं धर्म चर्चा में डूब गए। इस तीर्थ दर्शन काल में उन्होंने भारत की आत्मा का थोड़ा-बहुत परिचय प्राप्त किया था और अनेक मतवादों का भी सन्धान किया था। उनकी दृष्टि पहले से अधिक व्यापक हो गयी थी। वेदान्त के शक्तिदायी विचारों का सबके बीच और विशेषकर पिछड़े वर्गों में प्रचार करने के बारे में नरेन्द्र ने गुरुभाइयों के साथ चर्चा की। परन्तु वे सभी सहमत न हुए। नरेन्द्र थोड़ा नाराज होकर बोले – ‘सभी तो प्रचार कार्य में लगे हैं, परन्तु वे अनजाने में ही कर रहे हैं और मैं प्रयासपूर्वक करूँगा। तुम लोग मेरे गुरुभाई होकर भी मेरे मार्ग में बाधक बनो तो मैं भी न मानूँगा। मैं दीन, हीन चाण्डालों की भी कुटीया में जाकर प्रचार करूँगा’।¹⁹

वराहनगर में थोड़े दिन बिताने के पश्चात् नरेन्द्र पुनः वाराणसी आए और वहाँ संस्कृत के पण्डित बाबू प्रमदादास मित्र से भेंट की। दोनों के बीच परस्पर श्रद्धा एवम् स्नेह का प्रगाढ़ सम्बन्ध हो गया। वे वार्तालाप तथा पत्रों के माध्यम से हिन्दू सामाजिक प्रथाओं तथा शास्त्रों के कूट-प्रसंगों पर चर्चा किया करते थे। इसके बाद नरेन्द्र श्रीरामचन्द्र की प्राचीन राजधानी अयोध्या गए। अयोध्या के बाद वे लखनऊ आए। मुसलमान नवाबों द्वारा निर्मित उद्यानों एवं महलों से अलंकृत लखनऊ ने उनके मन में इसलामी शासनकाल की गौरवपूर्ण स्मृतियाँ जगाकर उन्हें अभिभूत कर दिया। इसके बाद आगरा में ताजमहल का अवलोकन कर उनकी आँखें नम हो गईं। वृन्दावन में उनके मानसपटल पर श्रीकृष्ण के जीवन की कई घटनाएँ उमड़ आईं और वे भावविभोर हो उठे।

इसके बाद आगरा से पैदल चलकर लगभग तीस मीलों का रास्ता उन्होंने हाथों में दण्ड—कमण्डलु लेकर तथा मात्र दो—एक पुस्तकों को साथ रखकर तय किया। वृन्दावन की ओर निःसम्बल खाली पाँव जाते हुए एक दिन नरेन्द्र ने देखा कि एक व्यक्ति सड़क किनारे बैठकर आराम से चिलम पी रहा है। उन्होंने उस अपरिचित व्यक्ति के समीप जाकर स्वयं भी तम्बाकू पीने की इच्छा व्यक्त की। परन्तु भंगी होने के कारण वह व्यक्ति सहमत न हुआ, क्योंकि हिन्दू समाज में इसे गुनाह माना जाता था। नरेन्द्र ने पुनः अपनी राह पकड़ी परन्तु सहसा उनके मन में आया, “अरे मैंने तो सन्यास लिया है; जाति, कुल मान — सब कुछ छोड़ दिया है, फिर भी मैं ही उसका छुआ हुआ तम्बाकू न पी सका ! ये सब केवल दीर्घ कुसंस्कार के ही फल हैं”। पुनः वे उस अछूत के पास लौट आये तथा उसके विरोध के बावजूद उसकी चिलम लेकर भली—भाँति धूम्रपान किया और पुनः वृन्दावन के मार्ग पर चल पड़े।

इसके पश्चात् अब उन्होंने हिमालय के पदप्रान्त में स्थित प्रसिद्ध तीर्थ हरिद्वार के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में हाथरस स्टेशन पर वहीं के स्टेशन मास्टर शरत्चन्द्र उन पर प्रथम दृष्टि डालते ही मुग्ध हो गए। बाद में उन्होंने बताया, ‘मैं स्वामी जी के उन विशाल युगल नेत्रों के ही पीछे चल पड़ा’।

नरेन्द्र ने शरत् को शिष्य के रूप में स्वीकार किया। शरत् ने तुरन्त ही संसार का त्याग किया और स्वामी जी के साथ हरिद्वार को प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचकर वे वहाँ से कई मील उत्तर में गंगातट पर अवस्थित ऋषिकेश गये, जहाँ पर विविध सम्प्रदायों के साधु—संन्यासी ध्यान—भजन कर रहे थे। वहाँ शरत् के बीमार पर जाने पर उनकी चिकित्सा के लिए स्वामी जी उन्हें साथ लेकर हाथरस लौटे। इससे मित्रगण आनन्दित तो हुए, परन्तु ऋषिकेश में ही स्वामी जी पर मलेरिया का प्रकोप हो चुका था। नरेन्द्र की बीमारी का समाचार पाकर वराहनगर के संन्यासियों ने उन्हें वहाँ लौट आने को कहा। अतः नरेन्द्र वराहनगर मठ को लौट गए।

स्वास्थ्य सही होने पर एक बार फिर वे तीर्थ—दर्शन की इच्छा से बाहर निकल पड़े। वाराणसी जाते समय उन्हें यह विदित हुआ कि उनके एक गुरुभाई स्वामी योगानन्द इलाहाबाद

में बीमार पड़े हैं। वे तुरन्त इलाहाबाद गए। वहाँ उनकी एक मुसलमान फकीर के साथ भेंट हुई जिनके, “मुख की प्रत्येक रेखा बताती थी कि उन्होंने परमहंस अवस्था को प्राप्त कर लिया है”। यहाँ उन्होंने गाजीपुर के प्रसिद्ध महात्मा पवहारी बाबा के गुणों का विशेष समाचार पाया। पवहारी बाबा का नाम उन्होंने दक्षिणेश्वर में ही सुना था और उनके दर्शन की अभिलाषा भी उनके मन में जाग्रत थी। तदुपरान्त वे गाजीपुर गए और वहाँ के प्रसिद्ध सन्त पवहारी बाबा से मिले।

पवहारी बाबा वाराणसी के निकटवर्ती एक ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे। अपनी युवावस्था में ही उन्होंने हिन्दू दर्शन की अनेक शाखाओं पर अधिकार कर लिया था। तदुपरान्त संसार त्यागकर उन्होंने एक तपस्वी का जीवन अपनाया, योग—वेदान्त की साधना की तथा सम्पूर्ण भारतभूमि का भ्रमण किया। अन्त में वे गाजीपुर आकर वहीं ठहर गए और गंगातट पर एक भूमिगत गुहा बनाकर, वहीं अपना अधिकांश समय ध्यान में व्यतीत करने लगे। वे प्रायः कुछ भी न खाते थे, इस कारण लोगों ने उन्हें पवहारी (वायुभक्षण करने वाले) की संज्ञा दे दी। पवहारी बाबा ने श्रीरामकृष्ण का नाम सुन रखा था तथा वे उन्हें अवतार मानते थे। उनके कमरे में ठाकुर का एक चित्र भी टँगा हुआ था। दूर—दूर से लोग बाबा से मिलने आया करते थे तथा ध्यान से उठने के बाद वे आगुन्तकों के साथ दीवाल के पीछे से वार्तालाप किया करते थे। देहत्याग के कई दिन पूर्व से उन्होंने बाहर से निकलना बन्द कर दिया था। फिर एक दिन उनकी गुहा से माँस जलने की गन्ध के साथ—साथ धुआँ निकलता दीख पड़ा। बाद में पता चला कि अपने जीवन का अन्तिम काल समीप आया देखकर बाबा ने अपना शरीर अग्निरूपी ईश्वर को पूर्णाहुति में सौंप दिया था।

स्वामी जी ने पवहारी बाबा के प्रति आजीवन सच्चा प्रेम एवं श्रद्धा का भाव बनाए रखा। स्वामीजी अब तक आर्यों की पुण्यभूमि आर्यावर्त अर्थात् उत्तर भारत का अवलोकन कर चुके थे। भारत की आध्यात्मिक संस्कृति इसी आर्यावर्त में उत्पन्न एवं विकसित हुई है। प्राचीन भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा वेद—उपनिषदों में प्रकट हुई, पुराणों एवं तन्त्रों के रूप में विकसित हुई और अन्ततः शक, हूण, यूनानी, पठान, मुगल आदि विदेशी जातियों के अवदान से समृद्ध हुई। इस प्रकार भारत में बहुत्व में एकत्व के आदर्श पर आधारित एक अनुपम सभ्याता का विकास

हुआ। परम्परागत हिन्दू चेतना में कुछ-कुछ विदेशी तत्त्व भी सम्मिलित हो गए। कुछ अन्य संस्कृतियों ने भारत की प्राचीन परम्परा से बहुत कुछ लेकर भी अपना अलग अस्तित्व बनाए रखा। भारत एवं एशिया की आध्यात्मिक एकता का अनुभव करने के पश्चात् स्वामी जी ने प्राच्य सभ्यता का मूल वैशिष्ट्य जान लिया और वह था – अनित्य वस्तुओं को त्यागकर नित्य वस्तु के साथ सम्बन्ध जोड़ना। उत्तर भारत का भ्रमण करने के पश्चात् स्वामी जी अब हिमालय में जाकर चिन्तन की अतल गहराइयों में डूब जाना चाहते थे। इस बार स्वामी जी एक दृढ़ संकल्प के साथ अपनी यात्रा पर निकले, इस बार स्पर्शमात्र से लोगों को रूपान्तरित कर देने की क्षमता प्राप्त किए बिना न लौटूँगा।²⁰

उन्होंने श्रीमाँ सारदा देवी से भी प्रार्थना और आशीष की कामना की, कि सर्वोच्च ज्ञान की उपलब्धि किए बिना उन्हें लौटना न पड़े, और माताजी ने भी उन्हें श्रीरामकृष्ण के नाम पर आशीष दिया। श्रीमाँ ने उनसे पूछा, 'क्या तुम अपनी गर्भधारिणी माँ से विदा नहीं लोगे' इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया, "आप ही मेरी एकमात्र माँ हैं"।

स्वामी जी अब कलकत्ते से रवाना होकर अखण्डानन्द के साथ पुनः अपनी यात्रा पर चल पड़े। स्वामी जी इस बार क्रमशः भागलपुर से वाराणसी, नैननीताल से अल्मोडा, अल्मोडा से बद्रीनारायण और रुद्रप्राग और फिर श्रीनगर गए। उन दिनों स्वामी जी को भागीरथी-दर्शन के लिए व्याकुल देखकर सब ने टिहरी की ओर प्रस्थान किया। इसके बाद सभी देहरादून को चले गए। देहरादून से स्वामी जी अब हिमालय में स्थित ऋषिकेश की सुन्दर घाटी में आ पहुँचे। यह स्थान पर्वतों एवं गंगा जी से घिरा हुआ है। अत्यन्त पुरा काल से ही यह पुण्य स्थान साधु-संन्यासियों के आकर्षण का केन्द्र रहा है। परन्तु यहाँ आने के कुछ ही दिनों बाद स्वामी जी बुरी तरह बीमार पड़ गए। यहाँ तक कि उनके जीवन को खतरा उत्पन्न हो गया था। उनकी हालत में थोड़ा सुधार होने पर उन्हें मेरठ लाया गया। वहाँ वे अपने कई गुरुभाइयों से मिले और उनके साथ स्वाध्याय, प्रार्थना, ध्यान तथा भजन में कालयापन करने लगे। मेरठ में तब मानों वराहनगर का ही एक प्रतिरूप गढ़ उठा था।

लगभग पाँच महीने वहाँ बिताने के पश्चात् स्वामी जी पुनः परिव्राजक जीवन बिताने के लिए व्यग्र हो उठे; परन्तु इस बार वे अपने गुरुभाइयों के मोह का जाल तोड़कर एकाकी विचरण करना चाहते थे। उन्हें अपने भावी कार्य का निरन्तर आभास मिल रहा था और वे उस पर चिन्तन करना चाहते थे। अपने हिमालय-भ्रमण के अनुभव से अब उन्हें अनुभव हुआ ईश्वर उन्हें गुफा की दीवारों में आबद्ध नहीं रहने देंगे। जब-जब उन्होंने इसके लिए प्रयास किया था, एक अदृश्य शक्ति उन्हें बाहर खींच लाई थी। भारतीय जनता का अधः पतन तथा सर्वत्र फैली आध्यात्मिक रूग्णता, उन्हें एक नवीन कार्यक्रम का आमन्त्रण दे रही थी, परन्तु उसकी रूपरेखा उनके मानस-पटल के समक्ष अब भी स्पष्ट न हो पाई थी।

1891 ई. की जनवरी के उत्तरार्ध में उन्होंने अपने गुरुभाइयों से विदा ली और स्वामी विविदिषानन्द नाम धारण कर दिल्ली की ओर चल पड़े। वे गुप्त रूप से यात्रा करना चाहते थे; समस्त भारत-भू को अपने चरणचिह्नों से आच्छादित कर देना चाहते थे। उनकी आकांक्षा थी कि वे देश के रास्तों, बाजारों, रेगिस्तानों, वनों और गुफाओं में विचरण करनेवाले लाखों साधु-संन्यासियों की भीड़ में खो जाएँ। परन्तु आत्मगोपन के अनेक प्रयासों के बावजूद आँखों से व्यक्त होने वाले तेज और उनके भव्य व्यक्तित्व के कारण वे अन्य लोगों से कुछ अलग ही दिखते थे।

दिल्ली में स्वामी जी ने महलों, मस्जिदों तथा मकबरों का अवलोकन किया। वहाँ वर्तमान नगर के चारों ओर फैले महाभारत के प्रागैतिहासिक काल से अर्वाचीन काल तक के लुप्त साम्राज्यों के विशाल खण्डहर देखकर उन्हें भौतिक उपलब्धियों की क्षणभंगुर प्रकृति का बोध हुआ। परन्तु प्रफुल्ल एवं जीवन्त दिल्ली के परिदर्शन से उन्हें सभ्यता के अमरत्व का भी ज्ञान हुआ।²¹

स्वामी जी ने वहाँ से अलवर की ओर प्रस्थान किया। अलवर निवासियों को स्वामी जी ने हिन्दू धर्म के सनातन तत्त्वों का अध्ययन करने की प्रेरणा दी। उन्होंने लोगों को संस्कृत के ज्ञान के साथ ही साथ पाश्चात्य विज्ञान का ज्ञान भी अर्जन करने का उपदेश दिया।

अलवर में स्वामी जी ने लोगों का हृदय जीत लिया था। इसके बाद जयपुर में स्वामी जी ने संस्कृत के अध्ययन पर ज्यादा ध्यान दिया। अजमेर में उन्हें हिन्दू एवं मुस्लिम शासनकाल की महिमा स्मरण हो आया। माउण्ट आबू के दिलवाडा जैन मन्दिरों का अवलोकन कर वे दाँतों तले उँगली दबाकर रह गए। इसका निर्माण कार्य दैत्यों के हाथ शुरू होकर जौहरियों के हाथ समाप्त हुआ। वहाँ वे एक मुसलमान अधिकारी के घर ठहरे। इसका विरोध करने वाले अपने हिन्दू मित्रों से स्वामी जी ने विनम्रतापूर्वक कहा –“मैं परमहंस संन्यासियों की सर्वोच्च परम्परा का प्रतिनिधित्व करता हूँ, अतः सामाजिक विधि-निषेध मुझ पर लागू नहीं होते”।²²

माउण्ट आबू में स्वामी जी की भेंट खेतड़ी के महाराजा के साथ हुई, जो बाद में उनके निष्ठावान शिष्य हो गए। उन्होंने अपने राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में स्वामी जी से एक पुत्र का वर माँगा। स्वामी जी ने उन्हें आशीर्वाद दिया।

इसी भ्रमण के दौरान स्वामी जी ने अपना वह नाम पाया, जिस नाम से संसार ने उन्हें पहचाना। खेतड़ी से विदा लेने के पूर्व खेतड़ी नरेश ने उनके विदाई-समारोह के लिए राज्यसभा बुलायी थी एवं (वहाँ उन्हें) ‘विवेकानंद’ नाम से अपना परिचय देने और इस नये नाम को नहीं बदलने का अनुरोध किया था”।²³

इसके पश्चात् स्वामी जी वहाँ से विदा लेकर पश्चिमी भारत के गुजरात एवं काठियावाड़ प्रान्तों में भ्रमण किया। अहमदाबाद में उन्होंने अपने जैन धर्म का ज्ञान और भी पक्का कर लिया। काठियावाड़ में हिन्दू और जैन के अनेक तीर्थ हैं, परन्तु इस प्रान्त का अधिकांश भाग हिन्दू महाराजा द्वारा शासित था। काठियावाड़ नरेश ने स्वामी जी का अत्यन्त सम्मानपूर्वक स्वागत किया। उन्होंने बाबू हरिदास बिहारीदास को, जो कि मुस्लिम शासित जूनागढ़ के दीवान थे, हिन्दू धर्म का पूरे विश्व में प्रचार करने की आवश्यकता बताई। पोरबन्दर में उन्होंने पूरे ग्यारह महीने बिताए।

उन दिनों स्वामी जी अत्यन्त व्यग्र थे। उन्हें अपने भीतर एक अदम्य शक्ति का बोध हो रहा था, जो अभिव्यक्त होने का मार्ग ढूँढ़ रही थी। भारत के पुनर्जागरण का भाव उनके

दिलों—दिमाग पर छाया हुआ था। एक जाग्रत भारत बाद में पूरे विश्व के लिए सहायक हो सकता था। हिन्दुओं में फैली संकीर्णता, ईर्ष्या, कलह, अज्ञान एवं निर्धनता उनके चित्त को व्यथित कर देती थी। परन्तु उन्हें पाश्चात्य भावों में पगे, राष्ट्रीय आत्मा से विलग हो जाने वाले सुधारकों से कोई उम्मीद न थी। पाश्चात्य अनुकरण पर किए जा रहे सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक सुधारवाद को स्वामी जी ने पूर्णतः अनुचित ठहराया। वे हिन्दुओं में आत्म विश्वास पैदा करना चाहते थे। उन्हें लगा कि यदि पश्चिम के समृद्ध एवं शक्तिशाली राष्ट्र भारत की सांस्कृतिक उत्कृष्टता को स्वीकार कर लें, तो इससे हिन्दुओं का भी अपनी संस्कृति पर विश्वास बढ़ेगा। उन्होंने ईश्वर से मार्गदर्शन की प्रार्थना की। उनकी सहायता से स्वामी जी शिक्षा की नई पद्धतियाँ तथा भौतिक एवं सांस्कृतिक उन्नति के अन्य उपाय अपनाकर सच्चा सामाजिक सुधार लाना चाहते थे। स्वामी जी का अनुमान था कि इस पद्धति से भारतीय पुनरुत्थान का उनका स्वप्न आसानी से साकार हो सकेगा।²⁴

बड़ौदा में कुछ दिन बिताने के पश्चात् स्वामी जी मध्य भारत में खण्डवा आए। यहाँ पर उन्होंने पहली बार संकेत दिया कि वे निकट भविष्य में शिकागो में आयोजित होने वाली धर्म महासभा में भाग लेने के इच्छुक हैं। इस सभा के बारे में उन्हें सम्भवतः जूनागढ़ या पोरबन्दर में पता चला था।

बम्बई, पूना और कोल्हापुर होते हुए स्वामी जी बेलगाँव पहुँचे। बम्बई में संयोगवश उनकी भेंट स्वामी अभेदानन्द के साथ हो गई और उनसे वार्तालाप के दौरान स्वामी जी ने अपने अन्दर संचारित हुए शक्तियों के बारे में बताया, 'भाई, मेरे अन्दर इतनी शक्ति का विकास हुआ है कि कभी—कभी लगता है शरीर ही फट जाएगा'।

अपने परिव्राजक जीवन में उन्होंने समाज के सभी स्तर के लोगों के साथ विचारों का आदान—प्रदान किया और सभी उनकी गम्भीरता, वाग्विदग्धता, नम्रता एवं प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृति के ज्ञान भण्डार को देखकर प्रभावित हुए थे। उन्होंने उसी काल के अपने विचार, परवर्ती काल में अमेरिका तथा भारत में दिए सार्वजनिक व्याख्यानों में दुहराए। तथापि उनकी हार्दिक सहानुभूति सामाजिक अन्याय के शिकार, निर्धन एवं अनपढ़ ग्रामवासियों के प्रति थी।

बेलगाँव से स्वामी जी हिन्दू राज्य मैसूर की बँगलौर नगरी को गए। वहाँ के दीवान ने स्वामी जी का इन शब्दों में वर्णन किया था – “इस संन्यासी का ऐसा चित्ताकर्षक व्यक्तित्व है तथा उसमें ऐसी दिव्य शक्ति है, कि वे भारत के इतिहास में निश्चित रूप से अपना चिह्न छोड़ जाएँगे”।²⁵

महाराजा भी उनकी मेधाशक्ति, मोहक चरित्र, गहन पाण्डित्य तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि पर मुग्ध हो गए। उन्होंने स्वामी जी को अतिथि के रूप में अपने महल में रखा। संस्कृत विद्वानों की एक सभा में स्वामी जी ने वेदान्त पर व्याख्यान दिया जो काफी प्रशंसित हुआ। राजा के दरबार में आए एक आस्ट्रियन संगीतज्ञ को उन्होंने अपने पाश्चात्य संगीत के ज्ञान से विस्मित कर दिया था। उन्होंने महाराजा के साथ अपनी अमेरिका जाने की योजना पर भी चर्चा की और महाराजा ने इस यात्रा का व्ययभार वहन करने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु स्वामी जी ने कहा कि रामेश्वरम दर्शन के पश्चात् ही वे अन्तिम निर्णय ले सकेंगे। सम्भवतः वे इस विषय में ईश्वरेच्छा से अवगत होना चाहते थे। महाराजा और दीवान ने उनसे कुछ कीमती उपहार स्वीकार करने का अनुरोध किया। स्वामी जी ने एक से सिगार और दूसरे से चिलम स्वीकार की।

अब स्वामी जी मलाबार (केरल प्रान्त) की ओर उन्मुख हुए। ट्रावंकोर की राजधानी त्रिवेन्द्रम में वे कॉलेज के प्राध्यापकों, राज्य के अधिकारियों तथा नगर के शिक्षित वर्ग के सम्पर्क में आए। उन लोगों ने पाया कि चर्चा का विषय चाहे स्पेन्सर हों या शकराचार्य, शेक्सपियर हों या कालीदास, डार्विन हों या पतंजलि, यहूदी इतिहास हो या आर्य सभ्यता – सब में स्वामी जी की समान पैठ थी।

ट्रावंकोर के एक शिक्षित व्यक्ति ने उनके बारे में लिखा था –

“गंभीरता एवं सरलता उनके चेहरे पर स्पष्ट रूप से अंकित थी। स्वामी जी के चरित्र की विशेषताएँ थीं – उनका पवित्र हृदय, तपस्यामय जीवन, खुला मस्तिष्क, उदार दृष्टिकोण तथा सबके प्रति सहानुभूति”।²⁶

रामेश्वरम में स्वामी जी भेंट रामानाद के महाराजा भास्कर सेतुपति के साथ हुई, जो बाद में उनके उत्साही शिष्य हो गये। स्वामी जी ने आम जनता की शिक्षा तथा कृषि पद्धति के सुधार के बारे में महाराजा को अपने विचारों से अवगत कराया। महाराजा ने स्वामी जी से अनुरोध किया कि वे धर्म महासभा में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए शिकागो जाएँ, और उन्होंने इसमें सहायता देने का वादा भी किया। रामेश्वरम के बाद स्वामी जी भारत के दक्षिणी छोर पर स्थित कन्याकुमारी आए।

परिव्राजक जीवन में स्वामी जी सभी प्रकार के लोगों के सम्पर्क में आए। एक दिन वे अछूत की कुटिया में विराजते तो दूसरे दिन राजा-महाराजाओं के साथ रहे, वहीं वे दीन-दुःखी, मोची-मेहतरों के साथ भी रहे थे। दिवानों, पण्डितों अथवा कॉलेज के उदार प्राध्यापकों के साथ चर्चा करते दीख पड़ते। अपने अनुभव से स्वामी जी ने यह जान लिया था कि राजा-महाराजाओं तथा धनिक वर्ग के लोगों से इस देश का हित नहीं हो सकता। इस देश का हित होगा इन बहुसंख्यक दीन-दुखियों के उत्थान से, इनके विकास से, इनके जागरण से।

इस प्रकार वे सभी वर्ग के लोगों के दुःख-सुख, आशा-निराशा के भागीदार बने। उन्होंने वर्तमान भारत की दुर्दशा देखी और इसके निराकरण के उपायों पर विचार किया। जनसाधारण का आर्तनाद, जीवन संग्राम में रत नर रूपी ईश्वर एवं सहायता के लिए आकुल मानव का दुःख-दर्द देखकर उनका हृदय पसीज उठा। अपने भ्रमण के दौरान उनकी समझ में आ गया कि मानवता की सेवा में वे किस प्रकार परमात्मा के हाथ के यन्त्र बन सकते हैं।

जिन तथ्यों ने स्वामी जी के जीवन को विशेष रूप से प्रभावित किया तथा उनके भावी सन्देश को एक सुनिश्चित रूप दिया, वे थे श्रीरामकृष्ण के साथ उनका पुनीत सान्निध्य, प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृतियों का अगाध ज्ञान तथा उनकी अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ। इसके साथ ही एक अन्य तथ्य का संयोजन आवश्यक है और वह है – भ्रमण के द्वारा भारत के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी हासिल करना। ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान उनके लिए एक अनुपम शिक्षा थी।

ग्रन्थालय के मुद्रित पृष्ठों की अपेक्षा जीवनरूपी महाग्रन्थों से उन्हें कहीं अधिक शिक्षा प्राप्त हुई।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि इन यात्राओं के दौरान स्वामी जी ने सीखा भी और सिखाया भी। हिन्दुओं के प्रति उनका उपदेश था कि वे अपने धर्म के सनातन तत्त्वों को अपनाएँ, उपनिषदों के सन्देश का ध्यानपूर्वक श्रवण करें, मन्दिरों एवं प्रतिकों के प्रति श्रद्धाभाव रखें और इस पुण्यभूमि भारत में जन्म लेने के कारण गौरव का बोध करें। उन्होंने रूढ़िवादियों द्वारा प्रचारित पुराने ढर्रे की परम्परा को त्यागने का उपदेश दिया। साथ ही पाश्चात्य संस्कृति में पगे सुधारकों द्वारा प्रचारित दिशाहीन युक्तिवाद का भी खण्डन किया। अभिव्यक्ति की इतनी विविधता के बावजूद भारतीय संस्कृति में निहित मौलिक एकता को देखकर वे विस्मित रह गए और उनसे मिलने वाले लोग भी उनके व्यक्तित्व में भारत की चेतना, एकता तथा भविष्य देखकर मुग्ध हो गए।

उद्धरण एवं संदर्भ

1. स्वामी गम्भीरानन्द. *युगनायक विवेकानंद प्रथम खण्ड*. नागपुर: रामकृष्ण मठ, 1996, पृ. 26
2. पूर्वोक्त, पृ. 23
3. पूर्वोक्त, पृ. 25
4. महर्षि, डॉ. सन्तोष कुमार. *स्वामी विवेकानंद जीवन एवं विचार*. नई दिल्ली: नेहा पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2019, पृ. 6
5. पूर्वोक्त, पृ. 7
6. स्वामी निखिलानन्द. *विवेकानंद एक जीवनी*. अद्वैत आश्रम, 2017 पृ. 47
7. स्वामी विवेकानंद. *विवेकानंद साहित्य षष्ठम् खंड*. कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 1993, पृ. 197
8. पूर्वोक्त, *विवेकानंद साहित्य दशम् खंड*, पृ. 39
9. स्वामी विदेहात्मानन्द. (सम्पादक) *स्वामी विवेकानंद और उनका अवदान*. पं. निखिल घोष: 'संगीतायक विवेकानन्द' कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 2018, पृ. 235
10. पूर्वोक्त, गम्भीरानन्द, पृ. 84
11. पूर्वोक्त, पृ. 85–86
12. पूर्वोक्त, पृ. 89
13. पूर्वोक्त, महर्षि, डॉ. सन्तोष कुमार, पृ. 5
14. पूर्वोक्त, गम्भीरानन्द, पृ. 90
15. पूर्वोक्त, निखिलानन्द, पृ. 45
16. पूर्वोक्त, पृ. 46
17. पूर्वोक्त, गम्भीरानन्द, पृ. 177
18. पूर्वोक्त, निखिलानन्द, पृ. 84–85
19. पूर्वोक्त, पृ. 85
20. पूर्वोक्त, पृ. 93
21. पूर्वोक्त, पृ. 97
22. पूर्वोक्त, निखिलानन्द, पृ. 100

23. पूर्वोक्त, गम्भीरानन्द, पृ. 286
24. पूर्वोक्त, निखिलानन्द, पृ. 101—102
25. पूर्वोक्त, निखिलानन्द, पृ. 103
26. पूर्वोक्त, पृ. 105

अध्याय 2:

स्वामी विवेकानंद का वेदान्त दर्शन

अध्याय 2: स्वामी विवेकानंद का वेदान्त-दर्शन

स्वामी विवेकानंद का मूल दृष्टिकोण आध्यात्मिक है एवं उन्होंने अपने व्याख्यानों में वेदांत के सभी सम्प्रदायों का समन्वय प्रस्तुत किया है। इसी कारण से उन्होंने द्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं अद्वैत आदि मतों में इसी क्रम से समन्वय स्थापित किया है। इस समन्वयकारी दृष्टि की अभिनवता को देखते हुए आधुनिक मनीषी उनके दर्शन को 'नव्य-वेदांत' की संज्ञा देते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से वेदांत के सभी सम्प्रदायों की प्रयोजनीयता है। दार्शनिक दृष्टि से उनके दर्शन को अद्वैत वेदांत कहा जा सकता है क्योंकि उन्होंने अद्वैत वेदांत दर्शन को अंतिम चरण के रूप में स्वीकार किया है। वेदांत के आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक जोर देने के कारण उनका दर्शन 'व्यावहारिक वेदांत' भी कहलाता है। उनके अद्वैत वेदांत दर्शन में क्रम से ब्रह्म, जगत तथा मानव के स्वरूप (जीव) का समीक्षात्मक विवेचन निम्नवत् है।

2.1: विवेकानंद के दर्शन में ब्रह्म:—

अद्वैत वेदांत-दर्शन में ब्रह्म को ही एकमात्र सत्ता के रूप में स्वीकार किया जाता है। दर्शन के तत्त्वमीमांसीय साँचों में यह अध्ययन 'सत्' या 'सत् सम्बंधी अवधारणा' के अंतर्गत किया जाता है। अतएव यहाँ भी 'सत्' एवं 'ब्रह्म' को पर्यायवाची स्वीकार किया गया है। सर्वप्रथम, उनके अनुसार ब्रह्म के स्वरूप पर विचार प्रस्तुत है।

2.1.1: ब्रह्म का स्वरूप:—

स्वामी विवेकानंद ने ब्रह्म के स्वरूप के वर्णन में व्यक्तित्वयुक्त ईश्वर, प्रकृति में व्याप्त ईश्वर एवं 'सत्' के अद्वैतपरक विवेचन के रूप में ब्रह्म का निरूपण किया है। यह क्रम वेदांत के द्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं अद्वैत आदि सम्प्रदायों के अनुरूप ही है। यह क्रमिक विवेचन उनके समन्वयकारी दृष्टिकोण को ही प्रतिचित्रित करता है। इस क्रमिक विवेचन को निम्न उद्धरणों के आधार पर बता सकते हैं।

सर्वप्रथम द्वैत मत के अनुसार व्यक्तित्वयुक्त ईश्वर का उल्लेख निम्नवत् है :

“प्रारंभिक दार्शनिकों ने इस जड़ जगत् को लेकर क्रमशः इसके माध्यम से परम तत्त्व में पहुँचने की चेष्टा की थी, और इससे उन्होंने अधिक से अधिक पाया तो यही कि इस जगत् का एक व्यक्तित्वयुक्त शासनकर्ता है, एक अतिशय प्रवर्धित मनुष्य किंतु जो कुल मिलाकर है एक व्यक्ति, एक मनुष्य ही। पर यह कभी पूर्ण सत्य नहीं हो सकता, अधिक से अधिक इसे आंशिक सत्य कह सकते हैं। हम लोग इस जगत् को मानवीय दृष्टि से देखते हैं, और हम लोगों का ईश्वर इस जगत् की मानवीय व्याख्या मात्र है”।¹

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि स्वामी विवेकानंद के अनुसार व्यक्तित्वयुक्त ईश्वर की धारणा केवल आंशिक रूप से ही सत्य है। भक्तिवादी द्वैत वेदांत के दार्शनिक जगत् को सत्य मानते हैं। उनके मत में ईश्वर की सृष्टि होने से यह मिथ्या नहीं हो सकता है। भक्त का क्रीड़ास्थल होने के कारण यह उपासना का स्थल है। अतएव यह सरस एवं आनंदप्रद है। स्वामी विवेकानंद के निम्न कथनों से इनकी पुष्टि होती है :—

“वह महान् कवि है वह प्राचीन कवि है— समस्त जगत् उसकी कविता है, वह अनंत आनन्दोच्छवास में लिखी हुई है और नाना प्रकार के श्लोकों, छंदों और तालों में प्रकाशित है”।²

स्पष्टतः यह एक सृष्टिकर्ता ईश्वर का विवेचन है। सृष्टि की इस प्रेरणा में आनंद के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है। यह सृष्टि बहुलताओं से परिपूर्ण है। इस प्रकार वे भक्तिवादी वैष्णव सम्प्रदायों के अनुकूल सरस ईश्वर की धारणा को स्वीकार करते हुए, ईश्वर के व्यक्तित्वयुक्त लक्षणों को भी अपनी सहमति प्रदान करते हैं।

इसके पश्चात् वह ईश्वर सम्बंधी धारणा में व्यक्तित्व के स्थान पर विराट स्वरूप की धारणा का उल्लेख करते हैं। ऐसा करते हुए वह प्रकृति के गुणों और ‘ब्रह्म’ या ‘सत्’ के लक्षणों में तादात्म्य स्थापित कर देते हैं। इस विवरण से सत् सम्बंधी सर्वेश्वरवादी मत की स्थापना का संकेत मिलता है। इस सम्बंध में उनके निम्नलिखित कथन प्रासंगिक हैं :—

“जो कुछ तुम देखते हो, सुनते हो या अनुभव करते हो, सब उसी की सृष्टि है— ठीक कहीं तो उसी का प्रक्षेप है; और भी ठीक कहीं तो सब कुछ स्वयं प्रभु ही है। सूर्य और ताराओं

के रूप में वही उज्ज्वल भाव से विराज रहा है, वही धरती माता है, वही समुद्र है। वही बादलों के रूप में बरसता है, वही मृदु पवन है, जिससे हम साँस लेते हैं, वही शक्ति बनकर हमारे शरीर में कार्य कर रहा है। वही भाषण है, वही भाषणदाता है, फिर सुननेवाला भी वही है। वही यह मंच है जिस पर मैं खड़ा हूँ, वही यह आलोक है, जिससे मैं तुम्हें देख पा रहा हूँ; यह समस्त वही है”।³

उपर्युक्त उद्धरण में पहले तो विवेकानंद ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण निरूपित करते हैं। लेकिन जैसे ही वे ‘प्रक्षेप’ शब्द का प्रयोग करते हैं तो ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं रह जाते। इस शब्द से यह ज्ञात होता है कि यह जगत्, ब्रह्म का वास्तविक परिणाम नहीं है बल्कि आभास है। इस विवरण में ईश्वर या ब्रह्म स्वयं प्रकृति के रूप में वर्णित हैं। इससे यहाँ नामरूप के साथ प्रकृति को ब्रह्म या ईश्वर के समरूप मानने से ईश्वर का सर्वेश्वरवादी चित्र उभरकर सामने आया हुआ प्रतीत हो सकता है। किंतु यह सर्वेश्वरवाद न होकर वास्तव में अद्वैतवाद ही है। क्योंकि यह सब नामरूप को हटाने के बाद ब्रह्म ही है। वेदांती के अनुसार ‘नामरूप’ पदों का अर्थ, इंद्रियग्राह्य पदार्थ और तज्जनित प्रतिक्रिया है। विवेकानंद के चिंतन की दिशा को भी अद्वैत समर्थित माना जा सकता है। इसके उदाहरणस्वरूप उनके निम्नलिखित कथनों को उद्धृत किया जा सकता है:—

“एकमात्र सत्य वही है। वही यह मेज है, वही दर्शक है, वही दीवाल है, वही सब कुछ है; पर नाम और रूप से रहित। मेज में से नाम और रूप को हटा दो — जो बचेगा, वही वह सत्ता है”।⁴

यह वेदांतिक अद्वैतवाद की स्थापना है। उनके दर्शन को स्पष्टतः सर्वेश्वरवाद मानना उचित नहीं है क्योंकि सर्वेश्वरवाद में प्रकृति और ईश्वर एकरूप हैं किंतु यहाँ नामरहित सत्ता का उल्लेख हुआ है। ‘ईश्वर सबकुछ है और सबकुछ ईश्वर है’ — यह कथन सर्वेश्वरवाद के मर्म को संक्षेप में व्यक्त करता है। इसे वेदांती पूर्णतः स्वीकार नहीं करते हैं। वेदांती यह तो स्वीकार करते हैं कि ‘ईश्वर सबकुछ है’ किंतु सबकुछ को ईश्वर नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अद्वैत वेदांत के अनुसार ईश्वरेतर तत्त्व के अतिरिक्त अन्य सभी केवल ‘माया’ अथवा

आभास है। द्वितीयतः 'सबकुछ' या जगत् को ही ईश्वर मान लेने से ईश्वर जगत् में ही सीमित हो जाते हैं। इससे उनके पारगामी रूप का हनन होता है जो वेदांतियों को मान्य नहीं है।

स्वामी विवेकानंद ने 'सत्' या 'ब्रह्म' का जो स्वरूप बताया है, वह निम्नानुसार है—

“विवेकानंद ने सत् या ब्रह्म को अनंत, एक तथा अविभाज्य के रूप में निरूपित किया है”।⁵ निरपेक्ष सत् पूर्ण ईकाई है, अतः सत् में 'सम्पूर्णता' एवं अवयवों का प्रश्न ही नहीं उठता। यह एक है क्योंकि यदि अनंत दो हो तो वे एक—दूसरे को सीमित कर देंगे।

विवेकानंद सत् को व्यक्तित्व कहकर भी सम्बोधित करते हैं। इस सम्बंध में उनके निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य हैं:—

“हमारे संसार में व्यक्तित्व के नाम से ऐसा कुछ सूचित होता है, जो अपरिणामी है। परिवर्तनशील व्यक्तित्व हो ही नहीं सकता, यह स्व—विरोधी वाक्य है। अतः हमारे इस क्षुद्र जगत् में व्यक्तित्व के नाम से कुछ भी नहीं रह जाता”।⁶

विवेकानंद ने व्यक्तित्व (अंग्रेजी में इन्डीविड्यूअल) से आशय विभाजित न की जा सकने वाली सत्ता से किया है। उन्होंने नैतिकता की दृष्टि से भी 'स्वरहित' आत्म को क्षुद्र अहं भावसम्पन्न व्यक्तित्व से अधिक कारगर बताया है।

“यह निरपेक्ष सत् इन्द्रियों और बुद्धि से परे है। वे कहते हैं — “जो शाश्वत् 'सत्' है, इन्द्रियों और बुद्धि से परे है वह स्वयं ईश्वर ही है”।⁷

विवेकानंद के अनुसार ब्रह्म अज्ञेय है किंतु वे अज्ञेयवादियों से अलग अर्थ करते हैं। उनके निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य हैं —

“सत्यस्वरूप ब्रह्म अज्ञात और अज्ञेय है, परंतु अज्ञेयवादियों की दृष्टि से नहीं। हम उसे जान गए यह कहना ही पाखंडपूर्ण बात है; क्योंकि पहले से ही तुम 'वही' हो”।⁸

वह निरपेक्ष सत् को विशुद्ध विज्ञाता बताते हैं। जो सभी को जानने वाला है उसे ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता। उनके निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य हैं —

“विज्ञाता को किस तरह जाना जाता है ? आँखें सब वस्तुओं को देखती हैं, पर क्या वे अपने आप को भी देख सकती हैं ? नहीं देख सकतीं। ज्ञान की क्रिया ही एक नीची अवस्था है। ...यदि ज्ञान का अर्थ सीमाबद्ध करना ही हो तो क्या इस अनंत के संबंध में भी तुम ऐसा कर सकते हो ? जो सब ज्ञानों का उपादान (आधार) है, जिसे छोड़कर तुम किसी तरह का ज्ञान अर्जित नहीं कर सकते, जिसके कोई गुण नहीं हैं, जो सम्पूर्ण संसार और हम लोगों की आत्मा का साक्षीस्वरूप है, उसके संदर्भ में तुम वैसा कैसे कर सकते हो — उसे तुम कैसे सीमा में ला सकते हो ? उसे तुम कैसे जान सकते हो” ?⁹

उपर्युक्त उद्धरण में ब्रह्म को विशुद्ध विज्ञाता बताया गया है। वह ज्ञान का आधार है, स्वयं ज्ञानस्वरूप है। ज्ञाता होने से उसका ज्ञान अन्य दूसरे के द्वारा नहीं हो सकता है, इंद्रियाँ भी इसी अर्थ में अतीन्द्रिय हैं क्योंकि वे सबका ज्ञान करती हैं लेकिन स्वयं खुद का ज्ञान नहीं करती हैं। वस्तुतः ज्ञान का अर्थ सीमाबद्ध करना है। एक ज्ञान को दूसरे ज्ञान से अलग करना है। ज्ञान तो वास्तव में अवरोध है। स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानंद के निरपेक्ष सत् या ब्रह्म की अवधारणा प्रायः अद्वैत वेदांत के समान ही है। स्वामीजी के अनुसार ब्रह्म वस्तुतः अनिर्वचनीय स्वरूप का है। उपनिषद् ब्रह्म का निर्वचन ‘नेति नेति’ के द्वारा करते हैं; जो कि निर्वचन की सीमा है।

2.1.2: ईश्वर का स्वरूप:—

अद्वैत वेदांत में अन्तःकरण की उपाधियुक्त चैतन्य (ब्रह्म) है; मायोपाधिक चैतन्य सगुण ब्रह्म या ईश्वर है एवं निरुपाधिक ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म है। ब्रह्म की शक्ति माया के कारण एक साथ ही ईश्वर, जीव एवं जगत् का विभेद प्रकट होता है। वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म के रूप में एक ही सत्ता विद्यमान है। स्वामी विवेकानंद ने इस अनिर्वचनीय स्वरूप के निर्गुण ब्रह्म के साथ ही सगुण ब्रह्म या ईश्वर का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार सगुण ब्रह्म, निर्गुण ब्रह्म का निचला स्तर नहीं है, वह निर्गुण ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, कोई आभास नहीं। वस्तुतः निर्गुण और सगुण ब्रह्म दोनों एक ही हैं। दोनों अपृथक् हैं। दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। यह उनके निम्नलिखित कथनों से और भी स्पष्ट हो जाता है:—

“ईश्वर कौन है ? जिससे विश्व का जन्म, स्थिति, प्रलय होता है, वही ईश्वर है। वह अनंत, शुद्ध, नित्य मुक्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, परम कारुणिक और गुरुओं का भी गुरु है और सर्वोपरि, वह ईश्वर अनिर्वचनीय और प्रेमस्वरूप है। ये सभी परिभाषाएँ निश्चय ही सगुण ईश्वर की हैं। तो क्या ईश्वर दो हैं ? एक सच्चिदानंद, जिसे ज्ञानी ‘नेति नेति’ करके प्राप्त करता है और दूसरा, भक्त का यह प्रेममय भगवान ? नहीं वह सच्चिदानंद ही प्रेममय भगवान है, वह सगुण और निर्गुण दोनों है। यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि भक्त का उपास्य सगुण ईश्वर, ब्रह्म से पृथक् नहीं है। सब कुछ वही एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म है। पर हाँ, ब्रह्म का यह निर्गुण निरपेक्ष स्वरूप उपासना के योग्य नहीं है। इसीलिए भक्त ब्रह्म के सापेक्ष भाव अर्थात् परम नियन्ता ईश्वर को ही उपास्य के रूप में ग्रहण करता है”¹⁰

इस प्रकार, धार्मिक उपासना की दृष्टि से भक्त के लिए सगुण ईश्वर की आवश्यकता है। डॉ. बसंत कुमार लाल के मत में भी “विवेकानंद का निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म का विभाग केवल दृष्टिभेद है। तात्त्विक दृष्टि से जो ब्रह्म है, वही धार्मिक दृष्टि से ईश्वर है”¹¹ विवेकानंद ने सगुण ब्रह्म को निर्गुण ब्रह्म का आभास मात्र न मानकर, उसे निर्गुण ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वीकार किया है। उनके दर्शन में निर्गुण और सगुण ब्रह्म जैसे दो स्तर नहीं हैं। वस्तुतः जो सगुण ब्रह्म हैं वही निर्गुण ब्रह्म हैं।

‘सच्चिदानंद’ स्वरूप के उनके अर्थ निरूपण में सत् और चित् की अवधारणाएँ प्रायः अद्वैत वेदांत के समान ही हैं। वेदांती सत् का लक्षण त्रिकाल में अबाधित सत्ता से करते हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य में जिसकी सत्ता एक जैसी बनी रहे। हमारे इन्द्रियग्राह्य जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो इस कसौटी पर खरी उतरे। प्रगाढ़ निद्रा में विषयों, इंद्रियों आदि का अनुभव नहीं होता अतः तत्तज्जन्य सुख की उपस्थिति का भी प्रश्न नहीं उठता। किन्तु फिर भी एक प्रकार के आह्लाद का अनुभव सतत होता रहता है। वेदांती इसी इंद्रियातीत सुख को आनंद की संज्ञा देकर इसे जीव, आत्मन् या ब्रह्मन् का स्वरूप निरूपित करते हैं। स्वामी विवेकानंद अपने नव्य वेदांत में, ‘आनंद’ लक्षण का ऐसा अर्थ अभिव्यक्त करते हैं जो अन्यत्र दिखाई नहीं देता। वह आनंद के मूल में ‘प्रेम’ को स्वीकार करते हैं। स्वामीजी कहते हैं – “ब्रह्म आनंद है, जो प्रेम के समरूप ही है”¹²

यहाँ कुछ कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। अद्वैत वेदांत में 'प्रेम' या 'प्रीति' का सम्बंध, द्वैत के स्तर पर उतर आना है। प्रेम के लिए प्रेमास्पद की सत्ता अनिवार्य है जबकि अद्वैत में केवल एक ही सत्ता होने से ऐसी सरसता के लिए स्थान शेष नहीं रहता। वहाँ प्रेम केवल पार्थिव वैयक्तिक संवेग मात्र है। अद्वैत वेदांत के बाद विकसित वैष्णव संप्रदायों ने जरूर प्रेम की संकल्पना को विकसित किया। स्वामी विवेकानंद ने 'आनंद' के मूल में प्रेम को स्वीकार करके इसकी अद्वैती भावना के अनुरूप अवैयक्तिक, असंवेगात्मक तथा दिव्य संकल्पना को प्रस्तुत किया है। इस प्रकार वह 'सच्चिदानंद ईश्वर' को ही 'प्रेममय ईश्वर' बना देते हैं। उनका यह कथन द्रष्टव्य है— "सच्चिदानंद ही प्रेममय भगवान है, वह सगुण और निर्गुण दोनों है"।¹³

"स्वामी विवेकानंद ने सच्चिदानंद ब्रह्म के स्वरूप लक्षण में आनंद लक्षण के मूल में 'प्रेम' को स्वीकार करके व्यक्तिरहित एवं व्यक्तित्वयुक्त ईश्वर को एक कर दिया है। विवेकानंद के दर्शन के जो समीक्षक 'प्रेम' को केवल एक वैयक्तिक तथा सांवेगिक मूल्य स्वीकार करते हैं, वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि विवेकानंद ने शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत से अलग अर्थ निरूपण किया है एवं इस कारण उनके वेदांत को नव्य-वेदांत कहा जाना उचित है। लेकिन यदि 'प्रेम' के निवैयक्तिक, असांवेगिक, सार्वभौमिक एवं दिव्य रूप को स्वीकार किया जाए तो यह 'आनंद' की अद्वैती भावना के अनुरूप ही एक सरस अद्वैती संकल्पना होगी। इस दृष्टि से शंकराचार्य के अद्वैत-वेदांत एवं स्वामी विवेकानंद की वेदांत की व्याख्या में मौलिक अन्तर नहीं होगा। दोनों के दर्शनों में किंचित भेद इसलिए दिखाई देता है कि जहाँ विवेकानंद ब्रह्म की धारणा की धार्मिक या आध्यात्मिक दृष्टि से व्याख्या करते हैं, वहीं शंकराचार्य इसकी ओर तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से देखते हैं"।¹⁴

अद्वैत वेदांत के अनुसार सगुण ब्रह्म या ईश्वर इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण हैं। जगत्कारणता ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। जो लक्षण लक्ष्य से भिन्न रहकर ही लक्ष्य का बोध कराता हो, उसे 'तटस्थ' लक्षण कहा जाता है। ब्रह्म का दूसरा लक्षण स्वरूप लक्षण कहलाता है। जो लक्षण लक्ष्य का स्वरूप बताता हो, उसे स्वरूप लक्षण कहते हैं। प्रथम

में लक्ष्य से अलग जगत् की उत्पत्ति के कारण से लक्ष्य अर्थात् ब्रह्म को समझाया गया है। दूसरे में स्वयं लक्ष्य अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप बताया गया है। यह सच्चिदानंद है।

भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए कुछ प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं। स्वामीजी ने भी इन पर विचार किया है।

2.1.3: ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के तर्क :-

विवेकानंद के अनुसार यदि हम जगत् एवं आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं, तो उनके अनिवार्य आधार के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना भी आवश्यक हो जाता है। किंतु यहाँ एक प्रकार की दुविधा उत्पन्न होती है, यदि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने में ऐसी अनिवार्यता अंतर्निहित है तो सभी धर्म एवं धार्मिक सम्प्रदाय ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तर्क प्रस्तुत करने के लिए क्यों उद्यत होते हैं ? वस्तुतः विवेकानंद को भी ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य प्रतीत होता है। वह आत्मा एवं जगत् के समान ही साक्षात् अनुभूतिगम्य है। ऐसे में उनके दर्शन में इसे सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त बौद्धिक युक्तियों का स्थान गौण है। उनके दर्शन में इन युक्तियाँ का स्थान गौण होने के बाद भी इनकी उपयोगिता है। विवेकानंद के अनुसार इन युक्तियों की उपयोगिता कम से कम दो कारणों से है। ईश्वर की अनुभूति हर किसी को हर कभी तो नहीं हो सकती है। इसके लिए तो कई वर्षों की कठोर साधना तथा आत्म-अनुशासन एवं मनन की आवश्यकता पड़ती है। बहुत कम ही लोग इस प्रकार की अनुभूति का दावा कर सकते हैं। अतएव अधिकांश व्यक्तियों के लिए तो इस अनुभूति के लिए प्रारम्भिक अभिरुचि एवं श्रद्धा का आधार होना चाहिए एवं वह प्रारम्भ में उसी प्रकार के विश्वास पर अपना ध्यान केंद्रित कर सकता है, जिसकी प्रामाणिकता प्रस्तुत की जा सके तथा जिसका आधार बौद्धिक हो। इस कारण से ईश्वर-अस्तित्व के पक्ष में दिए गए तर्कों की उपयोगिता है। विवेकानंद के अनुसार दूसरा कारण यह है कि जिन दृष्टाओं को ईश्वरीय अनुभूति हुई है, वे अनुभव को अन्य तक कैसे पहुँचा सकते हैं। वह तो विशिष्ट प्रकार की अनुभूति है; साधारण दृष्टि से रहस्यात्मक होने से इसकी व्याख्या सरल नहीं है। इसीलिए सामान्य मनुष्यों के अवबोध के लिए इन

अनुभूतियों की यथार्थता एवं प्रामाणिकता को बौद्धिक परिवेश में प्रस्तुत करना पड़ता है। अतएव इन कारणों से इन युक्तियों की उपयोगिता है।

इस स्थल पर एक कठिनाई उत्पन्न होती है। विवेकानंद कोई अकादमिक विद्वान तो हैं नहीं कि उन्होंने एक ही स्थल पर इन युक्तियों का उल्लेख ठीक उन्हीं साँचों में किया हो, जिनको देखने के दर्शन के अध्येता अभ्यस्त हैं। यद्यपि डॉ. बसंत कुमार लाल के अनुसार जिन दो प्रकार के बौद्धिक प्रमाणों का विवरण मिलता है, उन दोनों प्रकार के प्रमाणों का उदाहरण विवेकानंद के लेखों में भी उपलब्ध है। इन प्रमाणों को दो प्रकार के प्रमाणों, प्रागनुभविक एवं अनुभव सापेक्ष प्रमाणों के अंतर्गत समाहित किया जा सकता है। इन दो प्रकार के प्रमाणों के विवरण के लिए डॉ. बसंत कुमार लाल के कथनों को उद्धृत करना उपयुक्त होगा। डॉ. बसंत कुमार लाल के निम्न कथन दृष्टव्य हैं :

“कुछ ऐसे प्रमाण हैं जो ईश्वर—अस्तित्व की स्थापना के लिए जगत् में ईश्वर—अस्तित्व के साक्ष्यों या उसके कार्यफलों को एकत्रित करते हैं, तथा उसके आधार पर ईश्वर—अस्तित्व की स्थापना करते हैं, ऐसे प्रमाणों को अनुभव—आश्रित प्रमाण कहते हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसे प्रमाण भी दिए जाते हैं, जो ईश्वर—अस्तित्व की स्थापना के लिए किसी प्रकार के आनुभविक साक्ष्यों का सहारा नहीं लेते बल्कि, ईश्वर भाव के विश्लेषण के आधार पर ही ईश्वर—अस्तित्व तक पहुँच जाते हैं, उन्हें प्रागनुभविक प्रमाण कहा जाता है”¹⁵

उक्त आधार पर ईश्वर—अस्तित्व की स्थापना के लिए दिए गए तर्क निम्नवत् हैं।

2.1.3.1: पारम्परिक प्रयोजनात्मक प्रमाण :—

इस प्रमाण के अनुसार ईश्वर इस जगत् के प्रायोजक हैं। इस जगत् में व्यवस्था, सम्पूर्णता तथा सामंजस्य है। इसका कोई प्रायोजक भी होना चाहिए। वह प्रायोजक कारण चेतन तथा व्यक्तित्वयुक्त ईश्वर है। जैसे घड़ी एक निश्चित नियम के अनुसार चलती है क्योंकि इसे एक चेतन घड़ीसाज बनाता है वैसे ही इस विश्व में सर्वत्र सम्पूर्णता तथा व्यवस्था इसके एक चेतन व्यवस्थापक, ईश्वर के कारण है। साथ ही, सृष्टिकर्ता ईश्वर इस विश्व की सृष्टि एक प्रारूप के आधार पर करता है। यह प्रारूप ईश्वर के मन में

पहले से ही विद्यमान है। स्वामी विवेकानंद ने इस तर्क को आंशिक स्वीकृति प्रदान करते हैं। उनके निम्नलिखित कथन दृष्टव्य हैं :

“यह कल्पना कि प्रकृति के सारे व्यवस्थित विन्यासों में विश्व के सृष्टा की कोई पूर्व-योजना (या परिकल्पना) दिखाई देती है, शिशुशाला के बच्चों को परमेश्वर के सौंदर्य, शक्ति और महिमा को दिखाने के लिए अच्छा पाठ है, जिसके द्वारा वे धर्म के क्षेत्र में ईश्वर की दर्शन सम्मत धारणा तक क्रमशः बढ़ सकें। परंतु इससे अधिक इसका कोई महत्व नहीं, और यह एकदम तर्कहीन जान पड़ती है। यदि ईश्वर को सर्वशक्तिमान माना जाए, तो दार्शनिक विचार के नाते इसकी कोई भित्ति नहीं। यदि प्रकृति विश्व के निर्माण में परमेश्वर की शक्ति का प्रमाण है, तो इस कार्य में पूर्व-योजना मानना भी उस ईश्वर की कमजोरी सिद्ध करना है। यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, तो उसे प्रारूप की क्या आवश्यकता ? कोई भी कार्य करने के लिए उसे तो बस इच्छा भर करनी चाहिए, और वह पूरी हो जाती है। कोई प्रश्न, कोई रूपरेखा, कोई योजना प्रकृति में ईश्वर की नहीं चाहिए।.....यह सृष्टि मनुष्य (जीव) की आवश्यकता के लिए है, ईश्वर की नहीं। यह कहना कि ऐसी योजना है, उसे सीमित करना है। ...उदाहरणार्थ यदि तुम किसी बड़ी चौड़ी नदी के पास जाओ, इतनी चौड़ी कि बिना पुल बनाए तुम उसे पार ही न कर सको, तो यह तथ्य कि तुमको पुल बनाना पड़ेगा और उसके बिना तुम नदी के पार नहीं जा सकते, तुम्हारी सीमा, तुम्हारी कमजोरी दिखायेगा, यद्यपि यह पुल बनाने की तुम्हारी शक्ति भी व्यक्त करेगा। यदि तुम सीमित न होते तो सहज उड़ सकते या उस पार कूद सकते, तो तुमको पुल बनाने की जरूरत नहीं पड़ती; और सिर्फ अपनी शक्ति दिखाने के लिए पुल बनाना भी पुनः एक प्रकार की कमजोरी होती, चूँकि उससे और कोई गुण नहीं केवल तुम्हारा अहंकार प्रकट होता”।¹⁶

इस प्रकार स्वामीजी ने प्रयोजनात्मक तर्क का कुछ सीमा तक केवल व्यावहारिक महत्व स्वीकार किया है। ईश्वर को सृष्टि करने के लिए किसी प्रारूप या पूर्व-योजना की आवश्यकता नहीं है।

2.1.3.2: कार्यकारणमूलक प्रमाण :-

इस प्रमाण में कार्य से हेतु अनुमित होता है। यह विश्व कार्य या परिणाम है अतः इसका कोई कारण भी होना चाहिए और वह कारण ईश्वर है। स्वामी विवेकानंद ने ईश्वर को जो देश-काल कार्यकारण के अंतर्गत है, इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण माना है। चूँकि कारण कार्य से न्यून नहीं हो सकता अतः यह विश्व जिससे उत्पन्न हुआ है, उसका कारण स्वयंमेव विश्व न होकर उससे व्यापक तत्त्व होना चाहिए और वह ईश्वर है। सगुण ब्रह्म या ईश्वर इस जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। जगत् जड़ है इसलिए उसको बनाने वाला चेतन कारण ही होना चाहिए। जैसे घड़ी का निर्माता चेतन घड़ीसाज है। वस्तुतः ब्रह्म, माया के द्वार से इस जगत् का निमित्तोपादान कारण है। ब्रह्म इस जगत् को माया के माध्यम से बनाता है। यह जगत् माया का परिणाम एवं ब्रह्म का विवर्त है। वास्तविक परिणाम के रूप में यह जगत् माया से उत्पन्न होता है इसलिए महाप्रलय के समय उसी में लीन है। अविद्या स्वयं ब्रह्म की शक्ति है और उसी पर आश्रित है। परिणाम तो माया का ही होता है इसलिए इस जगत् को ब्रह्म का आभासिक परिणाम या विवर्त स्वीकार किया जाता है। यदि उसे उपादान कारण न मानें तो अन्य किसी तत्त्व को उपादान कारण मानना पड़ेगा जैसे प्रकृति या स्वतंत्र जड़ आदि, तब निरपेक्ष सत्ताएँ दो हो जाएँगीं, अनंत दो हो जाएँगे जो एक-दूसरे को सीमित कर देंगे। अतः जगत् जिससे बना है, या बना हुआ सा प्रतीत होता है, वह पदार्थ भी स्वयं ब्रह्म ही है। यदि उसे निमित्त कारण न मानें तो अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। विवेकानंद के अनुसार वस्तुतः निरपेक्ष ब्रह्म देश-काल-कारणता से परे हैं। यह विवेकानंद के निम्नलिखित कथनों से स्पष्ट होता है :

“अन्योन्याश्रयता अथवा परस्पर सापेक्षता समस्त विश्व का नियम है। जब हम यह पूछते हैं, ब्रह्म पर किस कारण ने कार्य किया ? तो हम कितनी बड़ी भूल करते हैं। यह प्रश्न करने का अर्थ है कि ब्रह्म भी अन्य किसी के अधीन है — वह निरपेक्ष ब्रह्म सत्ता भी अन्य किसी के द्वारा बद्ध है, अर्थात् ‘ब्रह्म’ अथवा ‘निरपेक्ष सत्ता’ शब्द को हम जगत् के समान समझते हैं — हम उसे जगत् के स्तर पर नीचे खींच लाते हैं, ब्रह्म में देश-काल-निमित्त है ही नहीं; क्योंकि वह एकमेवाद्वितीयम् है”।¹⁷

अभिप्राय यह है कि कार्यकारण भावमूलक तर्क से हम सगुण ब्रह्म की सत्ता का अनुमान कर सकते हैं। अतएव स्वामी विवेकानंद ने कार्यकारण भावमूलक तर्क से ईश्वर के अस्तित्व-सिद्धि को स्वीकृत किया है।

2.1.3.3: श्रुति-प्रमाण :-

विवेकानंद के अनुसार जब तक हमें 'ईश्वर' का ज्ञान या ईश्वरीय अनुभूति प्राप्त नहीं होती, तब तक तो हमें इन शास्त्रों का सहारा लेना ही है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि हम इन शास्त्रों के ईश्वरीय आधार का निषेध कर रहे हैं। वे कहते हैं कि हम अपने सामान्य जीवन में प्रारम्भिक ज्ञान एवं विश्वास के लिए इन शास्त्रों में चर्चित ईश्वर-विचार को अपना आधार बना सकते हैं। यही कारण है कि विवेकानंद ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए शास्त्रों के उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। वे प्रायः वेद, उपनिषद आदि श्रुति ग्रंथों एवं गीता के वचनों को उद्धृत करते हैं।

उनके व्याख्यानों में 'ईश्वरीय अनुभूति' को प्रधानता देने के कारण यह शंका उपस्थित हो सकती है कि वे श्रुति-प्रमाण को गौण स्थान देते हैं और 'निर्विकल्प समाधि' जैसे किसी रहस्यवादी अनुभव से ही ब्रह्मज्ञान को संभव मानते हैं। वर्तमान समय के एक विद्वान प्रो. अनंतानंद रामबचन ने अपने, "द अटेनमेंट ऑफ मोक्ष एकाईजिंग टू शंकर एंड विवेकानंद विथ स्पेशल रिफरेंस टू द सिगनिफिकेंस ऑफ स्क्रिपचर (श्रुति) एंड एक्सपिरिएंस (अनुभव)" नामक शोध-प्रबंध में इसी प्रकार की शंका व्यक्त की है। उन्होंने शंकराचार्य के दर्शन में 'श्रुति-प्रमाण' को प्रदत्त महत्व को मापदण्ड बनाकर, विवेकानंद के द्वारा 'अनुभव' को दिए गए महत्व की आलोचना की है। उन्होंने श्रुति प्रमाण के द्वारा प्राप्त ज्ञान के सम्बंध में, विवेकानंद की समझ को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है :

"विवेकानंद श्रुति से प्राप्त ज्ञान को अस्थायी, प्राक्कल्पित, सैद्धांतिक एवं दूसरे दर्जे की गुणवत्ता वाला मानते हैं"।¹⁸

प्रो. रामबचन के अनुसार ब्रह्मज्ञान में श्रुति-प्रमाण की उपयोगिता तो है किंतु दूसरे दर्जे का यह सैद्धांतिक ज्ञान पहले दर्जे की ज्ञान प्राप्ति की इच्छा के लिए एक उत्प्रेरक के समान

है। प्रो. रामबचन श्रुति-प्रमाण के सम्बंध में शंकराचार्य एवं विवेकानंद के मतों की तुलना निम्नलिखित शब्दों में करते हैं:

“विवेकानंद के मत में, शंकराचार्य के समान श्रुति, 'ब्रह्म' के लिए अंतिम ज्ञान का एक प्रमाण न होकर, एक अन्य उपाय (योग) की अभिव्यक्ति हेतु पूर्वावस्था भर है, जिससे आध्यात्मिक सत्यों की अपरोक्ष एवं स्वतंत्र खोज की जा सके। अपने आध्यात्मिक बाल्यकाल में हम श्रुति पर ठहर सकते हैं किंतु फिर हमें इससे परे जाना होगा एवं इसके दावों की पुष्टि करना होगी”।¹⁹

प्रो. रामबचन ने राजयोग को वह उपाय, मार्ग या योग माना है जिसके माध्यम से रहस्यमयी अनुभूति के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। तत्पश्चात् इस अनुभूति के प्रकाश में वेद में वर्णित कथनों को परखा जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि विवेकानंद के अनुसार आध्यात्मिक सत्यों के व्यक्तिगत रहस्यवादी अनुभव से श्रुति-प्रमाण के कथनों का भी परीक्षण किया जा सकता है। श्रुति-प्रमाण की प्रामाणिकता का परीक्षण व्यक्तिगत अनुभवों से किया जा सकता है। प्रो. रामबचन को विवेकानंद के व्याख्यानों में ऐसे स्थल भी मिल जाते हैं, जिनसे वे श्रुति के ऊपर व्यक्तिगत अनुभव को रखते हुए प्रतीत होते हैं। उन्हें इस स्थल पर विवेकानंद के इस मत की आलोचना करने के एकाधिक बिंदु मिल जाते हैं क्योंकि भारतीय दर्शन का मीमांसा सम्प्रदाय वेद को अपौरुषेय मानता है। इस मान्यता में यह निष्कर्ष भी अंतर्निहित है कि जब वह किसी का व्यक्तिगत अनुभव नहीं है तो उसकी प्रामाणिकता को किसी के व्यक्तिगत अनुभव से कैसे परखा जा सकता है ? मीमांसा दर्शन के अनुसार वेद किसी व्यक्ति या जीव की सृष्टि नहीं है, इसलिए उसमें किसी भी प्रकार के दोष की संभावना नहीं है। यह अनादि, नित्य एवं उत्पत्तिरहित है इसलिए यह प्रामाणिक ज्ञान का स्रोत है। वेद को शब्दराशि माना गया है। अतएव वेद की नित्यता और अपौरुषेयता सिद्ध करने के लिए शब्द को नित्य सिद्ध करना आवश्यक है। मीमांसा दर्शन ने ऐसा ही किया है। इस सम्बंध में डॉ. चन्द्रधर शर्मा के निम्नलिखित कथन प्रासंगिक हैं—

“वेद की नित्यता और अपौरुषेयता सिद्ध करने के लिए मीमांसा ने शब्द, अर्थ और शब्दार्थसम्बंध, इन तीनों को नित्य माना है। शब्द दो या अधिक वर्णों का समूह होता है। वर्ण को नित्य, सर्वगत और निरयव स्वीकार किया गया है। उच्चरित वर्ण उसकी ध्वनि से भिन्न है और लिखित वर्ण उसके रूप से भिन्न है। वर्ण नित्य और अपरिणामी है; किंतु उसकी उच्चरित ध्वनि या लिखित रूप अनित्य तथा परिवर्तनशील होते हैं। नित्य वर्णों का समूह होने के कारण शब्द भी नित्य है। शब्द का अर्थ भी नित्य होता है क्योंकि शब्द का वाच्य अनित्य तथा परिणामी व्यक्ति-पदार्थ नहीं होता, अपितु नित्य सामान्य होता है जो व्यक्तियों में अनुगत रहता है। शब्द और अर्थ का सम्बंध भी नित्य होता है; यह न ईश्वर-संकेत से आता है और न रुढ़िगत वृद्ध-व्यवहार से। वेद अपौरुषेय हैं, और उनमें शब्दों का क्रम या आनुपूर्वी भी नित्य तथा स्वतः निर्धारित है। अतः वेद की नित्यता, अपौरुषेयता और स्वतःप्रामाण्य स्वतः सिद्ध हैं”²⁰

स्पष्ट है कि मीमांसा दर्शन शब्द की अपने आप में ही प्रामाणिकता को स्वीकार करता है। उसके मत में वेद इसलिए प्रामाणिक नहीं हैं कि उनका उत्पत्तिकर्ता सर्वज्ञ ईश्वर है, क्योंकि वह तो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करता है।

प्रो. रामबचन के मतानुसार, शंकराचार्य वेद के अपौरुषेयत्व, नित्यत्व एवं स्वतः सिद्धत्व को मीमांसा के समान स्वीकार कर लेते हैं। यद्यपि वे ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं एवं ईश्वर को प्रत्येक कल्पारंभ में वेद की अभिव्यक्ति का कारण मानते हैं। तथापि शंकराचार्य वेद की प्रामाणिकता इस आधार पर सिद्ध नहीं करते हैं कि वे ईश्वर से अभिव्यक्त होते हैं एवं ईश्वर सर्वज्ञ हैं इसलिए उनसे गलती नहीं हो सकती है क्योंकि ऐसा करने में चक्रक दोष निहित है। ईश्वर की सत्ता का ज्ञान तो केवल वेद से ही हो सकता है। वेद शब्द प्रमाण है। अन्य प्रमाणों से ईश्वर का ज्ञान नहीं हो सकता। रूपादि से रहित होने के कारण यह प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता एवं अलिंग (कारणरहित) होने से यह अनुमान का विषय नहीं हो सकता। उपमान आदि अन्य प्रमाण भी प्रत्यक्ष एवं अनुमान पर ही आश्रित होने के कारण ईश्वर या ब्रह्म तक इनकी गति नहीं है।

विवेकानंद ईश्वर को प्रत्यक्षानुभूतिगम्य मानते हैं। प्रो. रामबचन ने इस शब्द का आशय इन्द्रियानुभूति पर आश्रित प्रत्यक्ष प्रमाण ग्रहण किया है। लेकिन विवेकानंद का आशय यह नहीं है। वे तो अपरोक्षरानुभूति या अद्वैत वेदांत में वर्णित निदिध्यासन को प्रत्यक्षानुभूति कहते हैं। उनका इस आधार पर तो अद्वैत वेदांत से कोई विरोध नहीं है। बस इतना ही है कि विवेकानंद इस अनुभूति को शब्द प्रमाण से अधिक महत्व देते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि वे एक आधुनिक चिंतक हैं एवं उनका विचार का क्षेत्र बहुत विस्तृत है इसलिए उनको अपने अद्वैत वेदांत में कुछ परिवर्तन करने पड़े हैं एवं कुछ स्थलों पर इसका विस्तार करना पड़ा है।

2.1.3.4: अंतःप्रज्ञामूलक या प्रत्यक्षानुभूतिमूलक प्रमाण :—

विवेकानंद के अनुसार अंतःप्रज्ञात्मक प्रमाण सर्वाधिक ठोस प्रमाण है। उनके मत में साधना के उपरान्त, ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। यह प्रत्यक्ष अनुभव इंद्रिय-प्रत्यक्ष एवं बौद्धिक ज्ञान से भिन्न है। उनके अनुसार जब ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव संभव है तब अन्य बौद्धिक प्रमाणों का अधिक महत्व नहीं रह जाता। ऐसे महापुरुषों के जीवन-दृष्टांत दिए जा सकते हैं जिन्हें ईश्वर की साक्षात् अनुभूति हुई है।

इस प्रकार स्वामी विवेकानंद के साहित्य में चार प्रकार के प्रमाणों का उल्लेख हुआ है। वह प्रथम, प्रयोजनात्मक प्रमाण को आंशिक स्वीकृति तथा अंतिम तीन प्रमाणों को पूर्ण स्वीकृति प्रदान करते हैं। इसके बाद विवेकानंद की जगत् सम्बंधी अवधारणा पर विचार प्रस्तुत है।

2.2: विवेकानंद के दर्शन में जगत् —

अद्वैत वेदांत दर्शन में माया के द्वार से जगत् की उत्पत्ति को स्वीकार किया जाता है। ब्रह्म माया की अभिन्न शक्ति है। माया का आश्रय या अधिष्ठान ब्रह्म है। जगत् ब्रह्म का विवर्त है एवं माया का परिणाम है। विवेकानंद सृष्टि की प्रक्रिया पर विचार करते हुए सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया का उल्लेख करते हैं। सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद को स्वीकार करता है। इस मत के अनुसार कार्य, कारण की ही अभिव्यक्ति है। कार्य कोई दूसरी सृष्टि नहीं है बल्कि कारण का ही परिणाम है। कार्य, कारण में अंतर्निहित

है। विवेकानंद के अनुसार आधुनिक विज्ञान के कमविकासवादी सिद्धांत भी मान्य है। वे शून्यवादियों की इस दलील का दृढ़ता से खंडन करते हैं कि 'शून्य से ही सारी सृष्टि हुई'। वे कहते हैं शून्य से कभी सृष्टि नहीं हो सकती। जो कभी था ही नहीं उससे कभी कोई वस्तु पैदा नहीं हो सकती। इस स्थल पर पहुँचकर वे 'सूक्ष्म से स्थूल' के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। वे आधुनिक कमविकासवादियों के विकासवाद का समर्थन करते हैं, किंतु कमविकास के साथ कमसंकोच को भी मानते हैं। जैसे वृत्त का आदि बिंदु ही उसका अंत होता है वैसे ही सृष्टि भी वृत्त के समान चक्र पूरा करके पुनः अपने मूल में लीन हो जाती है। उनका कहना है कि कोई वस्तु अचानक ही दृष्टिगोचर नहीं होने लगती। वे सर्ग की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह विश्व पहले अव्यक्त में रहता है। फिर क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल तथा स्थूलतर होता हुआ विकसित होता है, फिर जैसे अर्ध वृत्त के उपरांत दिशा परिवर्तित होकर पुनः आरंभ बिंदु की ओर लौटती है वैसे ही यह विश्व क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर होता हुआ अव्यक्त हो जाता है। वस्तुतः यह न तो उत्पन्न होता है और न ही इसका नाश होता है। बस केवल अभिव्यक्ति के परिमाण का ही परिवर्तन होता है। जब सूक्ष्मावस्था से यह जगत् स्थूल होता है तो इसे हम सृष्टि कहते हैं और जब अभिव्यक्ति विपरीत दिशा में होती है अर्थात् संकोच होता है तो यही प्रलय है। यह जगत् स्थिर न होकर परिवर्तनशील है। इस सम्बंध में उनके यह कथन दृष्टव्य हैं:

“तब यह ब्रह्माण्ड किस वस्तु से उत्पन्न हुआ है ? पूर्ववर्ती सूक्ष्म ब्रह्माण्ड से। मनुष्य किस वस्तु से उत्पन्न हुआ है ? पूर्ववर्ती सूक्ष्म रूप से। वृक्ष कहाँ से आया ? बीज से। समूचा वृक्ष बीज में विद्यमान था — वह केवल व्यक्त हो गया है। अतएव यह जगत् ब्रह्माण्ड अपनी ही सूक्ष्मावस्था से उत्पन्न हुआ है। अब वह व्यक्त मात्र हो गया है। वह फिर से अपने सूक्ष्म रूप में चला जाएगा, फिर से व्यक्त होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूक्ष्म रूप व्यक्त होकर स्थूल से स्थूलतर होता जाता है, जब तक कि वह स्थूलता की चरम सीमा तक नहीं पहुँच जाता, चरम सीमा पर पहुँचकर वह फिर उलटकर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होने लगता है। यह सूक्ष्म से आविर्भाव, क्रमशः स्थूल से स्थूलतर में परिणति — मानो केवल उसके अंशों का अवस्था — परिवर्तन है। बस, इसी को आजकल हम कमविकासवाद कहते हैं। यह बिल्कुल सत्य है —

सम्पूर्ण रूप से सत्य है। पर प्रत्येक कमविकास के पूर्व एक कमसंकोच की प्रक्रिया वर्तमान रहती है। सारा ब्रह्माण्ड सूक्ष्म ब्रह्माण्ड में रहता है। सभी कुछ अपने कारण में, अपने सूक्ष्म रूप में रहता है”²¹

इस प्रकार विवेकानंद सृष्टि की चक्र गति, कमसंकोच एवं कमविकास आदि को मानते हैं। उनके मत में आधुनिक कमविकासवादी सिद्धांत सत्य है किंतु अपूर्ण है, क्योंकि इसकी पूर्ववर्ती स्थिति कमसंकोच है। विवेकानंद अद्वैत वेदांत के समान ब्रह्म को ही जगत् का कारण स्वीकार करते हैं। सांख्य के समान वे प्रकृति को जगत् की उत्पत्ति का कारण नहीं मानते। वे सांख्य के प्रकृति एवं पुरुष के द्वैतवाद को युक्तिसंगत नहीं मानते हैं। उनका तर्क यह है कि दो अनंत नहीं हो सकते क्योंकि यदि ऐसा होगा तो वे एक-दूसरे को सीमित कर देंगे।

2.2.1: जगत् का स्वरूप :-

अद्वैत वेदांत दर्शन में माया को सद्-असद्-अनिर्वचनीय मानकर इसे मिथ्या सिद्ध किया जाता है। शंकराचार्य के बाद के अद्वैत वेदांत के दार्शनिकों ने माया के मिथ्यात्व निरूपण पर अत्यधिक जोर दिया। यह अद्वैत वेदांत का नकारात्मक दिशा में ही विकास था। ब्रह्म ही एकमात्र सद्-वस्तु है, उसके स्वरूप निरूपण एवं उसके व्यावहारिक प्रयोजनों के विभिन्न आयामों को खोजने के स्थान पर केवल निषेधात्मक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने से अद्वैत वेदांत दर्शन का समुचित विकास नहीं हुआ। निदानतः विवेकानंद जगत् के सद्-असद्-अनिर्वचनीय स्वरूप अर्थात् उसके मिथ्यात्व को स्वीकार करते हैं किंतु वे इसके मिथ्यात्व पर अधिक जोर देने के स्थान पर इसके अधिष्ठान या आधार के रूप में ब्रह्म के सत्यत्व पर अधिक जोर देते हैं। इससे उनका नव्य-वेदांत अधिक सृजनात्मक हो जाता है। वे ईश्वर, जीव और जगत् तीनों पर अलग-अलग विचार नहीं करते हैं। वे ब्रह्म की अधिष्ठानरूपता का स्पष्टतः उल्लेख करते हैं। उनके निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य हैं —

“न तो प्रकृति, न ईश्वर और न विश्व— बस एक ही अपरिमेय सत्ता है इसी अपरिमेय सत्ता से नाम और रूप के आधार पर ये तीनों अर्थात् ईश्वर, प्रकृति एवं विश्व बने हैं”²²

नाम और रूप वेदांत की पारिभाषिक शब्दावलि है। यह ब्रह्म की अनिर्वचनीय शक्ति माया का प्रतिनिधित्व करते हैं। ब्रह्म के आश्रयीभूत माया के द्वार से ब्रह्म जगत् के रूप में आभासित होने लगता है। निस्संदेह ये विचार अद्वैतवाद की पुष्टि करते हैं। माया के द्वार से वह एक असीमित सत्ता सीमित होकर जगत् के रूप में दिखने लगती है। विवेकानंद के मत में इसका सरलीकृत यह है —

(क) ब्रह्म
(ग) देश काल निमित्त
(ख) जगत्

वे इसकी व्याख्या निम्न कथनों में करते हैं —

“इस चित्र में (क) ब्रह्म है और (ख) है जगत्। ब्रह्म ही जगत् हो गया है। यहाँ पर जगत् शब्द से जड़-जगत् ही नहीं किंतु सूक्ष्म तथा आध्यात्मिक जगत्, स्वर्ग, नरक और वास्तव में जो कुछ भी है, सबको इसके अंतर्गत लेना होगा। मन एक प्रकार के परिणाम का नाम है, शरीर एक दूसरे प्रकार के परिणाम का नाम है, इत्यादि, इत्यादि। इन सबको लेकर अपना यह जगत् निर्मित हुआ है। यह ब्रह्म (क) देश-काल निमित्त (ग) में से होकर आने से जगत् (ख) बन गया है। यही अद्वैतवाद की मूल बात है। हम देश-काल-निमित्तरूपी काँच में से देख रहे हैं, और इस प्रकार नीचे की ओर से देखने पर ब्रह्म हमें जगत् के रूप में दिखता है। इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ ब्रह्म है, वहाँ देश-काल निमित्त नहीं है। काल वहाँ रह नहीं सकता ?, क्योंकि वहाँ न मन है, न विचार। देश भी वहाँ नहीं रह सकता, क्योंकि वहाँ कोई बाह्य परिणाम नहीं है। जहाँ सत्ता केवल एक है, वहाँ गति एवं निमित्त अथवा कार्यकारणवाद भी नहीं रह सकता”²³

वस्तुतः सत्ता तो केवल एक ही है। अविद्या के कारण वह जगत् के नानात्व के रूप में दिखाई देने लगती है। स्वामीजी समझाते हैं कि ऐसा नहीं कि दो वस्तुओं की सत्ता है — एक तो ब्रह्म और दूसरा यह देश—काल—निमित्त की समष्टिरूप माया। वास्तव में देश—काल—निमित्त छाया के समान हैं। वे सद्—असद्—अनिर्वचनीय हैं। जैसे समुद्र की तरंग समुद्र से अलग नहीं रह सकती वैसे ही जगत् भी ब्रह्म से अलग नहीं रह सकता। यदि इनको सत् स्वीकार किया जाए तो अद्वैत वेदांत में वर्णित अनंत सत् की अद्वैतरूपता पर प्रश्न उठ जाता है। वस्तुतः ये सत् हैं ही नहीं। इसके विवरण के लिए डॉ. बसंत कुमार लाल के निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य हैं :

“विवेकानंद यह दिखाते हैं कि स्थान, काल, कारणता तात्त्विक सत् नहीं हैं, कुछ आकार या रूप मात्र एकमेवाद्वितीय सत्ता ब्रह्म मात्र हैं, जो किसी संदर्भ में तात्त्विक सत् की अभिव्यक्ति के माध्यम हो सकते हैं। ये वास्तविक सत्तायें नहीं हैं, क्योंकि वे स्वतंत्र रूप में अस्तित्ववान नहीं हैं, वे अपने ‘होने’ या ‘निर्देश’ के लिये दूसरे तत्वों पर निर्भर हैं। जैसे ‘काल’ मन की स्थिति पर निर्भर है। कभी एक समान काल लम्बा भी प्रतीत हो सकता है। स्वप्न में कुछ ही समय में वर्षों व्यतीत हो जाते हैं। इसी प्रकार ‘देश’ एवं कारणता के बारे में भी सोचना चाहिए”²⁴

अद्वैत वेदांत दर्शन में जगत् के नानात्व की व्याख्या करने के लिए मायावाद के सिद्धांत का प्रतिपादन है।

2.2.2: मायावाद:—

विवेकानंद भी अनेकत्व की व्याख्या मायावाद के आधार पर करते हैं। यद्यपि वे शंकर से कुछ अलग अर्थ निरूपण करते हैं। वे माया को कोई विशेष सिद्धांत नहीं मानते बल्कि ये जगत् जैसा है उसके तथ्यात्मक कथन के रूप में माया को अभिव्यक्त करते हैं।²⁵

मायावाद को तथ्यात्मक कहने का तात्पर्य यह है कि वे वेदांत को न आशावादी दर्शन कहते हैं और न ही निराशावादी दर्शन, वरन् यह संसार जैसा है उसका वैसा वर्णन। मायावाद को जगत् का तथ्यात्मक कथन कहने का आशय यह है कि उसमें निहित

द्वन्द्वात्मकता को अभिव्यक्त करना है। वस्तुतः अद्वैत वेदांत दर्शन में ब्रह्म को निर्द्वन्द्व तथा जगत् द्वन्द्वावस्था है। यह अर्थनिरूपण इस अर्थ में अलग है कि जहाँ वे सभी तर्क के आधार पर यह तथ्य प्रतिपादित करते हैं, वहीं विवेकानंद इस सामान्य जागतिक अनुभवों के आधार पर सरलतापूर्वक प्रतिपादित कर देते हैं। वे माया के विरोधात्मक विवरण को निम्नलिखित कथनों द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

“यह संसार शुभ और अशुभ, सुख और दुःख का मिश्रण है; एक को बढ़ाओ, तो दूसरा भी साथ-साथ अनिवार्य रूप से बढ़ेगा। केवल सुख का संसार अथवा केवल दुःख का संसार हो नहीं सकता। इस प्रकार की धारणा ही स्वतः विरोधी है”।²⁶

उनके अनुसार इंद्रियात्मक और बौद्धिक ज्ञान के द्वारा विश्व के रहस्य की जिज्ञासा और उसकी प्राप्ति का निरंतर असफल संघर्ष माया है। मानव प्रकृति की गुलामी को वे माया निरूपित करते हैं। इस प्रकार के विवरणों से स्पष्ट है कि स्वामीजी मायावाद को दार्शनिक शब्दावली द्वारा कम और दैनंदिन जीवन के अनुभवों के द्वारा अधिक अभिव्यक्त करते हैं। उन्होंने प्राचीन भाष्यकारों के शब्दों को यथावत् न दोहराकर अपनी शैली में इस धारणा को समझाया है। ध्यातव्य है कि मायावाद कोई अभावात्मक सिद्धांत नहीं है। वह जगत् को नितांत अभावात्मक या शून्यवत् स्वीकार नहीं करता। वह केवल इसके निरपेक्ष अस्तित्व का ही निषेध करता है। डॉ. रमेश चन्द्र सिन्हा भी मायावाद के सम्बंध में इसी प्रकार का विचार प्रस्तुत करते हैं —

“विवेकानंद ने माया के सम्बंध में भी बिल्कुल नई व्याख्या दी है। माया शब्द यह संकेत करता है कि यह जगत् विरोधपूर्ण है। विवेकानंद का कहना है कि माया अज्ञान की शक्ति नहीं है। माया ईश्वर की शक्ति है, जिसके माध्यम से ईश्वर संसार की रचना करता है”।²⁷

वस्तुतः माया जगत् का यथातथ्य कथन है। यह कोई सिद्धांत नहीं है। इसे विवेकानंद स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जगत् में हमारे अस्तित्व का आधार विरोधों तथा व्याघातों में है। जहाँ शुभ है, वहाँ अशुभ भी है तथा जहाँ अशुभ है वहाँ कुछ शुभ भी है। जीवन है, तो जीवन का अंत — मृत्यु अनिवार्य है। जो हँसते हैं, उन्हें रोना भी पड़ता है, जो रोते हैं, उन्हें हँसने का

भी अवसर मिलता है। इस प्रकार विवेकानंद के अनुसार जीवन में, अस्तित्व में, जगत् में इस प्रकार के विरोधी तत्व भरे पड़े हैं। कभी-कभी हमें ऐसा जान पड़ता हम सब कुछ जान सकते हैं और उसी क्षण ऐसा अवरोध उत्पन्न हो जाता है कि हमारी सारी ज्ञान-प्रक्रिया कुंठित हो जाती है। विवेकानंद के अनुसार माया न तो शुभ है और न ही अशुभ है क्योंकि ईश्वर की शक्ति होने से यह तटस्थ है। यह तटस्थ तभी मानी जा सकती है जब इसे जगत् का तथ्यात्मक विवरण माना जाए। ऐसा मानने का कारण यही है कि यह जगत् विरोधों से भरा पड़ा है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विवेकानंद माया का अद्वैत वेदांतियों से कुछ अलग अर्थ निरूपण करते हैं, किंतु उनके इस निरूपण को अद्वैत वेदांत की व्याख्या के साथ संगत भी माना जा सकता है। दोनों में कोई विरोध नहीं है। अब उनके दर्शन में मानव के स्वरूप पर विचार अपेक्षित है।

2.3: मानव का स्वरूप :-

विवेकानंद अपने दर्शन में मानव के स्वरूप पर गहन विचार करते हैं। उनके ज्ञानयोग पर व्याख्यानों में हमें 'मानव का वास्तविक स्वरूप' एवं 'मानव का प्रातिभासिक स्वरूप' इस प्रकार के दो प्रारूप मिलते हैं, जिनमें उन्होंने अपने इस सम्बंध में विचार प्रस्तुत किए हैं। वस्तुतः अद्वैत वेदांत में तीन प्रकार की देहों का उल्लेख हुआ है : प्रथमतः स्थूल देह है जो अस्थि, माँस-मज्जा के रूप में पंच महाभूतों से मिलकर बनी है। इसमें पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और पंच कर्मेन्द्रियाँ शामिल हैं। द्वितीयतः मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के रूप में सूक्ष्म देह है। तृतीयतः कारण शरीर है जो कर्म-संस्कारों से मिलकर बनी होती है। स्थूल शरीर के पीछे, सूक्ष्म शरीर है, सूक्ष्म शरीर के पीछे कारण शरीर है। ये तीनों प्रकार के शरीर जड़ हैं। वेदांत के अनुसार इस स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर से परिच्छिन्न या घिरा हुआ चैतन्य ही जीव है। अद्वैत वेदांत के अनुसार वस्तुतः जीव अथवा आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाला है। माया के कारण वह घिरा हुआ सा प्रतीत होता है। स्वामी विवेकानंद को वेदांत की देह और आत्म सम्बंधी सभी अवधारणाएँ मान्य हैं। वे अपने नव्य-वेदांत में जीव के भौतिक स्वरूप

अर्थात् मानव के शरीर की आरोग्यता और सबलता पर अत्यधिक जोर देते हैं। विवेकानंद मानव के स्वरूप के संबंध में उसके आत्मिक पहलू एवं उसके भौतिक पहलू दोनों पर विचार करते हैं। यहाँ कम से उनका विवेचन किया जा सकता है।

2.3.1: जीव अथवा मानव का भौतिक स्वरूप:—

पृथ्वी पर मानव के अस्तित्व के अभ्युदय को लेकर स्वामी विवेकानंद का दृष्टिकोण पूर्णतः वैज्ञानिक है। उन्होंने डॉर्विन के कमविकासवाद का समर्थन किया है। कमविकास की जैविकीय व्याख्या को मानने का अर्थ है कि मानव का आज जैसा रूप है वह निश्चय ही किसी किसी क्रमागत विकास का परिणाम होना चाहिए। डॉर्विन ने एक कोशीय जीवों जैसे अमीबा से प्राणियों का विकास निरूपित किया है। इस सिद्धांत की एक और कठिनाई यह भी है कि मानव पर्यन्त कमविकास में बीच की कुछ कड़ियाँ भी जीव विज्ञानियों को प्राप्त नहीं हुई हैं। जो हो मानव के अस्तित्व में आने के इसी सिद्धांत को वैज्ञानिकों के बीच सर्वाधिक समर्थन प्राप्त है। विवेकानंद कमविकासवाद के साथ कमसंकोच का भी उल्लेख करते हैं। उनके मत में कमविकासवाद, कमसंकोचवाद के बिना अधूरा है। यदि कमविकासवाद एक दिशा में क्षुद्र जंतु का मानव पर्यन्त विकास है तो संकोच के क्रम में पुनः क्षुद्र जंतु तक पहुँचा जा सकता है। कमविकासवाद की अवधारणा के अंतर्गत ही एक अनिवार्य और सहज प्रश्न उपस्थित होता है कि किसका कमविकास ? क्या मानव सहित समस्त सृष्टि का कमविकास 'शून्य' या 'कुछ नहीं' से हुआ है ? किंतु यह तो चमत्कारिक और अतार्किक बात होगी। विवेकानंद सांख्य और वेदांतीय दार्शनिकों के समान सत्कार्यवादी हैं। वे 'शून्य', 'कुछ नहीं' या 'अभाव' से 'कुछ' या 'भाव' का होना असंभव मानते हैं। उन्हीं के शब्दों को निम्नवत् उद्धृत किया जा सकता है —

“असत् से (कुछ नहीं से) कभी भी सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि मानव — पूर्ण मानव — बुद्ध मानव, ईसा-मानव एक क्षुद्र माँसल जन्तु का ही विकास हो, तब तो इस क्षुद्र जन्तु को भी संकुचित या अव्यक्त बुद्ध कहना होगा। यदि ऐसा न हो तो ये सब महापुरुष कहाँ से आए ? जो शक्ति धीरे-धीरे नाना सोपानों में से होती हुई पूर्ण मानव के रूप में परिणित

होती है, यह शून्य से उत्पन्न नहीं हो सकती। वह कहीं न कहीं अवश्य वर्तमान है; और तुम विमर्श करते हुए इस प्रकार के क्षुद्र माँसल जन्तु विशेष या जीविसार तक ही पहुँचकर, उसी को आदि कारण सिद्ध करते हो, तो यह निश्चित है कि जीव में यह शक्ति अन्य रूप में थी”²⁸

क्रमविकास के प्रत्येक चरण में उसी की अभिव्यक्ति होती है जो पहले से ही सूक्ष्म और अव्यक्त रूप में विद्यमान रहा हो। यहाँ स्वामीजी भी मानते हैं कि क्षुद्र जीव में चित् शक्ति के रूप में वह शक्ति विद्यमान है जो अपने को क्रमागत रूप से उच्चतर सोपानों में अभिव्यक्त करती है।

विवेकानंद ने शारीरिक क्षमताओं के व्यवस्थीकरण के आधार पर मानव को ही सर्वश्रेष्ठ कहा है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शारीरिक सामर्थ्य में वह अन्य प्राणियों से अधिक बलवान है। इस लिहाज से वह कुछ प्राणियों से कम ताकतवर है किंतु मानव का शरीर परिस्थितियों से समायोजन करना जानता है। इसका कारण है, उसका मस्तिष्क। मस्तिष्क ही अन्य प्राणियों से उसकी विशेषता प्रदर्शित करता है। कुछ प्राणियों में भी मस्तिष्क पाया जाता है किंतु वह विच्छिन्न और अव्यवस्थित होता है। विवेकानंद कहते हैं कि कुछ प्राणियों में, क्रमविकास के क्रमशः निचले स्तर के प्राणियों में इन्द्रिय क्षमता, कभी-कभी मानव की संवेदना-शक्ति से भी अधिक रहती है किंतु इससे पशु मानव से श्रेष्ठ नहीं हो जाता है। स्वामीजी के मतानुसार मानव अपने भौतिक रूप में भी एक विशिष्ट जीव है। डॉ. बसंत कुमार लाल के शब्दों में “विवेकानंद मनुष्य के भौतिक पहलू में मानव के शारीरिक, जैविक तथा मनोवैज्ञानिक तीनों ही पक्षों को शामिल कर लेते हैं”²⁹ मानव के भौतिक पहलू को समान महत्व देने को रमेश चन्द्र सिन्हा ने उनके “नव्य-वेदांत का एक विशेष लक्षण माना है”³⁰

2.3.2: मानव का आध्यात्मिक स्वरूप:—

विवेकानंद के अनुसार मानव की शारीरिक तथा भौतिक विशिष्टता का कारण भी यह है कि वह केवल ‘शरीर’ नहीं है। मानव के अंदर जो अनश्वर

सत् है, उसकी उपस्थिति ही मानव की सामर्थ्य को बढ़ा देती है। विवेकानंद उस भौतिकवादी सिद्धांत, जिसमें चेतना को जड़ से उत्पन्न बताया जाता है — को सिर से नकार देते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विवेकानंद वेदांत में वर्णित तीन प्रकार के शरीरों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। आत्मा इन सभी का आधार है और इनसे परे है। अब आत्मा के स्वरूप का प्रश्न उपस्थित होता है। आत्मा के स्वरूप के सम्बंध में विवेकानंद ने इस प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं कि आत्मा का कोई रूपाकार न होने के कारण वह सर्वव्यापी है। देश—काल मन के अंतर्गत है। कार्यकारणवाद काल की अपेक्षा रखता है। आत्मा मन से परे होने के कारण देश—काल और कार्यकारणवाद से भी परे है। देश—काल एवं कार्यकारणवाद के परे होने से अनंत है। चूँकि अनंत दो नहीं हो सकते अन्यथा वे दोनों एक—दूसरे को सीमित कर देंगे। अतएव वस्तुतः आत्मा केवल एक है। इस प्रकार मानव का वास्तविक स्वरूप एक ही है, वह अनंत और सर्वव्यापी है। प्रातिभासिक जीव इसी का एक सीमाबद्ध भाव मात्र है। अपने स्वभाव से ही आत्मा सर्वव्यापी, अनंत और चैतन्यस्वभाव है। कार्यकारण के परे होने से वह जन्म—मृत्यु से भी परे है।³¹

आत्मा की उपस्थिति से ही जड़ शरीर तथा मन चेतन युक्त दिखाई देते हैं। विवेकानंद आत्मा के स्वरूप को अग्रलिखित कथन में अभिव्यक्त करते हैं— “आत्मा स्वप्रकाश है, सच्चिदानंद ही आत्मा का स्वरूप है”।³² ब्रह्मदारण्यक उपनिषद् में आत्मा की स्वप्रकाशता को सिद्ध है। इसके लिए ऋषि चेतना की तीनों अवस्था का विश्लेषण करते हैं। जाग्रत अवस्था में विषय पदार्थ, उनको ग्रहण करने में समर्थ इंद्रियाँ और सूर्य की ज्योति आदि विद्यमान रहते हैं, अतः जाग्रत अवस्था के अनुभव द्वारा आत्मा की स्वप्रकाशता की सिद्धि नहीं की जा सकती। चेतना की दूसरी अवस्था स्वप्न की अवस्था है। इसमें सूर्य की ज्योति की अनुपस्थिति रहती है। इंद्रियाँ भी सुप्त रहती हैं किंतु मन क्रियाशील रहता है और मंद, अस्पष्ट और अव्यवस्थित विषयों का अनुभव होता है। इसमें भी कहा जा सकता है कि मन के प्रकाश के माध्यम से प्रमेय प्रदीप्त हो भासित होते हैं। निदानतः ऋषि चेतना की तीसरी अवस्था का विश्लेषण करते हैं। प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में सूर्य की ज्योति, इंद्रियाँ तथा मन एवं विषय आदि सभी अनुपस्थित रहते हैं किंतु फिर भी स्पष्ट प्रकाश का अनुभव होता है। यही प्रकाश आत्मा का

प्रकाश है। प्रगाढ़ निद्रा के इस अनुभव से एक ओर तो आत्मा के अस्तित्व की अकाट्य सिद्धि होती है तो दूसरी ओर उसकी स्वप्रकाशता की भी सिद्धि होती है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वस्तुतः आत्मा ही स्वयंज्योति है उसी के प्रकाश से स्थूल और सूक्ष्म शरीर चेतन के रूप में आलोकित से दिखाई देते हैं।

साथ ही आत्मा का सच्चिदानंद स्वरूप है। आत्मा सत्तावान, चेतनावान और आनंदयुक्त नहीं है, वरन् आत्मा स्वयंमेव सत्ता, चेतना और आनंद है। स्वामीजी के अनुसार वास्तविक आत्मा कभी भी जन्म-मरण के संसरण चक्र में नहीं पड़ती किंतु माया से मोहित हो रही व्यावहारिक आत्मा अर्थात् जीवात्मा जन्म-मरण के चक्र में पड़ती है। स्वामीजी ने इन्हीं जीवात्माओं की अनेकता को तो स्वीकार किया है किंतु इनमें आपस में गुणात्मक भेद नहीं माना है। यद्यपि इनमें परस्पर अभिव्यक्ति के स्तरों का मात्रात्मक भेद विद्यमान है। जीवात्मा जन्म-जन्म में अपनी शक्ति और मूल स्वभाव को अभिव्यक्त कर रही है। स्पष्ट है कि वे पुनर्जन्मवाद के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। पुनर्जन्मवाद के सिद्धांत के द्वारा वे व्यक्ति-व्यक्ति के बीच के भेदों की भी व्याख्या करते हैं। इस स्थल पर उनके नव्य-वेदांत का एक क्रांतिकारी रूप भी सामने आता है। कठोर परम्परावादी और रूढ़िवादी चिंतक, जाने-अनजाने इस पुनर्जन्मवाद और कर्मवाद के सिद्धांत को सामाजिक शोषण के एक अस्त्र के रूप में भी इस्तेमाल करते आए हैं। व्यक्ति यदि किसी प्रकार का शारीरिक या सामाजिक कष्ट भोग रहा हो तो उसे इन पुनर्जन्मवाद और कर्मवाद के सिद्धांतों का हवाला देकर उसी कष्टप्रद स्थिति में अकेला छोड़ दिया जाता है। स्वामीजी ने इसे अव्यावहारिक वेदांत कहा है। व्यावहारिक वेदांत तो सभी प्राणियों में ईश्वर की ज्योति के दर्शन करने की शिक्षा देता है। ऐसे में सहज ही सेवायोग के उपक्रम का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। स्वामीजी अपने नव्य-वेदांत में प्राचीन अवधारणाओं पर पुनर्विचार करके उन्हें और भी अधिक व्यावहारिक बना देते हैं।

2.4: विवेकानंद का व्यावहारिक वेदांत :-

विवेकानंद के अनुसार अपने स्रोत में वापस लौटना मुक्ति है। ब्रह्म हमारा स्रोत है उसमें पुनः वापस जाना ही मुक्ति है। यद्यपि मुक्ति की कोई निर्दिष्ट

सीमा नहीं है। जब तक जीवन है तब तक शिक्षा का उपक्रम चलता ही रहता है। स्वामीजी को वेदांत में वर्णित दोनों प्रकार की मुक्ति – सदेह और विदेह, मान्य है। उनके विचारों में सर्वमुक्ति की संकल्पना के अंश भी घुले-मिले हैं। मुक्ति प्राप्ति के लिए स्वामीजी ने चार प्रकार के मार्गों का उल्लेख किया है। जिन्हें क्रमशः ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग एवं राजयोग कहा गया है। 'योग' शब्द का सरल अर्थ, मानव की चेतना का, ईश्वर की चेतना से सम्मिलन, स्वामीजी को मान्य है। उनके अनुसार दुनिया के सभी व्यक्तियों को मोटे तौर पर चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। कुछ स्वभाव से ही जिज्ञासु प्रवृत्ति के होते हैं। वे सदैव विश्व और अपने अस्तित्व के आगमन और भवितव्य के बारे में चिंतातुर रहते हैं। ऐसे व्यक्ति ज्ञानयोग की साधना के लिए उपयुक्त हैं। कुछ नैसर्गिक रूप से भावनाप्रधान होते हैं। वे बुद्धि से अधिक भाव शक्ति पर निर्भर रहते हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा सौम्य और समर्पणयुक्त होता है कि वे सहज भाव से श्रेष्ठ और पवित्र भावों के समक्ष समर्पण कर देते हैं। ऐसे व्यक्ति भक्तियोग की उपासना के लिए अनुकूल हैं। कुछ व्यक्तियों में महान संकल्पशक्ति के दर्शन होते हैं। ये काल्पनिक विचारों से अधिक व्यावहारिक कर्मों में अपने मन की शक्ति निक्षेपित करते हैं। ऐसे व्यक्ति कर्मों से पलायन नहीं करना चाहते बल्कि उसके स्वरूप को समझकर, अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए कर्मयोग की साधना श्रेयस्कर है। कुछ का स्वभाव, सदैव एकांत में रहकर अंतर्मुखी होकर अपनी प्राण और मनःशक्ति पर ध्यान लगाने का होता है। ऐसे व्यक्ति राजयोग की रहस्य-साधना के लिए उपयुक्त पात्र हैं। विवेकानंद ने इन चारों मार्गों पर समान रूप से अपने विचार व्यक्त किए हैं। वास्तव में उनके ये विचार ही व्यावहारिक वेदांत के कलेवर का निर्माण करते हैं।

2.4.1: ज्ञानयोग:—

ज्ञानयोग मूलतः बुद्धि का पथ है। यद्यपि इसमें अपने चरम पर बुद्धि का स्थान अंतःप्रज्ञा ले लेती है। वेदांत की ज्ञान-साधना की पद्धति के अनुसार ही विवेकानंद ने भी श्रवण, मनन और निदिध्यासन पर जोर दिया है। गुरु के वचनों का श्रवण, इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण की सत्ता है अर्थात् यह आनुभविक ज्ञान हुआ, मनन का अर्थ बौद्धिक चिंतन, इसमें अनुमान की सत्ता है, तीसरे क्रम पर है निदिध्यासन जिसका अर्थ समाधि या सत्य के

अपरोक्षानुभव से है। गुरु के वचनों के श्रद्धापूर्वक श्रवण से मन में चिंतन आरंभ होता है तदुपरांत समाधि की अवस्था में सत्य का सीधा साक्षात्कार होता है।

उन्होंने ज्ञानमार्ग में विवेक और वैराग्य की बात भी कही है। सत्-असत् में फर्क कर सत् को ग्रहण कर असत् का वर्जन करना ही विवेक है। संसार की नश्वर वस्तुओं के लिए उपेक्षा का भाव ही वैराग्य है। यहाँ विवेकानंद ने वैराग्य में प्रेम समाहित कर दिया है। वैराग्य वस्तुतः एक नकारात्मक साधना-विधि है किंतु उसे ही ईश्वर के प्रेम के रूप में स्वीकार करें तो जगत् की वस्तुएँ अर्चना की सामग्री बन जाती हैं। ऐसी स्थिति में उपेक्षा के तिरस्कृत भाव की अपेक्षा प्रेम का सौंदर्य स्थापित हो जाता है तथा साधना अक्लेशकर प्रतीत होती है। वैराग्य में वासनाओं का त्याग तो करणीय रहता ही है किंतु प्रेम के स्पर्श से जगत्, दैवीय क्रीड़ाओं का स्थल बन जाता है।

इस प्रकार की चारित्रिक पीठिका के द्वारा मुनि ईश्वर-चिंतन करता है। इसमें संसार की वस्तुओं का नकार, 'नेति-नेति' की भूमिका भी आती है। इस प्रक्रिया के दौरान माया का अज्ञानरूपी पर्दा हटता है एवं आत्मस्वरूप का दर्शन होता है। तब ही सारे मोह-ममत्व के आवरण छिन्न होते हैं। एक बार ऐसा आत्मज्ञान होने के बाद फिर कभी संशय नहीं होता। यही आत्मज्ञान, ज्ञानी की मोक्षवस्था है। जब तक देह रहती है वह ज्ञानी लोकसंग्रह करता हुआ जीवन-मुक्त की अवस्था में रहता है। जब देह के कर्म समाप्त हो जाते हैं तो वही विदेह मुक्ति कहलाती है। विवेकानंद के ज्ञानयोग की विशेषता यह है कि यह पूर्णतः विज्ञानसम्मत है। डॉ. बसंत कुमार लाल द्वारा ज्ञानयोग के लक्ष्य में व्यक्त किए गए विचार हमारे अपने मत के अनुकूल हैं इसलिए उनको उद्धृत करना प्रासंगिक होगा :

“ज्ञानयोग की इस अंतिम अवस्था में सभी भेद समाप्त हो जाते हैं, यहाँ तक कि असीम समाधि की अवस्था में 'आत्म' तथा 'ब्रह्म' का भेद भी मिट जाता है। यही ज्ञानयोग का अंतिम लक्ष्य है, पूर्ण ज्ञान है। इसी अवस्था में ज्ञानयोगी को पूर्ण एकत्व का ज्ञान हो जाता है, जिस ज्ञान के बाद अज्ञान अंतिम रूप से समाप्त हो जाता है। यही आत्म का मोक्ष है”³³

इस प्रकार ज्ञानयोग ज्ञानमार्ग है, जो ज्ञान को मोक्ष-साधन मानता है, ज्ञान-प्रक्रिया से मोक्ष-प्राप्ति को संभव मानता है।

2.4.2: भक्तियोग :-

भावनाओं के आधार पर ईश्वर की आराधना ही भक्तियोग की साधना और भक्त का अप्रतिम लक्ष्य है। ज्ञानयोगी अधिक ऊँचाई और विस्तार से उड़ान भरता है। साथ ही उसके गिरने का भी खतरा रहता है। भक्ति सुरक्षित है। विवेकानंद इस बात को निम्नलिखित कथनों द्वारा व्यक्त करते हैं –

“भक्त उतनी ऊँची उड़ान नहीं भरता, जितनी कि एक ज्ञानयोगी, और इसलिए उसके बड़े खड्डों में गिरने की आशंका भी नहीं रहती”।³⁴

भक्तियोग में प्रेम की प्रधानता रहती है। प्रेम ईश्वर का स्वभाव है। प्रेम ही के द्वारा प्रेम का अर्चन किया जाता है। विवेकानंद इस स्थल पर प्रेम के त्रिकोण की चर्चा निम्नलिखित कथनों में करते हैं –

“प्रेम का पहला कोण है; बिना किसी पुरस्कार की भावना के भगवान को प्रेम अर्पण करना। लेना नहीं, माँगना नहीं वरन् देना। प्रेम किसी कारण से नहीं होता वरन् मात्र प्रेम के लिए प्रेम होता है। प्रेम का दूसरा कोण है प्रेम का भय से नितांत रहित होना। किसी दंडाधिकारी ईश्वर के प्रति भय के कारण सेवक सा सम्बंध रखना वस्तुतः प्रेम नहीं है। ईश्वर से किसी प्रकार की सुरक्षा माँगना भी प्रेम नहीं है। प्रेम अपना कारण स्वयं ही है अथवा वह अहेतुक है। प्रेम के त्रिकोण का तीसरा कोण प्रेम में किसी प्रतिद्वन्द्वी का न होना है, क्योंकि इस प्रेम में ही प्रेम का सर्वोच्च आदर्श मूर्त रहता है। सच्चा प्रेम तब तक नहीं होता, जब तक हमारे प्रेम का पात्र हमारा सर्वोच्च आदर्श नहीं बन जाता। हो सकता है कि अनेक स्थलों में मनुष्य का प्रेम अनुचित दिशा में और अपात्र चला जाता हो”।³⁵

विवेकानंद के प्रेम सम्बंधी विचार इतने स्वतःस्फूर्त, मौलिक और सुंदर हैं कि उनको ‘प्रेमयोग’ की संज्ञा देना ही उचित होगा। उपर्युक्त त्रिकोणों में से प्रथम में स्वामीजी प्रेमी की

निःस्वार्थ मनोवृत्ति का उल्लेख करते हैं। वस्तुतः अध्यात्म का आरंभ ही त्याग से होता है। सच्चे प्रेम में व्यापारी मनोवृत्ति का अभाव होता है। प्रथम कोण में ईश्वर के प्रति आकर्षण में पुरस्कृत होने की भावना का सर्वथा अभाव है। द्वितीय कोण में ठीक दूसरे ध्रुव की ओर संकेत किया गया है। भक्ति के रूप में अध्यात्म की पराकाष्ठा हुई है। इसमें धर्म के उत्स की उस आदिम मनोवृत्ति का, जिसमें कि ईश्वर को सर्वशक्तिमान शासक और दंडाधिकारी मानकर कर्मों के फल के प्रदाता के रूप में चित्रित किया गया है – सर्वथा अभाव है। भक्ति, भक्त का आंतरिक लक्षण है। यह पुरस्कार के लालच और दंड के भय जैसे बाह्य कारकों से सर्वथा अलिप्त है। स्वामीजी के मत में ईश्वर से किसी प्रकार की सुरक्षा माँगना भी सच्चे भक्त की निशानी नहीं है। यद्यपि भक्ति की मध्ययुगीन मान्यताओं में ईश्वर पर निर्भरता को भी एक भक्त लक्षण माना गया है। स्वामीजी ने प्रेम का चौथा कोण प्रेम में प्रतिद्वन्द्वी का अभाव बताया है। इस प्रकार का प्रेम संवेगात्मक पार्थिव प्रेम नहीं हो सकता। यह प्रेम स्वयं में आदर्श है। स्वामीजी भारत के अतिशय भावुक भक्तिवाद की रुग्णता से भलीभाँति परिचित थे। अतः उन्होंने भक्ति को ज्ञान और कर्म के श्रंखलाओं द्वारा अनुशासित किए जाने पर ध्यान दिया।

स्पष्ट है कि विवेकानंद ने मूर्ति-पूजा को भी स्वीकार किया है। विवेकानंद के अनुसार भक्तियोग साधना का सरलतम पथ है। इसमें खतरा कम है। अपनी मधुरता के कारण यह सौम्य भी है। भावना से भरे हृदय को तोष देने की सारी सामग्री भक्तिमार्ग में निहित है।

2.4.3: कर्मयोग :-

अनासक्तिपूर्वक कर्तव्यों का निष्पादन ही कर्मयोग है। विवेकानंद के अनुसार कर्तव्य वह है जिसमें कोई स्वार्थ न हो। जिन कर्मों के पीछे कोई स्वार्थमूलक भावना होती है वे कर्म मनुष्य को अपना दास बना लेते हैं। ऐसे कर्मों से मनुष्य बंधन में पड़ता है जबकि निःस्वार्थ कर्म से मुक्ति का वरण करता है। स्वामीजी के अनुसार कोई भी कर्म पूर्णतया शुभ या अशुभ नहीं होता। उन कर्मों के फल के प्रति हमारी आसक्ति ही हमें बंधन में डाल देती है। निदानतः हमें फल से अलिप्त रहकर कर्म करना चाहिए। स्वामीजी के अनुसार केवल कर्तव्य भावना से मजबूरीवश कर्म करना, दासता की निशानी है। ऐसी कर्तव्य भावना से कर्ता कभी

भी मुक्त नहीं हो सकता। यह दास की भाँति कर्म करना हुआ। यह सामाजिक दृष्टि से अच्छा कहा जा सकता है किंतु निष्काम कर्मयोग की प्रथम शर्त है: स्वतंत्रता। यदि हम स्वतंत्र होकर, कर्मों के स्वामी के रूप में स्वार्थरहित होकर कर्म करते हैं तो ये कर्म कर्मयोग के दायरे में आ जाते हैं। स्वामीजी के अनुसार परोपकार और सेवा के कार्य इसी प्रकार के कर्म हैं जिनसे हमारा क्षुद्र अहं भाव घटता है। उनके निम्न कथन द्रष्टव्य हैं –

“परोपकार का प्रत्येक कार्य, सहानुभूति का प्रत्येक विचार, दूसरों की सहायतार्थ किया गया प्रत्येक कर्म, प्रत्येक शुभ कार्य हमारे क्षुद्र अहं भाव को प्रतिक्षण घटाता रहता है और हममें यह भावना उत्पन्न करता है कि हम न्यूनतम और तुच्छतम हैं, और इसलिए ये सब कार्य श्रेष्ठ हैं। ज्ञान, भक्ति और कर्म; तीनों इस बिंदु पर मिलते हैं। सर्वोच्च आदर्श हैं— चिरंतन और सम्पूर्ण आत्मत्याग, जिसमें किसी प्रकार ‘मैं’ नहीं, केवल ‘तू’ ही ‘तू’ है। हमारे जाने या बिना जाने, कर्मयोग हमें इसी लक्ष्य की ओर ले जाता है”।³⁶

स्पष्टतः कर्मयोग निःस्वार्थपरता पर जोर देता है। अनासक्त होकर परोपकार के कर्म करना अनिवार्य है। तभी व्यक्ति अपने क्षुद्र व्यक्तित्व का त्याग करने में सक्षम होगा। स्वामी विवेकानंद के दर्शन में कर्मयोग साधन एवं साध्य दोनों है। शंकराचार्य के दर्शन में कर्मयोग साधन है, वह भी गौण साधन है जिसका कार्य चित्त की शुद्धि करना है लेकिन आत्मबोध तक इसकी गति नहीं है। इसके विपरीत विवेकानंद में कर्मयोग एक स्वतंत्र साधन अथवा योग है एवं यह आत्मबोध का ज्ञानयोग के समान तुल्य साधन है।

विवेकानंद के अनुसार कर्मयोग क्या है ? तो उनके अनुसार इसका उत्तर है पूर्ण निःस्वार्थपरता। अब प्रश्न उठता है कि यह कब आती है ? जब कर्मयोगी फल की आकांक्षा से रहित हो केवल कर्म के लिए कर्म करता है। इस स्थिति में केवल लोकसंग्रह, लोकहित के ही कर्म संभव हैं। विवेकानंद अपने कर्मयोग में मानवसेवा को ईश्वरसेवा का प्रतिरूप बना देते हैं। सभी मानवों की ईश्वर के रूप में आराधना करना, उनके सेवायोग का एक प्रधान लक्षण है। इस प्रकार की सेवा से कर्मयोगी स्वयं ही उपकृत होता है। वह सेवा प्राप्त करने वाले के ऊपर

उपकार नहीं करता वरन् यह तो उसका ही सौभाग्य है कि उसे मानवसेवा के रूप में ईश्वर उपासना का अवसर प्राप्त हुआ।

किंतु इस प्रकार की निःस्वार्थपरक सेवा करना कठिन कार्य है, इसलिए कर्मफलप्रदाता ईश्वर को फल समर्पण की बुद्धि से कर्म करना चाहिए। गीता के इस स्थल पर शंकराचार्य कर्मयोग को भक्तियोग से आवश्यक रूप से जुड़ा मानते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि कर्मयोगी को आवश्यक रूप से ईश्वर विश्वासी होना चाहिए। शंकराचार्य कर्म, भक्ति एवं उपासना तीनों का एक ही अर्थ करते हैं। किंतु इसके विपरीत विवेकानंद कर्मयोग की धारणा का विस्तार करते हैं, और इसे नास्तिकों के लिए भी खुला रखते हैं। ईश्वर के सहारे के बिना भी ऐसा कर्मयोगी अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति से कर्म के लिए कर्म करने में सक्षम होगा। वस्तुतः वे तो महात्मा बुद्ध को इस प्रकार के पूर्ण कर्मयोगी के रूप में स्वीकार करते थे। फलत्याग के सम्बंध में ईश्वर की भूमिका को लेकर डॉ. रमेशचन्द्र सिन्हा ने गीता के कर्मयोग एवं स्वामी विवेकानंद के कर्मयोग की धारणा में परस्पर तुलना की है। उनके ये कथन दृष्टव्य हैं :

“विवेकानंद का कर्मयोगी ईश्वर के समर्थन की आकांक्षा नहीं करता बल्कि कर्म बिना किसी बाह्य समर्थन के या फल के करता है। विवेकानंद मानव को अधिक सशक्त मानते हैं। गीता में मानव को ईश्वर की शरण में समर्पित करने की मंत्रणा दी गई है। विवेकानंद सभी अच्छे-बुरे कर्म को ईश्वर पर छोड़ देने की बात नहीं करते हैं। गीता में सभी कर्मों को ईश्वर को समर्पित करने की शिक्षा दी जाती है। विवेकानंद के अनुसार मानव अपनी भवितव्यता का स्वयं मालिक है”³⁷

स्वामी विवेकानंद के कर्मयोग का एक केन्द्रीय बिंदु है अप्रतिरोध। कर्मयोगी कभी भी बुराई का प्रतिरोध नहीं करता है। लेकिन विवेकानंद के अनुसार यदि वह इस अवस्था तक नहीं पहुँच पाए तो कायर होने से अधिक अच्छा है प्रतिरोध करना। विवेकानंद के अनुसार कर्मयोगी अवश्य ही परोपकार के कार्य में रत रहता है किंतु वह इस अंधविश्वास से पूर्णतः मुक्त है कि कभी भी एक पूर्ण विश्व बनाया जा सकता है।

शंकराचार्य के समान विवेकानंद भी बंधन को तो अविद्यारूप मानते हैं किंतु जहाँ शंकराचार्य में भक्तियोग, कर्मयोग एवं राजयोग अंततः ज्ञानयोग के अधीन हो जाते हैं, वहीं विवेकानंद मानवों की विविधता को मोटे तौर पर चार श्रेणियों में विभाजित करके प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति के लिए एक या अधिक योग की उपयुक्तता निरूपित करते हैं। इसी संदर्भ में कर्मयोग की साधना उन लोगों के लिए अधिक उपयुक्त है जो केवल परातात्त्विक चिंतन में रत रहना नहीं चाहते या जिन्हें इस बात भी कि चिंता नहीं है कि आत्मा या ईश्वर है भी कि नहीं बल्कि जो सेवा का कुछ उपक्रम करना चाहते हैं एवं इसलिए इस संसार में अंदर रहकर निःस्वार्थपूर्ण कर्म करके पूर्णता की प्राप्ति करना चाहते हैं। सारतः कहा जा सकता है कि स्वामी विवेकानंद अपने व्यावहारिक वेदांत दर्शन में कर्मयोग की धारणा का विस्तार करते हैं और यह विस्तार उनके दर्शन को नव्य-वेदांत की संज्ञा देता है।

2.4.4: राजयोग :-

राजयोग में शरीर तथा मन के पूर्ण नियंत्रण पर जोर दिया जाता है। पहले शरीर के अनुशासन का प्रक्रम किया जाता है जिसके लिए आसन तथा भिन्न-भिन्न मुद्राएँ हैं। प्राण के संयम के लिए प्राणायाम की क्रियाएँ हैं। मन के नियमन के लिए ध्यान-धारणा की भिन्न-भिन्न विधियों का इसमें उल्लेख है। स्वामीजी ने पतंजलि के योगसूत्र को ही अपनी राजयोग की शिक्षाओं का आधार बनाया है। डॉ. बसंत कुमार लाल ने विवेकानंद के राजयोग का परिचय निम्नलिखित शब्दों में किया है :

“यह मानसिक एवं शारीरिक अनुशासन का योग है। यह इस विश्वास पर आधृत है कि बंधन का मूल कारण यही है कि मन तथा शरीर में निहित सामान्य प्रवृत्तियाँ हमें विचलित करती रहती हैं। इससे शक्ति का अपव्यय हो जाता है जिसके फलस्वरूप आत्मा भी शिथिल हो जाती है। शक्ति के इस अपव्यय को रोकना अनिवार्य है, क्योंकि शक्ति के संचित रहने पर ही उसे ईश्वर की ओर प्रेरित किया जा सकता है। इसी कारण इस योग में मन तथा शरीर का नियंत्रण अनिवार्य हो जाता है”³⁸

राजयोग की शिक्षाएँ योग्य गुरु के मार्गदर्शन के बिना खतरनाक हो सकती हैं। सारतः यह रहस्यात्मक अनुभूति के माध्यम से ईश्वरानुभूति का मार्ग है। वस्तुतः विवेकानंद के अनुसार प्रत्येक आत्मा दैविक अंश है। राजयोग का उद्देश्य है इस दिव्यता को प्राप्त करना। उसके लिए बाह्य एवं आंतरिक अवस्थाओं पर नियंत्रण करना। राजयोग के द्वारा आंतरिक शक्ति का उदय संभव है। राजयोग मानव को एक व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक विधि प्रदान करता है जिससे परम तत्त्व तक पहुँचा जा सकता है।

विवेकानंद के अनुसार इन चारों योगों का लक्ष्य एक ही है, पूर्णता की प्राप्ति। ये मार्ग एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक् नहीं हैं। व्यक्ति को अपने मार्ग के अनुरूप पूर्ण निष्ठा से साधना करके पूर्णता की प्राप्ति करना चाहिए।

उद्धरण एवं संदर्भ

1. स्वामी विवेकानंद. *विवेकानंद साहित्य द्वितीय खंड*. कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 1993, पृ. 159
2. पूर्वोक्त, पृ. 153
3. पूर्वोक्त, पृ. 107
4. पूर्वोक्त, पृ. 211
5. पूर्वोक्त, *विवेकानंद साहित्य पंचम खंड*, पृ. 306
6. पूर्वोक्त, पृ. 306—07
7. पूर्वोक्त, *विवेकानंद साहित्य द्वितीय खंड*, पृ. 30
8. पूर्वोक्त, *विवेकानंद साहित्य पंचम खंड*, पृ. 312
9. पूर्वोक्त, पृ. 308
10. पूर्वोक्त, *विवेकानंद साहित्य चतुर्थ खंड*, पृ. 09
11. लाल, बसंत कुमार. *समकालीन भारतीय दर्शन*. दिल्ली : मोतीलाल बनारसी दास, 1991, पृ. 08 पूर्वोक्त
12. स्वामी, विवेकानंद. *द कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानंद खंड—5*. कोलकाता : अद्वैत आश्रम, पृ. 301
13. पूर्वोक्त
14. सिन्हा, रमेश चन्द्र एवं विजयश्री. *समकालीन भारतीय दर्शन*. नई दिल्ली : डी. के. प्रिंटवर्ल्ड (प्रा.) लि., पृ. 69
15. पूर्वोक्त, लाल, पृ. 11
16. पूर्वोक्त, *विवेकानंद साहित्य दशम खंड*, पृ. 33—34
17. पूर्वोक्त, *विवेकानंद साहित्य दशम खंड*, पृ. 87
18. रामबचन, अनंतानंद. *द अटेनमेंट ऑफ मोक्ष एकाँर्डिंग टू शंकर एंड विवेकानंद विथ स्पेशल रिफरेंस टू द सिगनिफिकेंस ऑफ स्क्रिपचर (श्रुति) एंड एक्सपिरिएंस (अनुभव)*. लीड्स : द यूनिवर्सिटी ऑफ लीड्स, 1984, पृ. 423
19. पूर्वोक्त

20. शर्मा, चन्द्रधर. *भारतीय दर्शन*. दिल्ली : मोतीलाल बनारसी दास, 2013, पृ. 198
21. पूर्वोक्त. *विवेकानंद साहित्य द्वितीय खंड*, पृ. 103–04
22. पूर्वोक्त, पृ. 85
23. पूर्वोक्त
24. पूर्वोक्त, लाल, पृ. 20
25. पूर्वोक्त. *विवेकानंद साहित्य द्वितीय खंड*, पृ. 60
26. पूर्वोक्त
27. पूर्वोक्त, सिन्हा. पृ. 70
28. पूर्वोक्त. *विवेकानंद साहित्य द्वितीय खंड*, पृ. 08
29. पूर्वोक्त, लाल, पृ. 26
30. पूर्वोक्त, सिन्हा. पृ. 71
31. पूर्वोक्त. पृ. 10–11
32. पूर्वोक्त. पृ. 112
33. पूर्वोक्त, लाल, पृ. 42
34. पूर्वोक्त. *विवेकानंद साहित्य चतुर्थ खंड*, पृ. 53
35. पूर्वोक्त. पृ. 63–64
36. पूर्वोक्त. पृ. 59
37. पूर्वोक्त. सिन्हा, पृ. 94
38. पूर्वोक्त, लाल, पृ. 46

अध्याय 3:

समाज—दर्शन का स्वरूप

अध्याय 3: समाज—दर्शन का स्वरूप

समाज—दर्शन के स्वरूप को समझने के पूर्व 'समाज' शब्द के आशय को समझना आवश्यक है। चूँकि समाज से सम्बंधित समस्त विमर्श समाज—दर्शन के अंतर्गत किया जाता है इसलिए समाज—दर्शन के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है। समाज—दर्शन, दर्शनशास्त्र की मान्य और महत्वपूर्ण विधा है। पश्चिम के दर्शन में इसकी एक पृथक् विधा का विकास हुआ है। भारतीय दर्शन में विशेषकर स्मृति ग्रंथों में समाज—दर्शन के तत्त्व मौजूद हैं। प्रस्तुत अध्याय में समाज—दर्शन के स्वरूप, अर्थ एवं समाज तथा दर्शन का अवलोकन है।

3.1: समाज—दर्शन का स्वरूप एवं क्षेत्र :—

समाज—दर्शन व्यक्ति और समाज के विभिन्न सम्बन्धों, विविध सामाजिक क्रियाकलापों, विविध सामाजिक—सिद्धान्तों और विविध गतिविधियों का सम्यक् अध्ययन करता है। इसके साथ ही समाज कैसा होना चाहिए, इसका विवेचन करना भी समाज—दर्शन का कार्य है। अतः समाज—दर्शन एक मूल्यात्मक विधा है। इसलिए समाज—दर्शन के केन्द्रीय प्रश्न उन मूल्यों के प्रतिस्थापना से जुड़े हुए हैं, जो समाज का बेहतर स्वरूप गढ़ने के लिए जरूरी हैं। ये मूल्य हैं स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व, जो ज्ञानोदय की परंपरा से पुष्ट हुए हैं। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कई तरह की विचारधाराएं भी विकसित हुई हैं, जिनका अध्ययन भी समाज—दर्शन के अन्तर्गत होता है, जैसे — समाजवाद, साम्यवाद, नारीवाद, लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता आदि। इसके अतिरिक्त समाज की संरचना के तात्त्विक स्वरूप का विवेचन भी समाज—दर्शन के अंतर्गत होता है।

प्रायः लोग समाज को सिर्फ व्यक्तियों के समूह तक ही सीमित मानते हैं, किन्तु समाज सिर्फ व्यक्तियों के समूह मात्र या समुदाय तक ही सीमित नहीं है वरन् समाज व्यक्तियों का वह समूह है, जिसके पीछे कोई व्यवस्था हो, जिसका कोई उद्देश्य एवं लक्ष्य निहित रहता है। समाज परस्पर 'सम्बन्धों' की उपज है। समाज के सम्बन्धों को डॉ. जगदीश सहाय ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है — एक इकाई का दूसरी इकाई के साथ जो आदर्श सम्बन्ध है, उन्हीं सम्बन्धों के पुंज को ही 'समाज' कहते हैं।'

समाज पुनर्निर्माण की योजना को प्रभावित करती है, आत्मकेन्द्रित और समाज केन्द्रित समाज का विवेचन भी समाज-दर्शन के लिए आवश्यक है।

समाज और व्यक्ति में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है जिसका तात्पर्य है कि व्यक्ति और समाज परस्पर एक दूसरे पर आश्रित है। इसके साथ ही व्यक्ति के आचरण, उसके क्रिया-कलापों, और उसकी सामाजिक गतिविधियों का समाज के विकास और स्वरूप पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति का आदर्श आचरण, नैतिक मूल्यों, आदर्शों एवं लक्ष्यों के प्रति प्रतिबद्धता, उसके कर्तव्यपालन की भावना और उसका संतुलित व्यवहार ही आदर्श समाज की संरचना में सहायक होता है। आदर्श समाज की स्थापना के लिए अपेक्षित मूल्यों, आदर्शों और लक्ष्यों का अध्ययन, अनुसंधान करना समाज-दर्शन का प्रमुख विषय है।

यह धारणा सही नहीं है कि समाज-दर्शन विशुद्ध रूप में पश्चिम की विधा है। पश्चिम में प्लेटो, हाब्स, लॉक, रूसो आदि ने समाज-दर्शन के ग्रंथों की रचना की है। भारत में आपस्तम्ब का धर्मसूत्र, मनु की स्मृति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वात्स्यायन का कामसूत्र, शुक की शुकनीति और कामन्दक का नीतिसार समाज-दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ कहे जा सकते हैं।

3.2 समाज का अभिप्रायः—

मानव का जन्म समाज में होता है और समाज में ही अपना जीवन यापन करता है। वह समाज से स्वयं को असम्पृक्त नहीं कर सकता तथा उससे अप्रभावित नहीं रह सकता। सामाजिकता को इस प्रकार, मानव स्वभाव का ही अंग मान सकते हैं। उसकी विविध आवश्यकताओं, विभिन्न इच्छाओं तथा भिन्न उद्देश्यों की सिद्धि समाज में ही हो सकती है। मानव की जन्मजात मूल प्रवृत्तियाँ ही उसके सामाजिक व्यवहार को निर्धारित करती हैं। मनुष्य का विकास सामाजिक संस्थाओं द्वारा ही संभव है।

अव्यवस्थित जन समुदाय को भीड़ कहा जा सकता है। भीड़ तो पशुओं की भी हो सकती है। वैयाकरणों ने उसे समज् कहा है। समाज और समज् में अंतर केवल संस्कारों का ही है।²

मनुष्य और पशु दोनों ही प्राणियों के वर्ग में शामिल हैं। पशु और मनुष्य दोनों में ही मूल प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। मनुष्यों के समान पशु भी चाहे किसी भी प्रकार के क्यों न हों, समूहों में रहते हैं। फिर भी मनुष्यों एवं पशुओं के व्यवहार में यह अंतर है कि जहाँ पशुओं का व्यवहार मूल प्रवृत्तियों द्वारा संचालित होता है, वहीं मनुष्य इनका निग्रह बुद्धि के द्वारा करता है। मनुष्य पीढ़ी दर पीढ़ी व्यवहारों को सीखता है और यह एक से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित हो जाते हैं। अनुभवों और व्यवहारों के हस्तांतरण की यह प्रक्रिया मनुष्यों को पशुओं से अलग करती है। पशुओं में धीमा परिवर्तन क्रमविकास के फलस्वरूप होता है किंतु वह मुख्यतः जैविकीय होता है। उसमें विचारों, मूल्यों और रीति-रिवाजों के स्तर जैसा कोई परिवर्तन या रूपान्तरण नहीं दिखाई देता। इसलिए समाज की प्रासंगिकता मनुष्य के संबंध में ही है। हस्तांतरण की प्रक्रिया का यह लक्षण एक समूह विशेष में मनुष्यों को एकसमान व्यवहार करने के लिए प्रेरित करता है। इससे बहुसंख्यक मनुष्यों का एक समूह बनता है जो एक समान जीवन शैली अपनाता है। प्रसिद्ध समाजविज्ञानी हर्सकोविट्स ने मनुष्य की इन स्वभावगत विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए समाज की निम्न परिभाषा दी है:

‘समाज संगठित और परस्पर व्यवहार करने वाले व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो एक निर्दिष्ट जीवन शैली का अनुसरण करता है।’

ऑगस्ट कॉम्टे ने सामाजिक गतिशीलता से समाज को व्याख्यायित किया है। उनके अनुसार ‘परिवार, विवाह और सामाजिक संस्थाएँ स्थिर समाज बनाती हैं और परिवर्तन समाज में गतिशीलता लाता है।’

3.2.1: समाज की उत्पत्ति:—

समाज की उत्पत्ति के सम्बंध में पश्चिम के समाज-दर्शन में कुछ सिद्धांतों का उल्लेख मिलता है। आधुनिक काल में मानव-विज्ञान, जाति-विज्ञान एवं भाषा-विज्ञान के अनुसंधानों ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। इन सिद्धांतों में मुख्य तीन सिद्धांत हैं : सामाजिक अनुबंध का सिद्धांत, दैवी अनुबंध का सिद्धांत एवं विकासवादी सिद्धांत।

अब यहाँ इन तीनों सिद्धान्तों के विषय में एवं उसके विभिन्न पहलुओं पर क्रम से विचार किया जाना आवश्यक है।

3.2.2: दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त :-

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ईश्वरवादी मान्यताओं को स्वीकार करने वाले विचारकों एवं दार्शनिकों द्वारा किया गया है। समाज ईश्वर के द्वारा उत्पन्न है। क्योंकि वह सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन करने वाला है।³

इस सिद्धांत की तुलना श्रीमद्भगवद्गीता की समाज व्यवस्था से की जा सकती है। गीता में श्रीकृष्ण ने गुण और कर्म के अनुसार चतुर्वर्ण को उत्पन्न करने का उल्लेख किया है। (गीता, 4.13) चारों वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति के पूर्व न तो राजा था, न राज्य था, न दण्ड था और न दण्ड विधान था। उसके पूर्व सम्पूर्ण प्रजा अपने धर्म से ही अपनी रक्षा करती थी।

उपर्युक्त मत से यह निःसृत होता है कि समाज की उत्पत्ति के पूर्व प्रजा तो थी परन्तु उसका कोई संगठन नहीं था। ईश्वर ने ही संगठन और संस्थाओं का निर्माण किया। ईश्वर ने एक सुसंगठित समाज की उत्पत्ति की। परन्तु इस प्रकार की विचारधारा में समाज की उत्पत्ति का नहीं अपितु संगठित समाज की उत्पत्ति का पता चलता है। संगठित समाज के पहले असंगठित रूप में समाज पहले भी अस्तित्व में था। समाज के स्वाभाविक रूप की उत्पत्ति इस सिद्धान्त में नहीं दिखाई गई है। इसमें समाज के कृत्रिम स्वरूप की उत्पत्ति को ही दर्शाया गया है।

एक अन्य धारणा के अनुसार ईश्वर ने मनुष्य को उत्पन्न किया और फिर ईश्वर ने ही मनुष्य के आपसी सम्बन्धों को जन्म दिया। इस प्रकार इस धारणा में समाज के प्राकृतिक एवं कृत्रिम दोनों रूपों का जन्म दिखाया गया है। समाज और राज्य दोनों की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा मानने का आधार यह दिखाना है कि समाज और राज्य शाश्वत प्राकृतिक नियमों (धर्म) पर आधारित हैं जिनका उल्लंघन करना पाप है।

इस सिद्धांत का एक प्रमुख लक्षण यह है कि इसमें राजा को ही ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है तथा उसकी आज्ञा का पालन करना ही धर्म है। राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है।⁴

इस सिद्धान्त का उल्लेख केवल महाभारत, मनुस्मृति या चाणक्य-कृत अर्थशास्त्र में नहीं है अपितु ग्रीस (यूनान) और रोम में भी दैवी-उत्पत्ति के सिद्धान्त का उल्लेख प्राप्त होता है। प्लूटार्क ने कहा, “एक नगर की स्थापना बिना भूमि के संभव नहीं है परन्तु ईश्वर में विश्वास के बिना राज्य की स्थापना नहीं हो सकती”। ईसाई धर्म के अनुसार समाज पर राज्य ईश्वर की रचना है। सेन्ट पॉल का उपदेश है, “प्रत्येक आत्मा को उच्चतर शक्तियों के अधिन होना चाहिए क्योंकि ईश्वर की शक्तियों के अतिरिक्त और कोई शक्ति नहीं है। सभी सांसारिक शक्तियाँ ईश्वर की दी हुई हैं। अतः जो उनकी अवज्ञा करता है, उन पर ईश्वरीय पाप गिरेगा”।⁵

महाभारत में आदि काल में इसके गठन के न होने के कारण धर्म के द्वारा लोग अपनी तथा दूसरों की रक्षा करते थे। व्यक्तिगत स्वार्थवादिता तथा वैमनस्य की भावना और परिग्रह की प्रवृत्ति के कारण पापकर्मों में वृद्धि हुई जिनके निराकरण के लिए देवता गण ब्रह्मा के पास गये और उनसे प्रार्थना की कि “हे प्रभु ! मुखिया के बिना हमारा विनाश हो रहा है। हमें एक मुखिया दो, जिसकी हम सब मिलकर पूजा करेंगे और वह हमारी रक्षा करेगा”। यह एक रोचक विषय है कि इस्लाम में भी ईश्वर को ही समाज एवं राज्य का स्रष्टा माना गया है।

डॉ. शिव भानु सिंह ने निवेन गिल्किस्ट की पुस्तक, ‘प्रिंसीपल्स ऑफ पोलिटिकल साइंस’ से डॉ. फिग्स के राजा के दैवीय अधिकार के पक्ष में दिए तर्कों को निम्नवत् प्रस्तुत किया है –

“राजसत्ता ईश्वर प्रदत्त है 2. राजसत्ता वंशगत और पैतृक है 3. राजा विवेक का महान स्वरूप है, अतएव केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है। 4. राजा की अवज्ञा अथवा उसका विरोध करना पाप है”।⁶

यदि आधुनिक बुद्धिवादी, प्रजातांत्रिक और वैज्ञानिक समाज के मापदण्डों पर दैवीय-उत्पत्ति के सिद्धान्त का मूल्यांकन किया जाए तो इसे बहुत कम विद्वानों का समर्थन प्राप्त होगा क्योंकि आधुनिक प्रचलित धारणा यह है कि ईश्वर वास्तविक सत्ता का स्रोत नहीं है, बल्कि जनता वास्तविक शक्ति का स्रोत है। समाज और राज्य के नियम ईश्वर ने नहीं बल्कि मनुष्य ने बनाए हैं। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त राजा को इतना अधिकार प्रदान कर देता है कि उनके निरंकुश, स्वेच्छाचारी और आततायी होने की संभावना बनी रहती है, जो कि

समाज के विकास के लिए घातक है। फिर कुछ विद्वानों के अनुसार इस प्रकार की धारणा धार्मिक मान्यताओं पर आधारित होने के कारण रूढ़िवादिता को बढ़ावा देती है।

इसकी अलोचना करते हुए यह कहा जाता है कि यदि समाज की रचना ईश्वर के द्वारा होती तो समाज पूर्ण होता, किन्तु समाज पूर्ण नहीं है, उनमें अनेक विसंगतियां हैं, कमियां हैं, दोष हैं। अतएव यह सिद्ध होता है कि वह अपूर्ण समाज पूर्ण ईश्वर की सृष्टि नहीं है।

यह मनुष्य में आस्था उत्पन्न करता है और ईश्वर के सृष्टिकर्ता मानने में लोगों में पाप और पुण्य, शुभ और अशुभ की भावना का विकास होता है। सामाजिक अव्यवस्था, अशान्ति और अराजकता पर अंकुश लगाने में इस प्रकार की आस्था एक नैतिक और आध्यात्मिक अंकुश का कार्य करती है। इसी प्रकार व्यक्तियों में आज्ञापालन की भावना, दायित्व की भावना, सहयोग और सौहार्द्र की भावना तथा कर्तव्य की भावना का विकास करने में भी यह सिद्धान्त सहायक सिद्ध होता है। इस संदर्भ में निवेन गिल्क्रिस्ट के निम्नलिखित कथन प्रस्तुत हैं —

“राज्य को परमात्मा की कृति मानना उसे उच्च नैतिकता का पद प्रदान करना है, उसे ऐसा बनाना है कि जिसके प्रति नागरिक भक्ति प्रदर्शित करें, उसका समर्थन करें और उसे मानव-जीवन की पूर्णता मानें”।⁷

समाज की उत्पत्ति के सम्बंध में दूसरा मुख्य सिद्धांत ‘सामाजिक अनुबंध का सिद्धांत’ है।

3.2.3: सामाजिक अनुबंध का सिद्धान्त :—

आधुनिक विचारकों ने दैवीय उत्पत्ति के सिद्धांत में कुछ दोष प्रदर्शित किए। आधुनिक विचार वृत्ति के अनुरूप, इन दोषों के निवारण के लिए एक नवीन सिद्धांत की आवश्यकता थी। सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत ने इन दोषों का निवारण प्रस्तुत किया। चूंकि सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत के सूत्रपात्र का आधार दैवीय उत्पत्ति का सिद्धांत बन गया, इसलिए यह दैवीय सिद्धांत की प्रतिक्रिया में विकसित हुआ।

सामाजिक अनुबंध का सिद्धान्त दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आया, जिसमें समाज को दैवी न मानकर मानवीय संस्था के रूप में स्वीकार किया गया है। समाज वस्तुतः दैवी-इच्छा का परिणाम नहीं है अपितु यह एक सामाजिक अनुबंध के

द्वारा अस्तित्व में आया जिसे प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्यों ने अपनी इच्छा एवं सहमति से स्थापित किया। पश्चिमी विचारधारा में इस प्रकार की धारणा का सर्वप्रथम उल्लेख यूनानी सोफिस्टों के मत में प्राप्त होता है। उनका मत था कि समाज एक कृत्रिम संस्था है और संविदा का प्रतिफल है।⁸

‘ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरी’ के अनुसार ग्यारहवीं शताब्दी में मेनगोल्ड ने सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए लिखा था, “यदि राजा उस समझौते को भंग करता है जिसके अनुसार उसे राजा चुना गया था तो उसे अपने पद से हटाया जा सकता है”। तेरहवीं शताब्दी में थॉमस एक्वीनस ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया।⁹

वहीं भारतीय धर्मग्रन्थों में यदि देखा जाए तो महाभारत के शांतिपर्व, मनुस्मृति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सामाजिक अनुबन्ध की अवधारणा का उल्लेख प्राप्त होता है। पाश्चात्य जगत में सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में यह सिद्धान्त बहुत लोकप्रिय हुआ तथा इसके तीन प्रबल समर्थक हुए — हॉब्स, लॉक व रूसो।

3.2.4: विकासवादी सिद्धान्त :-

समाज न तो ईश्वर की सृष्टि है, न तो किसी सामाजिक अनुबन्ध का परिणाम है वस्तुतः समाज विकास का परिणाम है। यह विकास एक दिन में नहीं अपितु सदियों से धीरे-धीरे हुआ है। वास्तव में देखा जाए तो समाज एक प्राकृतिक संस्था है जिसका जन्म मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ और उसे सुन्दर जीवन प्रदान करने के लिए उसका निरन्तर विकास होता चला जा रहा है।

विकासवादी दार्शनिक समाज को ऐतिहासिक संगठन न मानकर प्रगतिशील और विकासशील संगठन मानते हैं।

विकासवादी दार्शनिकों में हर्बर्ट स्पेंसर सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारक हैं। उन्होंने समाज को एक जैविक संगठन माना है। जिस प्रकार कोई जीव अपने वातावरण के घात और प्रतिघात से विकसित होता है, उसी प्रकार समाज अपने वातावरण के घात-प्रतिघात से विकसित होता है। उसके विकास पृथक्करण और संगठन दोनों व्यापार साथ-साथ चलते हैं।

समाज कई वर्गों में विभाजित होता है और पुनः इन वर्गों में संगठन होता रहता है। संगठन के बाद विघटन और पुनः विघटन के बाद संगठन ये दोनों व्यापार चलते रहते हैं। इस प्रक्रिया में समाज की रचना सरल से जटिल, अव्यवस्थित से सुव्यवस्थित और विशृंखलित से सुशृंखलित होती है। समाज का उद्देश्य एक ओर अपने को अपने वातावरण के अनुकूल बनाना है और दूसरी ओर अपना आंतरिक संगठन सूत्र सदा दृढ़ से दृढ़तर करते रहना है।

हर्बर्ट स्पेंसर के उपरोक्त मत में संशोधन और सुधार करते हुए लेजली स्टीफेन ने समाज को स्वतः एक जीव न मानकर एक ऊति या संगठन माना है। उनकी दृष्टि से समाज एक ऐसी व्यवस्था है जो लघु से बृहत्, शिथिल से सुदृढ़, एक रूप से बहुधा, अव्यवस्थित से सुव्यवस्थित होती रहती है। प्रत्येक काल में प्रत्येक समाज का संतुलन होता है और अन्ततोगत्वा एक नया संतुलन स्थापित होता है। समाज वस्तुतः इस प्रकार के सामाजिक संतुलन की स्थापना के लिए ही अस्तित्व में आया। समाज एक गतिशील एवं सक्रिय संगठन है।

विकासवादी व्याख्या के अन्तर्गत प्रमुख सिद्धान्त के रूप में 'जीवन के लिए संघर्ष' का सिद्धान्त प्रचलित है। समाज में यह सिद्धान्त दो रूपों में परिलक्षित होता है — (1) समाज में रहने वाले व्यक्तियों में परस्पर संघर्ष की स्थिति आ जाती है जो कि स्वाभाविक घटना है। (2) एक समाज कभी-कभी अन्य समाजों से भी संघर्षरत होता है। यह संघर्ष कभी-कभी हिंसा का रूप भी ग्रहण कर लेता है परन्तु विकास के साथ संघर्ष का रूप बदलता रहता है। प्रारंभ में संघर्ष पूर्णतः हिंसात्मक था जिसमें शत्रु का पूर्ण दमन या नाश अपेक्षित था। परन्तु कालान्तर में संघर्ष रूप भौतिक से बौद्धिक होने लगा। अब संघर्ष प्रतियोगिता, वाद-विवाद, आलोचना और मतभेद के रूप में बदल गया।¹⁰

हर्बर्ट स्पेंसर और लेजली स्टीफेन के साथ विकासवाद का प्रणयन करने वाले सैमुअल अलेक्जेंडर की मान्यता है कि समाज यद्यपि प्राकृतिक शक्तियों से आविर्भूत हुआ है तथापि समाज मूलतः एक नैतिक व्यवस्था है और इस रूप में वह अन्य विकसित वस्तुओं से भिन्न है। उपरोक्त विकासवादियों से अलग एलेक्जेंडर का मत है कि समाज के विकास का कारण जीवन-संग्राम नहीं, अपितु जीवन संग्रह और जीवन-संरक्षण है। यदि समाज के सभी व्यक्ति संघर्षरत ही रहते तो सामाजिक विकास असंभव हो जाता क्योंकि बिना पारिवारिक सद्भाव

और एकता के विकास संभव नहीं है। समाज का आविर्भाव और विकास सहयोग, समंजस्य, सहकारिता और शांति की भावना से होता है।

विकासवाद के द्वारा समाज की उत्पत्ति और विकास का जो विवेचन किया गया है, उसकी समीक्षा करने पर पता चलता है कि विकासवाद में समाज को एक प्रकृतिप्रदत्त या स्वतः सिद्ध संगठन सूत्र मानते हुए उसके कृत्रिम या मानव निर्मित रूप के क्रमिक विकास का वर्णन किया गया है जो वास्तव में सत्य है। विकासवादियों की विचारधारा में विसंगति उसी स्थान पर प्रतीत होती है जब वे समाज को एक जैविक संस्था मानते हैं। सैमुअल एलेक्जेन्डर का विकासवाद अपेक्षाकृत वास्तविक अर्थों में समाज की व्याख्या करता है तथा समाज को एक नैतिक संस्था मानता है। भारतीय दर्शन में वेदों में इसी शाश्वत नैतिक व्यवस्था के लिए 'ऋत्' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा कान्ट ने भी इसे ही नैतिक नियम कहा था। फ्रायड इसे 'सुपर इगो' के रूप में अभिहित करता है तथा हीगेल इसी को तर्कसंगत बुद्धि कहता है। प्रायः इन सभी विचारकों ने कुछ मतभेदों के साथ इस बात पर सहमति प्रकट की है कि नैतिकता ही समाज की आत्मा है।

आधुनिक काल में अगस्त कॉम्टे ने समाज दर्शन की स्थापना की। समाज के इतिहास का सर्वेक्षण करते हुए कॉम्टे ने माना कि आरंभ में समाज का रूप सैनिक शासन का था जिसमें समाज के सदस्यों ने अपने राजनीतिक अधिकारों को उपलब्ध किया। अन्त में समाज का रूप औद्योगिक व्यवस्था में परिणत हुआ जिसमें विशेष योग्यता प्राप्त वैज्ञानिकों एवं तकनीकीविदों का प्राधान्य है। कॉम्टे ने समाज की तुलना एक सरल रेखा से की जिसका एक निश्चित उद्देश्य है और जिसकी एक निश्चित गति है। एक समाज का जब पतन हो जाता है तो दूसरा समाज उस पर हावी हो जाता है। यह प्रक्रिया सतत् चलती रहती है। स्पेन्गलर एक निराशावादी विचारक है जो अन्त में सम्पूर्ण समाज के पतन की ही कल्पना करता है। उसके विपरीत ट्वानयवी का दृष्टिकोण आशावादी है। वह समाज के चक्रवत् परिवर्तन को वृत्त मानते हुए धर्म-केन्द्रित समाज को सर्वोच्च समाज मानता है। वह इस धारणा का समर्थक है कि प्रारंभिक अवस्था में समाज असभ्य था परन्तु अतीत में वह सभ्य हो गया।

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित साम्यवादी सिद्धान्त में भी समाज के विकास का उल्लेख किया गया है जिसे मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम दिया है। मार्क्स के अनुसार आदिम

समाज वर्गविहीन था जिसमें कोई शोषक या शोषित, धनी या निर्धन नहीं था। समाज की दूसरी अवस्था में दो वर्ग थे – मालिक और दास। स्वामी और दास के बीच संघर्ष निहित था जिसके परिणामस्वरूप सामन्तशाही समाज की स्थापना हुयी। इस अवस्था में सामन्त और प्रजा, दो वर्ग संघर्षरत थे जिनके परिणामस्वरूप चौथी अवस्था पूंजीवादी समाज की स्थापना हुयी। इस अवस्था में श्रमिक और पूंजीपति ये दो वर्ग थे। इनके बीच के संघर्ष के कारण अन्तिम अवस्था विकसित हुई जिसे समाजवाद कहा गया। मार्क्स का लक्ष्य वर्गविहीन समाज की स्थापना था जिसमें वर्गविहीन समाज की स्थापना था जिसमें वर्ग संघर्ष की कोई संभावना नहीं थी। मार्क्स ने सामाजिक विकास और सामाजिक परिवर्तन का मुख्य आधार आर्थिक साधनों के विकास को माना है।¹¹

समाज की उत्पत्ति के विषय में पश्चिम सिद्धान्तों को जानने के पश्चात् अब यहाँ यह जान लना आवश्यक होता है कि भारतीय शास्त्रों में समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में क्या विचार व्यक्त किए गए हैं।

भारतीय शास्त्रों में वर्णित मत्स्यन्याय एवं तदनन्तर स्थापित राजतन्त्र का ही यह अनुकरण था जिसमें 'जिसकी लाठी उसकी भैंस का सिद्धान्त लागू था। इतना भेद अवश्य है कि भारतीय दृष्टि मत्स्यन्याय के पहले सभी व्यक्तियों में सत्त्वगुण की प्रधानता थी। सभी धार्मिक एवं ईश्वरवादी थे। सभी प्राणी मात्र को ईश्वर का पुत्र समझते थे। सभी सबके साथ समानता, स्वतंत्रता, भ्रातृता का व्यवहार करते थे। कोई अपराधी शोषक था ही नहीं। इसलिए राजा, राज्य एवं दण्ड-विधान आदि अनावश्यक थे। धर्म नियन्त्रित जनता आपस में ही सब काम चला लेती थी। जब उसमें सत्त्व का हास हुआ, तमोगुण, रजोगुण बढ़ा, धर्म घटा, अधर्म का विस्तार हुआ, तब मत्स्यन्याय फैला। तब प्रजा ने पीड़ित होकर ईश्वर से प्रार्थना कर उसके अनुग्रह से चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम आदि लोकपालों के गुणों तथा अंशों से युक्त राजा को प्राप्त किया और उसे विविध प्रकार से सम्मानित किया। 'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति'। (मनु. 7/8) इत्यादि रूप से भारतीय शास्त्रों में राजा का महत्व गाया गया है।

प्राकृतिक स्थिति में हर समय जीवन एवं सम्पत्ति खतरे में रहती है। अतः वह राज्य की ही शरण लेना व्यक्तियों के लिए एकमात्र परमावश्यक समझता था। इसे वह नैतिक भी मानता था। जब व्यक्तियों ने अपने अधिकार राज्य को दे दिए, तब उसका पुनः अपहरण अनैतिकता

है। राज्यप्रदत्त नागरिक स्वतंत्रता से अधिक स्वतंत्रता सम्भव नहीं। मनुष्यों ने जीवन रक्षा के लिए राज्य की स्थापना की, राज्य का नियंत्रण स्वीकार किया। अतः मृत्युभय, स्वार्थ, उपयोगिता ये ही उसके आधार हैं, इसी उपयोगिता के आधार पर वह राज्य—विरोध को न्यायसंगत मानता है। 'यदि राज्य का नियम नागरिक की जीवन रक्षा पर आघात करता है तो नागरिकों को ऐसे नियम के विरोध करने का अधिकार है'।

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार पहले यद्यपि राज्य, राजा, दण्ड—विधान नहीं था, परन्तु कोई दण्डनीय भी नहीं था। सभी परस्पर एक—दूसरे के पोषक थे, कोई किसी का शोषक नहीं था। सभी धर्म नियंत्रित थे। धर्म युक्त होकर सब आपस में ही काम चला लेते थे। 'जो जैसा करेगा वैसा पायेगा' — यह नैसर्गिक नियम प्रचलित था।

न वै राज्यं न राजसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।

धर्मैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥ (महा. शां. प. 59/14)

वहीं दूसरी ओर महाभारत शान्तिपर्व में ही शरशय्यास्थ भीष्म जी ने अन्य धर्मों के साथ राजधर्म का भी उपदेश किया है। उसमें उन्होंने अराजकता को बड़ा पाप बताया है और कहा है कि 'राज्य स्थापना के लिए उद्यत् बलवान् के सामने सबको ही झुक जाना चाहिए। अराजक राज्य को दस्यु नष्ट कर देते हैं— 'अनिद्रमबलं राज्यं दस्यवोऽभिभवन्त्युत'। अराजक राज्य निर्वीर्य होकर नष्ट हो जाते हैं। अराजकता से अधिक कोई पाप नहीं'।

अराजकाणि राष्ट्राणि हतवीर्याणि वा पुनः॥

न हि पापात् परतरमस्ति किञ्चिदराजकात् ॥ (शां. प. 67/6-7)

ईश्वर एवं धर्म का नियंत्रण अस्वीकार कर अनियंत्रित धर्महीन शासक का सुख—शान्ति एवं राज्य स्थापना का उद्देश्य भी पूरा नहीं हो सकता। कहा जाता है कि धर्म और ईश्वर मानने से प्राणी को विचार करने का अवकाश नहीं रहता; परन्तु धर्म एवं ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी हिताहित सुव्यवस्था का पूर्ण विचार करने का सदा ही अवकाश रहता है। विचारपूर्वक ही प्रत्येक कार्य में प्रवृत्त होना आवश्यक है। फिर भी अनियन्त्रण, उच्छृंखलता से हटकर किसी ढंग के नियंत्रण का अंगीकार करना श्रेष्ठ है। इसके साथ ही प्राणी में

परोपकार की भावना भी निहित रहती है, जिसे वह स्वहित के लिए करता है। किन्तु जब देखा जाता है कि व्याघ्र—सरीखे क्रूर प्राणी भी अपने बच्चों की रक्षा के लिए प्राण देने को तैयार होते हैं तो प्रेम परोपकार प्राणियों में स्वाभाविक धर्म भी होते हैं। नीतिकारों ने इन्हें इस प्रकार श्रेणीबद्ध किया है —

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये

सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।

तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये

ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ।। (नीतिशतक 75)

‘जो स्वार्थ त्यागकर भी परोपकार ही करते हैं, वे सत्पुरुष हैं। जो अपने स्वार्थ की रक्षा करते हुए परोपकार करते हैं, वे सामान्य लोग हैं, जो लोग स्वार्थ के लिए परहित का विधात करते हैं, वे तो मनुष्य—वेश में राक्षस ही हैं; परन्तु जो लोग निष्कारण ही परहित विधात करते हैं, वे कौन हैं — उन्हें क्या कहा जाय — यह समझ में ही नहीं आता’।

सामान्य लोग भले ही स्वार्थी हों, परन्तु इस आधार पर कोई व्यवस्था नहीं की जा सकती। सामान्य रूप से भले ही प्राणी झूठ बोलता और घाट तोलता हो तो भी व्यवहार—व्यवस्थापक यदि झूठ बोलने और घाट तोलने को प्रश्रय देगा, तब तो अनर्थ ही होगा। इससे भी आगे सामाजिक सुख अर्थात् मनुष्य जाति के सुख के उद्देश्य से ही प्राणी को कार्याकार्य का निर्णय करना श्रेष्ठ है। फिर भी कभी उसी कार्य से बहुतों को सुख होता है, परन्तु कुछ लोगों को दुःख भी होता है। उलूक को प्रकाश से कष्ट होता है फिर भी प्रकाश त्याज्य नहीं होता। अतः ‘बहुजनसुखाय’ का विचार आवश्यक है। यद्यपि एक ढंग से चलने वाली ठीक टाइम देने वाली घड़ी ठीक समझी जाती है, परन्तु मनुष्य यंत्र नहीं है। यहाँ तो उसके अन्तःकरण को देखा जाता है। उसी प्रकार बाह्य परिणामों की अपेक्षा नीतिमत्ता एवं बुद्धि का ध्यान होना आवश्यक है।

‘दुरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनन्जय’ ।

(गीता 2/49)

समाज की उत्पत्ति के सन्दर्भ में उपर्युक्त पाश्चात्य एवं भारतीय शास्त्रों के मतों के जो वर्णन दिये गए हैं उसके आधार पर कहा जा सकता है कि इन दोनों मतों में कुछ समानता एवं असमानता स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जिसका विवरण इस प्रकार है।

भारतीय आर्ष इतिहास के अनुसार हॉब्स और रूसो दोनों की ही प्राकृतिक स्थिति का वर्णन असंगत है; क्योंकि अपने यहाँ के मतानुसार सत्त्वगुण के विकास के समय नैतिकता और सभ्यता थी। सत्त्व-हास के पश्चात् हॉब्स का चित्रण ठीक ही है। 'असमानता का जन्म' पुस्तक में उसने बताया है कि 'एक मनुष्य ने भूमि के टुकड़े को घेरा और कहा कि 'यह मेरा है'। उसने अन्य भोले मनुष्यों से उस टुकड़े पर अपना अधिकार स्वीकार करवाया। उसके अनुसार यह मनुष्य ही सभ्यता का जन्मदाता बना। उसी तरह अन्य मनुष्यों ने भी धीरे-धीरे भूमि के टुकड़े को अपनाया और दूसरों से अपना स्वामित्व स्वीकार करवाया। इस तरह व्यक्तिगत सम्पत्ति और असमानता ही सभ्यता की जन्मदात्री है'। लॉक प्राकृतिक स्थिति और राज्य की स्थिति को मानता है। उसके अनुसार मनुष्य विवेकशील एवं सामाजिक प्राणी है। 'सत्य बोलना अच्छा, झूठ बोलना पाप है' — इत्यादि नैसर्गिक नियमों का पालन वह आवश्यक समझता था।¹²

3.3: भारतीय समाज व्यवस्था:—

भारतीय सामाजिक जीवन के स्वरूप पर यदि दृष्टिपात करें तो सबसे महत्वपूर्ण स्थान पर परिवार की संकल्पना विद्यमान है। सामाजिक संगठन की ईकाइयों में परिवार का सर्वप्रथम एवं विशिष्ट स्थान है। इसका व्यक्ति तथा समाज के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। मानव जन्म लेने के पश्चात् अन्य प्राकृतिक प्राणियों के समान नहीं रहता बल्कि सम्पर्क और संगति से नित्य विकास की ओर अग्रसर होता है। परिवार ने मरणधर्मी मानव को अमरता तथा निरन्तरता प्रदान की है। ये मृत्यु तथा अमरता इन दो विरोधी स्थितियों का समन्वय करता है। मानव भले ही मर जाए परन्तु वह परिवार और विवाह के माध्यम से अपनी अविच्छिन्न संतति परम्परा द्वारा अमर हो जाता है। परिवार समाज की सबसे अधिक महत्वपूर्ण ईकाई है। अतः परिवार नामक संस्था पर और अधिक विचार किया जाना प्रासंगिक होगा।

3.3.1: परिवार:—

नवजात शिशु को संस्कृष्ट करने तथा विकसित करने में परिवार की अहम् भूमिका होती है। पति—पत्नी, माता—पिता, भाई—बहन परिवार के मुख्य सदस्य होते हैं। परिवार का विकास सभ्यता के साथ—साथ हुआ। स्त्री और पुरुष दोनों को ही परस्पर रति सुख की आवश्यकता पड़ी। यही भविष्य में विवाह बंधन में परिणत हुआ। पुत्र प्राप्ति के लिए मनुष्य को परिवार की आवश्यकता हुई क्योंकि संतति के अभाव में परिवार का अस्तित्व नहीं रह सकता। वैदिक युग में पितृ प्रधान संयुक्त परिवार की प्रणाली थी। संयुक्त परिवार में माता—पिता, भाई—बहन, पुत्र, कन्या, वधू, पौत्र, एवं प्रपौत्र आदि होते थे।¹³ ऋग्वेद के एक मंत्र में वर—वधू को आशीर्वाद देते समय कहा गया है कि तुम दोनों इसी घर में रहो। पृथक् न हो। अपने घर में पुत्रों पौत्रों सहित दीर्घायु का आनंद से उपभोग करो।¹⁴ परिवार का जल पीने, भोजन करने एवं ईश्वर की पूजा का स्थान एक हो। जिस प्रकार चक्र की नाभि में चारों ओर से अरें जुड़ी होती हैं, उसी प्रकार परिवार के सारे मानव, हृदय से सम्पृक्त होकर रहें।¹⁵ परिवार के उच्च आदर्शों का यह विवेचन भारतीय परिवार की संस्कृति एवं सभ्यता के विकास का यह स्तर समूचे विश्व संस्कृति के लिए आदर्श है। अथर्ववेद में पिता को धनुष माता को प्रत्यंचा तथा पुत्र की शर से तुलना करके यह बताया गया है कि परिवार परस्पर के संयोग से लक्ष्यों की पूर्ति करता है।

वैदिक काल के समान ही स्मृति काल में भी परिवार समाज की मूल एवं सुदृढ़ संस्था के रूप में दिखाई देती है। वैदिक काल के समान ही चतुर्वर्ण व्यवस्था इस काल में भी विद्यमान रहती है। बालक के गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक समस्त संस्कार पारिवारिक व्यवस्था का ही प्रतिफल हैं। आचार्य मनु ने कन्या का विवाह न करने वाले पिता, ऋतुकाल के उपरांत उससे संगम न करने वाले पति तथा वृद्धावस्था में माता का भरण—पोषण न करने वाले पुत्र की निंदा की है। परिवार में दूसरों से अपने दायित्वों को निभाना, परिवार तथा समाज के विकास के लिए आवश्यक है।¹⁶ स्त्री के परिवार से अलग रहने को मनु ने अनिष्टकर कहा है। स्त्री सदैव परिवार में रहकर ही सम्मान अर्जित कर सकती है। भारतीय समाज व्यवस्था में परिवार नामक समाज की महत्वपूर्ण संस्था भी कुछ अन्य प्रमुख घटकों से मिलकर बनी हुई है। उनमें कुल एवं गोत्र के घटक महत्वपूर्ण हैं।

3.3.2: कुल एवं गोत्र :-

गोत्र शब्द से तात्पर्य है कि किसी एक पूर्वज से चली आ रही अविच्छन्न संतति परम्परा। इसमें उस व्यक्ति की संतति परम्परा के सारे लोग आ जाते हैं। जैसे जब कोई अपना गौतम गोत्र कहता है तो वह गौतम ऋषि का वंशज है। पाणिनी एवं कौटिल्य गोत्र को कुल अर्थात् एक जाति के सदस्यों के रूप में प्रयुक्त करते हैं। सभ्य समाज में परिवार, स्त्री एवं पुरुष के मध्य होने वाला दैहिक एवं आध्यात्मिक सम्बंध है लेकिन यह सम्बंध विवाह नामक एक अन्य सामाजिक संस्था के माध्यम से स्थापित होता है। अतः विवाह नामक इस महत्वपूर्ण संस्था पर भी विचार अपेक्षित है।

3.3.3: विवाह :-

धार्मिक चेतना के विकास से विवाह केवल मात्र सामाजिक आवश्यकता ही नहीं बल्कि धार्मिक कर्तव्य भी समझा जाने लगा था। अथर्ववेद में वर-वधू के गुणों, विवाह समय और विवाह विधि का विस्तार से वर्णन है। मनु ने समान वर्ण में विवाह को श्रेष्ठ माना है। उन्होंने वर-वधू के गुणों, विवाह में त्याज्य कुलों तथा अष्टविध विवाहों का सम्पूर्ण विधिविधान सहित वर्णन किया है।¹⁷ अविवाहित पुरुष धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन का अनाधिकारी है। मनु ने पुनर्विवाह, तथा विधवा विवाह का भी उल्लेख किया है। अथर्ववेद में दाम्पत्य जीवन का मधुर वर्णन है। मनु के अनुसार गर्भधारण करके सन्तानोत्पत्ति के लिए स्त्रियों की और संतान के लिए गर्भाधान करवाने के लिए पुरुषों की उत्पत्ति हुई। अतः ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। साधारण से साधारण धर्मकार्य का अनुष्ठान भी दम्पति को मिलकर करना चाहिए।¹⁸ अथर्ववेद एवं मनु स्मृति आदि में सन्तति प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन मिलता है। भारतीय समाज की लचीली, यथार्थपरक एवं मानवीय व्यवस्था का दर्शन हमें संतानप्राप्ति की नियोग विधि में होता है। मनु ने सन्तानाभाव में नियोग विधि की व्यवस्था सन्तान प्राप्ति का साधन कहा है। स्त्री अपने पति के बड़े या छोटे भाई से अथवा उत्तम वर्ण या स्वजातीय पुरुष से नियोग कर सन्तानोत्पत्ति कर सकती है। पति जब सन्तति उत्पादन में स्वयं असमर्थ हो तभी उसके आदेश से पत्नी नियोग द्वारा सन्तानोत्पत्ति करे। ग्रहस्थ आश्रम समाज का आधार है एवं इसमें सन्तानोत्पत्ति से ही गतिशीलता आती है। यह क्रम कभी टूटने न पाए। समाज में मनुष्य

दूसरों के साथ परस्पर निर्भर है। जन्म के समय व्यक्ति को समाज की विशेष आवश्यकता रहती है। आवश्यकताओं के रूप एवं व्यवहार संस्कृति के द्वारा नियमित होते हैं।

भारतीय समाज व्यवस्था वर्ण, आश्रम एवं पुरुषार्थों पर आधारित है। अतः इनकी चर्चा भी उपादेय है।

3.3.4: चातुर्वर्ण्य व्यवस्था :-

श्रीमद्भागवत के अनुसार सर्वप्रथम सभी मानवों का एक मात्र हंस वर्ण था। इसके बाद गुण तथा स्वभाव परिवर्तन से चार जाति वाले विधान का सूत्रपात हुआ—(आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः) (भागवत 11/17/10)

वेदों में वर्ण शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। प्रसंगानुसार इसके अर्थ रूप, रंग, अनिष्ट निवारक रश्मि, वर्णनीय कांति, वरणीय प्रकाश तथा ब्राह्मणादि वर्ण चतुष्टय हैं। वर्ण शब्द स्वतः समाज व्यवस्था की दृष्टि से कर्म पर आधारित व्यवस्था को सिद्ध करता है। यास्क ने वर्ण शब्द का निर्वचन “वर्णो वृणोतेः” किया है। इसका अर्थ है वर्ण वह है जिसका गुण कर्म के अनुसार वरण किया जाए।¹⁹ महर्षि दयानंद सरस्वती के अनुसार गुण कर्मों को देखकर जिसके गुण—कर्म जैसे हों उसे उसी प्रकार का वर्णाधिकार देना वर्ण है।²⁰

अथर्ववेद में उपनयन संस्कार के वर्णन में कहा गया है कि आचार्य विद्या अध्ययनार्थ आए हुए बालक को तीन दिन अपने पास रखकर परीक्षण के पश्चात् उसका उपनयन या यज्ञोपवीत संस्कार करता था। इस मंत्र से प्रतीत होता है कि उस समय उसका गुणकर्म स्वभावशः परीक्षण करके, उसका कौन सा वर्ण निर्धारित करना है। इसके बाद यज्ञोपवीत सम्पादन कर उसकी शिक्षा—दीक्षा प्रारम्भ की जाती है।²¹ इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में वर्ण की विविधता होते हुए भी मौलिक एकता विद्यमान थी।

वर्तमान समय में वर्ण को जाति के समरूप माना जाता है। दोनों को एक मान लेने से बहुत कठिनाई उत्पन्न हुई है। वर्तमान शोध—प्रबंध के संदर्भ में भी इन दोनों शब्दों का बहुत महत्व है। अतः पहले संक्षेप में यह जान लेना आवश्यक है भारतीय समाज शास्त्रज्ञ ‘जाति’ शब्द से क्या आशय ग्रहण करते थे।

3.3.5: जाति :-

न्याय दर्शनकार गौतम ऋषि ने जाति की परिभाषा “समानप्रसवात्मिका जातिः” अर्थात् जिनकी जन्म लेने की विधि या प्रसव विधि समान हो वे सभी एक जाति के हैं।²² अतः संसार के समस्त मानवों की प्रसव और भोग विधि समान होने से वे सब एक जाति के हैं। महाभाष्यकार पतंजलि के अनुसार जाति वह है जो जन्म से प्राप्त होती है।²³ सांख्यदर्शनकार कपिल मुनि पुनः भागवत के हंस वर्ण की बात करते हैं कि “मनुष्यों की एक ही जाति है”।²⁴ यद्यपि जाति शब्द के अर्थ एवं विकास में भी मूल एकत्व की भावना के दर्शन होते किंतु दोनों शब्द एक ही नहीं हैं। दोनों को मिला देने से समाज में विघटन का आरंभ हुआ।

3.3.6: वर्ण तथा जाति का सम्बंध :-

वर्तमान युग में वर्ण और जाति को समानार्थी माना जाता है। डॉ. पी. वी. काणे के अनुसार वर्ण की अवधारणा वंश, संस्कृति, चरित्र तथा व्यवसाय पर आधारित है। इसमें मानव की बौद्धिक एवं नैतिक योग्यता का सम्मिश्रण होता है। वर्ण शब्द स्वाभाविक वर्गों की व्यवस्था का परिचायक है। जाति व्यवस्था ठीक इसके विपरीत जन्म एवं आनुवांशिकता पर बल देती है। यह कर्तव्यों अथवा आचरणों पर बल दिए बिना केवल विशेषाधिकारों पर आधारित होती है।²⁵ वर्ण, जन्मना जाति व्यवस्था में परिवर्तित हो गया।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में सर्वप्रथम चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। इसमें विराट पुरुष से यथाक्रम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्णों की उत्पत्ति बताई गई है।²⁶ वर्णव्यवस्था का क्रमिक विकास हुआ है। ऋग्वेद में वर्णव्यवस्था का सूक्ष्म तथा यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में विकसित रूप मिलता है। वेदों में वर्ण का अर्थ रंग है। अथर्ववेद में जाति शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। वैदिक काल में वर्ण परिवर्तन का भी उल्लेख हुआ है। डॉ. पी. वी. काणे का मत है कि ऋग्वेद के काल में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों में कर्मसम्बन्धी भेद नहीं था। एक भाई क्षात्र धर्म का पालन करता था। अन्य ब्राह्मण धर्म का पालन करता था।²⁷ मनु ने चार वर्णों का

उल्लेख किया है। मनु भी वर्ण परिवर्तन को स्वीकार करते हैं।²⁸ ब्राह्मणों के समक्ष बड़े उच्च जीवन आदर्श थे। डॉ. पी. वी. काणे के अनुसार —

‘उन्हें कर्तव्य के रूप में वेद एवं वेदांगों का अध्ययन करना पड़ता था, उन्हें यज्ञ—सम्पादन करना पड़ता था, दान देना पड़ता था और उनकी जीविका के उचित साधन केवल तीन थे — वेद एवं शास्त्रों की शिक्षा देना, यज्ञों में पौरोहित्य का कार्य करना एवं धार्मिक तथा अन्य दान ग्रहण करना। वेदाध्ययन कितना कठिन कार्य था, इसका परिज्ञान इसी से हो सकता है कि एक वेद का ज्ञाता तथा कम से कम एक वेद को सम्पूर्ण कण्ठस्थ कर लेने वाला ब्राह्मण बड़ा विद्वान गिना जाता था। मान लीजिए कोई ब्राह्मण ऋग्वेद का विद्यार्थी है तो उसे ऋग्वेद के दस सहस्र से अधिक मंत्रों, उसके पद—पाठ, क्रमपाठ, ब्राह्मण, (सामान्यतः ऐतरेय), छह वेदांगों, (यथा— आश्वलायन का कल्प सूत्र, पाणिनी का व्याकरण जिसमें लगभग 4000 सूत्र हैं, निरुक्त जो 12 अध्यायों में है, छंद, शिक्षा एवं ज्योतिष) को कण्ठस्थ करना पड़ता था। छह वेदांगों में प्रथम तीन बहुत लम्बे एवं गूढ़ ग्रंथ हैं। उन्हें बिना शुल्क लिए वेद का अध्यापन करना पड़ता था (वेदाध्यापन करने पर शुल्क—ग्रहण पाप समझा जाता था)। शिक्षा के अंत में दिये जाने पर वे कुछ ग्रहण कर सकते थे। यज्ञों में पौरोहित्य कार्य से पर्याप्त दक्षिणा मिल जाती थी। किंतु सभी ब्राह्मण पुरोहित नहीं होते थे। वे यदि चाहे तो हो सकते थे। किंतु इसके लिए विद्वता अनिवार्य थी। बहुत से ब्राह्मण श्राद्ध कर्म में पुरोहित होना स्वीकार नहीं करते थे। इनके समक्ष दरिद्रता का जीवन, सादा जीवन एवं उच्च विचार का आदर्श था। वे धन के लोभी नहीं थे। उन्हें अपने और आर्य समाज के मूल्य को बढ़ाने की आवश्यकता पर बल देना पड़ता था। वे प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति के अध्ययन, रक्षण, प्रसारण एवं वृद्धि में लगे रहते थे। यही उनके जीवन का प्रमुख आदर्श था। ब्राह्मण लोग शदियों से चले आये हुए इतने समृद्ध एवं विशाल साहित्य के संरक्षक थे। उनसे ऐसी आशा की जाती थी कि वे नित—नव नूतन बढ़ते हुए साहित्य की भी रक्षा करें और उसे सम्यक् रूप से औरों में बाँटें तथा सम्पूर्ण साहित्य का प्रचार करें। यद्यपि सभी ब्राह्मण इतने बड़े आदर्श तक नहीं पहुँच पाते थे, किंतु फिर भी ब्राह्मणों की बहुत बड़ी संख्या इस महान कार्य में संलग्न थी। इन्हीं लोगों के कारण सम्पूर्ण ब्राह्मण समाज

को इतना बड़ा माहात्म्य प्राप्त हुआ। कुछ अपवादों को छोड़कर ब्राह्मण कभी शासक नहीं बने। क्षत्रिय एवं शूद्र अवश्य राजा बने।²⁹

भारतीय समाज—व्यवस्था में वर्ण—व्यवस्था के समान ही आश्रम—व्यवस्था का भी महत्वपूर्ण स्थान है। एक व्यक्ति सौ वर्षों के जीवन में, आयु के विभिन्न सोपानों पर समाज में किस प्रकार के कर्तव्य का निष्पादन करेगा, यह आश्रम—व्यवस्था के द्वारा निर्धारित होता है। अतएव यहाँ आश्रम—व्यवस्था की चर्चा आवश्यक है।

3.3.7: आश्रम व्यवस्था :—

भारतीय समाज में आश्रम व्यवस्था मानव को जीवन के अंतिम लक्ष्य की पूर्ति के लिए अग्रसर करती है। मानव इससे चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) की प्राप्ति करता है। इस पद्धति से अन्तिम प्राप्तव्य मोक्ष के लिए पूर्व प्रयत्न का ज्ञान होता है। श्रुति एवं स्मृति कालीन आश्रम व्यवस्था का यही एक विशिष्ट महत्व है। आश्रम व्यवस्था मानव के सर्वांगीण विकास के साथ-साथ सामाजिक समस्याओं का समाधान भी करती है। ये मानव जीवन की चार विशिष्ट अवस्थाएँ हैं। अथर्ववेद में प्रमुखतया ब्रह्मचर्य एवं ग्रहस्थाश्रम का उल्लेख मिलता है। मनु ने ग्रहस्थ आश्रम से ही शेष तीन आश्रम निकले हुए माने हैं।

3.3.7.1: ब्रह्मचर्य आश्रम:—

इसका अर्थ है ब्रह्म के मार्ग पर चलना। एक अन्य अर्थ है वेद के मार्ग पर चलना। महर्षि दक्ष मुनि ने अष्टविध मैथुन से विरत पुरुष को ब्रह्मचारी कहा है। इस आश्रम का आरंभ उपनयन संस्कार से होता है। इसके पूर्व गुरु शिष्य के गुण स्वभाव का निरीक्षण करता है। यज्ञोपवीत होने के बाद शिक्षा आरंभ होती थी। मनु एवं याज्ञवल्क्य दोनों ने ही यज्ञोपवीत धारण करने पर विशेष बल दिया है। याज्ञवल्क्य, कौटिल्य, मनु आदि सभी आचार्यों ने इसका महत्व स्वीकार किया है। मनुस्मृति का कथन है कि जो अखण्डित रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह ब्रह्म के पद को प्राप्त करता है।³⁰

3.3.7.2: गृहस्थ आश्रम:—

गृहस्थ आश्रम शब्दों का सम्मिलित अर्थ है “घर में आश्रय लेना” या घर में रहना। अन्य तीनों आश्रमों में मानव घर में निवास नहीं करता, प्रथम आश्रम में गुरुकुल, तृतीय आश्रम में अरण्यवास तथा चतुर्थ आश्रम में सर्वस्व त्याग का निर्देश प्राप्त होता है। गृहस्थ आश्रम को सभी आश्रमों से श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि इसमें तीनों आश्रमवासियों की आवश्यकताएँ पूर्ण होती हैं। आचार्य मनु ने चारों आश्रमों को पृथक् पृथक् गृहस्थ आश्रम से ही उत्पन्न हुआ कहा है।³¹ आश्रम धर्मों के पालन से मानव मोक्ष की ओर अग्रसर होता है।³² वर्तमान समय में इसी आश्रम की प्रधानता दिखाई देती है। अन्य आश्रमों की व्यवस्था लगभग विच्छिन्न हो गई है। जिससे समाज में नाना प्रकार की विसंगतियाँ दिखाई देती हैं। समाज व्यवस्था भी सुव्यवस्थित दिखाई नहीं देती। बौधायन का मत है कि पितृ ऋण से पुत्रोत्पत्ति बिना मुक्ति नहीं हो सकती। अतः गृहस्थ बनना ही पड़ेगा।³³ इस आश्रम हेतु विवाह की आयु, पति-पत्नी के कर्तव्य, जीविका, व्रत, आहार आदि का विशेष निर्देश है।

3.3.7.3: वानप्रस्थ आश्रम :—

गृहस्थ के केश जब सफेद, त्वचा ढीली तथा घर में पौत्र हो जाए तो उस समय उसे वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा विधि में कहा गया है कि द्विज ग्राम्य, आहारों, तथा घर के पदार्थों का त्यागकर केवल अग्निहोत्र की सामग्री को साथ लेकर, पत्नी को पुत्रों के पास छोड़कर अथवा साथ लेकर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करे तथा वन में जितेन्द्रिय होकर रहता हुआ, नित्य पंचमहायज्ञों का सम्पादन करे।³⁴ वन में रहते हुए उसे आत्म शुद्धि के लिए ज्ञान, उपासना, विधायक श्रुतियों के अर्थों पर विचार, मनन, अभ्यास तथा आचरण करे।³⁵

3.3.7.4: संन्यास आश्रम:—

संन्यास का अर्थ मोहमाया तथा सांसारिक बंधों से निर्मुक्त होकर परम तत्त्व की प्राप्ति में लीन होना है। मनु तीनों आश्रमों के बाद या फिर किसी भी आश्रम से सीधे इस आश्रम में प्रवेश को स्वीकार करते हैं।

समाज, लोगों के व्यवस्थित समूह का नाम है। यह समूह व्यक्ति, परिवार, कुटुम्ब, वर्ण, कुल, गोत्र, आश्रम आदि संस्थाओं एवं घटकों के द्वारा निर्मित होता है। समाज, व्यक्तियों के व्यवस्थित, श्रम-विभाजन के द्वारा परस्पर सहयोग से कर्तव्य निष्पादन से प्रगति करता है। समाज में व्यक्ति के कर्तव्यों के निर्धारण की ही ये सभी व्यवस्थाएँ एवं नियमावलियाँ हैं, जिन्हें हम वर्ण, आश्रम आदि के नाम से जानते हैं। इन्हीं में से एक अन्य व्यवस्था है ऋण-व्यवस्था। अतः इस पर भी विचार आवश्यक है।

3.3.8: ऋण-व्यवस्था:—

पी. वी. काणे के अनुसार आध्यात्मिक एवं धार्मिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति पर तीन ऋण होते हैं, यथा देवऋण, ऋषिऋण, एवं पितृऋण। अति प्राचीन वैदिक कालों से ही यह धारणा भारतीय संस्कृति की मौलिक धारणों में परिगणित रही है। प्राचीन विद्या के अध्ययन, यज्ञ-सम्पादन एवं पुत्रोत्पत्ति से व्यक्ति क्रम से ऋषि-ऋण, देव-ऋण एवं पितृ-ऋण से मुक्त होता है। इन तीनों ऋणों में महाभारत एक चौथा ऋण जोड़ देता है, जो मनुष्य ऋण है। यह लोगों के प्रति किए गए अच्छे व्यवहारों से चुकाया जाता है। यह सिद्धांत केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि तीनों उच्च वर्णों को तीनों ऋणों से मुक्त होना आवश्यक है (जैमिनि 6/2/31)।³⁶

भारतीय समाज में व्यक्ति के कर्तव्य निर्धारण का सर्वोच्च मापदण्ड, पुरुषार्थ व्यवस्था है। चार प्रकार के पुरुषार्थ माने गए हैं। ये क्रम से हैं : धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। यहाँ इनकी चर्चा प्रासंगिक है।

3.3.9: पुरुषार्थ-व्यवस्था:—

पुरुषार्थ की धारणा मानवीय प्रयास के ध्येयों अथवा लक्ष्यों की द्योतक है। डॉ. काणे के अनुसार धर्म (सदाचार), अर्थ (अर्थशास्त्र, राजनीति, एवं नागरिक शास्त्र), काम (आनन्दभोग एवं सौन्दर्यशास्त्र), मोक्ष (आत्मा द्वारा अपने वास्तविक स्वभाव की अनुभूति तथा हीन इच्छाओं तथा ध्येयों के बंधन से स्वतंत्रता)। मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा गया है और अन्य तीनों को त्रिवर्ग की संज्ञा मिली है। धर्म वे सिद्धांत हैं जिन्हें व्यक्तियों को जीवन भर तथा

सामाजिक सम्बंधों में अपने आचरणों में उतारना पड़ता है। महाभारत के उद्योगपर्व में आया है— 'धर्म सभी जीवों को धारण करता है इसलिए धर्म कहलाता है।' महाभारत तथा मनुस्मृति दोनों में उद्घोषणा है — 'धर्म मनुष्य की रक्षा करता है, अतः धर्म का हनन कभी नहीं होना चाहिए, नहीं तो धर्म हमें नष्ट कर देता है।' महाभारत में ही आया है कि तीन — धर्म, अर्थ, काम सभी के लिए हैं। धर्म तीनों में श्रेष्ठ है। अर्थ बीच में आता है और काम सबसे नीचा है। अतएव यदि इन तीनों में विरोध हो तो धर्म का अनुसरण करना चाहिए और अन्य दो को छोड़ देना चाहिए। इससे प्रकट होता है कि अर्थ एवं काम दोनों धर्म के अधीन हैं। हमारे शास्त्र सभी के लिए संन्यास की व्यवस्था नहीं देते, किंतु उन्होंने मूल्यों की एक सोपान-पद्धति निर्धारित की है। मनु (4/3 एवं 15) ने व्यवस्था दी है — 'व्यक्ति को अपने वर्ण आदि की स्थिति के अनुकूल ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा बिना किसी की हानि किये अर्थ संग्रह करना चाहिए। किसी को अत्यधिक विषयासक्त होकर तथा शास्त्र द्वारा गर्हित कहे हुए कर्मों द्वारा धन-संग्रह नहीं करना चाहिए और जब उसके पास पर्याप्त धन है, तब भी ऐसा नहीं करना चाहिए और न ही पापी लोगों से धन प्राप्त करना चाहिए, तब भी नहीं जब वह बड़ी कष्टमय अवस्था में पड़ा हो। कौटिल्य ने भी कहा है कि विषयों का उपभोग इस प्रकार करना चाहिए कि मनुष्य धर्म एवं अर्थ के विरोध में न पड़ जाए और न आनंदरहित होकर ही जीवन यापन करना चाहिए।'³⁷ मोक्ष का कम लोग अवलम्बन करते हैं। यह छुरे की धार के समान बहुत ही कठिन मार्ग है।

समाज के साथ संस्कृति का गहरा सम्बंध है। अतएव उसकी चर्चा भी आवश्यक है।

3.4: समाज एवं संस्कृति:—

समाज एवं संस्कृति के मध्य सम्बंध के पूर्व पुनः समाज के अर्थ को संक्षिप्त में जान लेना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त एक अन्य अर्थ में समाज शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसमें समाज को उस समूह के रूप में अभिहित किया जाता है, जिसे उसके सदस्य किसी निश्चित उद्देश्य से गठित करते हैं। समाज केवल व्यक्तियों का समूह ही नहीं है बल्कि उसमें रहने वाले व्यक्तियों के जो पारस्परिक सम्बंध हैं, उन सम्बंधों के संगठित रूप को समाज कहते हैं। कुछ विद्वान तो मानव की पशु प्रवृत्तियों पर अंकुश रखे जाने में ही

समाज की उत्पत्ति एवं आवश्यकता को निहित मानते हैं। समाज व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बंधों का संगठन है, किंतु यह आवश्यक नहीं कि उनके बीच का सम्बंध सदैव सहयोगात्मक ही हो। इसमें प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष भी हो सकता है। कहा जा सकता है कि समाज मानवीय सम्बंधों का पुंज है। समाज-शास्त्र तो इन सम्बंधों को देश-काल परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील मानता है। इसके विपरीत समाज दर्शन उनके मध्य उन शाश्वत् सम्बंधों का अनुसंधान करता है, जो किसी भी आदर्श समाज और उसकी इकाईयों के मध्य होना चाहिए। अब इस संक्षिप्त विवरण के बाद संस्कृति की संकल्पना पर विचार करना आवश्यक है।

3.4.1: संस्कृति की संकल्पना:—

संस्कृति का अर्थ है संस्करण, परिमार्जन, शोधन, परिष्करण अर्थात् ऐसी क्रिया जो मानव में निर्मलता एवं पावनता का संस्कार करे। विचार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है, वही संस्कृति है। समस्त सीखा हुआ व्यवहार ही संस्कृति है। मानव ने धर्म, आचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज की जिन मान्यताओं को परम्परा से प्राप्त किया एवं निर्धारित किया, वे ही संस्कृति के मूल उपादान तत्व हैं और ये तत्व सनातन हैं। भारतीय दृष्टि में संस्कृति मानवधर्म है। संस्कृति का अर्थ संस्कार सम्पन्न जीवन, जीवन जीने की कला, पद्धति, धरातल का एक ठोस सत्य तथा बुद्धि का आदर्श है।

संस्कृति शब्द का उद्गम संस्कार शब्द से हुआ है, जिसका अर्थ है, वह क्रिया जिसके द्वारा मन को माँजा जाता है, जीवन को परिष्कृत किया जाता है, मानवता को निखारा जाता है अथवा विचारों को शुद्ध संस्कारित किया जाता है।

डॉ. रामधारी सिंह 'दिनकर' ने "जिंदगी के तरीकों को ही संस्कृति की संज्ञा दी है।"

ई. बी. टेलर के अनुसार 'संस्कृति एक ऐसी जटिल पूर्णता है जिसमें ज्ञान, आस्था, कला, नैतिकता, कानून, रीति-रिवाज और अन्य दक्षताएँ एवं आदतें आती हैं जिन्हें समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य अर्जित करता है।'

मानवता में संस्कृति कोई मूल प्रवृत्तिजन्य या जन्मजात या जैविकीय रूप से हस्तांतरित नहीं होती। यह जन्म के बाद प्रत्येक व्यक्ति में आदतों एवं प्रतिक्रियाओं आदि के रूप में बनती है। सामूहिक रूप से आदतों की भागीदारी संस्कृति बन जाती है। संस्कृति परिवर्तनशील भी है। यह परिवर्तन आंतरिक या सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कारण होता है। परिवर्तन में भी

संस्कृति के घटक एक ईकाई के रूप में पूर्ण बने रहते हैं। भाषा के माध्यम से सांस्कृतिक घटक एक से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होते हैं। ऐसे हस्तांतरण से ही अति दूरस्थ अतीत से सम्बंध बनता है जो अति दूरस्थ भविष्य तक भी जा सकता है। इसी से संस्कृति परिवर्तित एवं परिवर्धित होती है।

हर्सकोवित्स के अनुसार 'पर्यावरण का मनुष्य निर्मित भाग संस्कृति है।'

लिटन के अनुसार 'किसी समाज के सदस्यों का संग्रहित ज्ञान, वृत्ति और आदतन व्यवहार जो उनके द्वारा साझा और हस्तांतरित होता है, संस्कृति कहलाता है।'

यह जैविकीय विकासवाद का परिणाम नहीं है। समाज में विद्यमान कोई समूह अपने प्रौढ़ व्यवहार में विवेकपूर्ण अधिगम या नियोजित प्रक्रिया द्वारा सांस्कृतिक घटकों को अधिगत करता है। ये घटक भौतिक एवं अभौतिक हो सकते हैं। भौतिक घटकों में आवास, वस्त्र, चिकित्सा और अन्य संसाधनों जैसी भौतिक चीजें सम्मिलित हैं। अभौतिक घटक भाषा, साहित्य, कला, रीति-रिवाज, नैतिकता, कानून और शासन आदि हैं।

भौतिक एवं आध्यात्मिक इन दो रूपों में संस्कृति का विकास होता है। प्राकृतिक पदार्थों में मानव के द्वारा किए गए परिवर्तनों एवं संस्कारों से भौतिक संस्कृति का निर्माण होता है। मानव की जिस क्रिया से उसकी आत्मा या प्रकृति का संस्कार होता है, उसे संस्कृति का आध्यात्मिक पक्ष कहा जाता है। मानव ने अभी तक जो भौतिक प्रगति की है, वही उसकी भौतिक संस्कृति का विकास है। इसमें विज्ञान, पशु-पालन, शिल्प, रहन-सहन का नाम लिया जा सकता है। संस्कृति के ये दोनों पक्ष परिस्थितियों और वातावरण के अनुरूप न्यूनाधिक आगे बढ़ते रहे हैं। "आध्यात्मिक" संस्कृति का सम्बंध आंतरिक और भौतिक संस्कृति का सम्बंध बाह्य जगत् से होता है।

संस्कृति संस्कार से बनती है। परिमार्जन की क्रिया को संस्कार कहते हैं। जिस क्रिया से वस्तु की शुद्धि, उपयोगिता और लालित्य में वृद्धि हो जाती है, वह संस्कार है। यह शरीर का ही नहीं मन का भी पोषण करने लगती है। संस्कार मानव मन के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों का उत्थान करते हैं। उत्थान की यह परम्परा तथा पहचान किसी देश की संस्कृति बन जाती है। संस्कार ही संस्कृति के मूलाधार हैं। दोनों में कार्यकारण भाव का सम्बंध है। संस्कारों से प्रकृति सुकृति में परिवर्तित हो जाती है। मानव अपने प्रगति पथ में जिन नियमों

और प्रक्रियाओं का निर्माण करता है, वे ही संस्कार का रूप धारण कर लेते हैं और इनसे संस्कृति भी स्वतः ही विकसित होती चली जाती है।

3.4.2: समाज और संस्कृति में सम्बंध:—

संस्कृति मनुष्य के मन के विचार, मूल्यों से सम्बंधित है जबकि समाज मनुष्यों से सम्बंधित है। विचारों से संस्कृति और व्यक्तियों से समाज बनता है। समाज एवं संस्कृति के मध्य इस तुलना से यह ज्ञात होता है कि संस्कृति, समाज की तुलना में अधिक सूक्ष्म तत्व है। संस्कृति मानव की आत्मा के सदृश है। किसी संस्कृति के विशिष्ट सांस्कृतिक मूल्य उसकी विशिष्ट पहचान होते हैं। समाज के सम्बंध में व्यक्तियों एवं उनके सामूहिक पारस्परिक सम्बंधों का अत्यंत महत्व होता है। ये सम्बंध शाश्वत् नहीं होते बल्कि परिवर्तनशील होते हैं।

हर्सकोविट्स के अनुसार 'मनुष्यों की जीवन शैली संस्कृति है जबकि उस निर्दिष्ट जीवन शैली पर सामूहिक रूप से चलने और आपस में व्यवहार करने वाले समूह को समाज कहते हैं।'

समाज एवं संस्कृति दोनों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। समाज का लोगों के जन्म, मृत्यु और अन्य लोगों द्वारा प्रतिस्थापन से संबंध है जबकि संस्कृति की स्थिरता, निरंतरता, परिवर्तन तथा ह्रास दीर्घकालिक होता है।

3.4.3: सोलह संस्कार:—

अथर्ववेद में तेरह तथा मनु स्मृति में सोलह संस्कारों का वर्णन है। ये हैं — गर्भाधान, पुसंवन (स्त्री के गर्भाधान के चिन्ह प्रकट होने पर दूसरे या तीसरे मास में पुत्रोत्पत्ति के उद्देश्य से यज्ञपूर्वक की जाने वाली विधि), सीमन्तोन्नयन (गर्भ के चतुर्थ मास में गर्भस्थिरता, पुष्टि एवं स्त्री के आरोग्य के लिए की जाने वाली विधि), जातकर्म (शिशुजन्म के समय में किया जाने वाला संस्कार), नामकरण, निष्क्रमण (अधिक से अधिक चतुर्थमास में बालक को घर से बाहर भ्रमण करवाने के लिए निकालना प्रारम्भ करना), अन्नप्राशन, मुण्डन, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त (युवावस्था के प्रारम्भ में केशकर्तन करवाना), समावर्तन (वेदाध्ययन तथा शिक्षा प्राप्त कर गृहस्थाश्रमी होने के लिए स्नातक बनकर गुरुकुल को छोड़कर घर आना), विवाह एवं गृहस्थाश्रम संस्कार, वानप्रस्थ, संन्यास, अन्त्येष्टि।

3.4.4: भारत का सांस्कृतिक बहुलतावाद:-

सांस्कृतिक बहुलवाद समाज का ऐसा प्रारूप है जिसमें विभिन्न विश्वासों, धर्मों, जातियों और पंथों के लोग अपनी आस्था और अस्मिता का निर्वहन गरिमापूर्वक ढंग से करते हुए, एक साथ रह सकते हैं। किसी समाज में सांस्कृतिक बहुलवाद का अभिप्राय उसमें विभिन्न उप-संस्कृतियों का एकसमान शर्तों पर सह-अस्तित्व का होना है। इस प्रकार की बहुलतावादी संस्कृति में उपसंस्कृतियाँ सहज रूप से विद्यमान रहती हैं।

उपसंस्कृतियों में रहने वाले लोगों की जीवन शैली, आचार और विचार में विभिन्नता रहती है। इस प्रकार सांस्कृतिक बहुलतावाद से सांस्कृतिक विविधता की धारणा का जन्म होता है। किसी एक समुदाय को उसकी भाषा, इतिहास, धर्म और वेशभूषा या आभूषण पहनने की शैलियों से पहचाना जा सकता है। बहु समुदायों के ये सांस्कृतिक वैशिष्ट्य केवल एक ही पीढ़ी के स्थान पर पीढ़ी दर पीढ़ी सामाजिक रूप से हस्तांतरित होते हैं।

किसी संस्कृति के एक छोटे से छोटे समुदाय के बीच में भी एक प्रकार की एकरूपता विद्यमान रहती है। एक ही समुदाय के सदस्यों के आचार-विचार में एकरूपता किंतु दूसरे से भिन्नता होती है किंतु सभी अपनी जीवन शैली का निर्वाह करते हैं और एक समुदाय दूसरे को अपनी जीवन शैली अपनाने के लिए विवश नहीं करता। उनमें से किसी एक में दूसरों की तुलना में श्रेष्ठता का भाव नहीं होता।

भारत के शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में सांस्कृतिक बहुलता है। इनमें आदिवासी, ग्रामीण और शहरी जनसंख्या है। इसमें भाषा, धर्म, जाति, आहार, भेषभूषा और जीवन शैली की विविधता विद्यमान रहती है। ये सब मिलकर एक वृहद् भारतीय समाज की रचना करते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जाति तथा अन्य भेदों द्वारा उत्पन्न हमारी यह सांस्कृतिक, सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक विच्छिन्नता स्वामी विवेकानंद के विचारों एवं उनके सन्देशों के द्वारा ही दूर हो सकती है।

उद्धरण एवं संदर्भ

1. डॉ. सहाय, जगदीश, *समाज-दर्शन की भूमिका*. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1999, पृ. 24
2. डॉ. शर्मा, मुंशीराम, *वैदिक संस्कृति और सभ्यता*. कानपुर: ग्रन्थम्, रामबाग, 1987, पृ. 50-51
3. डॉ. सिंह, शिव भानु, *समाज-दर्शन का सर्वक्षेप*. इलाहाबाद: शारदा पुस्तक भवन, 2013, पृ. 46
4. पूर्वोक्त
5. पूर्वोक्त
6. पूर्वोक्त, पृ. 47
7. पूर्वोक्त
8. पूर्वोक्त, डॉ. सहाय, जगदीश, पृ. 32
9. पूर्वोक्त, डॉ. सिंह, शिव भानु, पृ. 48
10. पूर्वोक्त, पृ. 51-52
11. पूर्वोक्त, पृ. 52-53
12. महाराज, श्रीस्वामी करपात्रीजी, *माक्सवाद और रामराज्य*. गोरखपुर: गीताप्रेस, सं. 2076, पृ. 91
13. मनु. 9/104, याज्ञवल्क्य 1/86
14. ऋग्वेद 10/85/43
15. ऋग्वेद 03/30/06
16. मनु, 09/02
17. मनु, 03/04 से 24 तक
18. मनु, 09/37
19. निरुक्त 2/1/4
20. वर्णो वृणोतेरिति निरुक्त प्रामाण्याद् वरणीया वरीतुमर्हाः।
गुण कर्माणि दृष्ट्वा यथायोग्यं त्रियन्ते ये ते वर्णाः॥ ऋग् भाष्य भूमिका
21. अथर्ववेद 11/5/3 एवं शतपथ ब्रा. 11/5/4/12
22. न्यायदर्शन सूत्र 2/2/71

23. जननेन या प्राप्यते सा जातिः । अष्टाध्यायी 5/3/55
24. सांख्यसूत्र 57
25. काणे, पी.वी., *धर्मशास्त्र का इतिहास*. पृ.118
26. ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैष्णवः पदभ्यां शूद्रो अजायत् ।। ऋग्वेद 10/90/12
27. काणे, पी.वी., *धर्मशास्त्र का इतिहास—पंचम् भाग*. लखनऊ: उ.प्र. हिंदी ग्रंथ अकादमी, 2010, पृ.
111
28. मनु, 10/65
29. पूर्वोक्त, काणे, पी.वी., *धर्मशास्त्र का इतिहास—पंचम् भाग*. पृ. 403—404
30. एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ।। मनु, 2/249
31. ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
एते गृहस्थ प्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ।। मनु, 6/87
32. मनु, 6/88
33. बोधायन धर्म सू. 2/42—43
34. मनु, 6/2 से 4 तक
35. मनु, 6/27, 29
36. पूर्वोक्त, काणे, पी.वी., *धर्मशास्त्र का इतिहास—पंचम् भाग*. पृ. 395
37. पूर्वोक्त, पृ. 396—397

अध्याय 4:

विवेकानंद का समाज-दर्शन

अध्याय 4: विवेकानंद का समाज-दर्शन

स्वामीजी का समाज के प्रति क्या विचार रहे हैं तथा वे समाज में किस प्रकार का विकास चाहते थे एवं इसके साथ ही समाज के प्रति उनका क्या योगदान रहा है, इन सभी पर इस अध्याय में विवेचन किया जाना है। स्वामीजी के समाज-दर्शन को जानने के पूर्व भारत में समाज की क्या स्थिति रही है, यह जानना आवश्यक है। स्वामीजी के पूर्व भारत में अनेक समाज सुधारक एवं साधु सन्तों ने समाज में अनेक प्रकार से समाज सुधार का कार्य किया। विभिन्न प्रकार के सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलन हुए, जिसका समाज पर अच्छा और बुरा दोनों ही प्रभाव पड़ा।

4.1 सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलनों का समाज पर प्रभाव :—

सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलनों का समाज पर अत्यन्त गहरा प्रभाव रहा है। मध्यकाल और भक्तिकाल के समय भारतवर्ष में अनेक महापुरुषों ने इस आन्दोलन में अपना महत्वपूर्ण योगदान किया। तत्कालिन सामाजिक एवं धार्मिक सन्तों में रामानुज, शंकर, नानक, चैतन्य, कबीर, दादू आदि द्वारा समाज में फैले हुए भेदभाव, अज्ञानता, अंधविश्वास एवं धर्म के नाम पर समाज में हो रहे अत्याचार से मुक्ति दिलाने के लिए प्रयास किया।

4.1.1: भक्ति आन्दोलन :—

भारतीय धर्मशास्त्र में मोक्ष के तीन मार्ग बताये गये हैं ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग। इस आन्दोलन के दो मुख्य उद्देश्य थे। प्रथम यह कि इसके द्वारा उस समय हिन्दू धर्म में उत्पन्न बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया गया और द्वितीय इन बुराइयों के दूर हो जाने पर यह उम्मीद की गई हिन्दुओं का इस्लाम धर्म के प्रति झुकाव घट जायगा और वे धर्म परिवर्तन नहीं करेंगे। इस प्रकार इसका उद्देश्य हिन्दू धर्म की रक्षा करना तथा सामाजिक धार्मिक बुराइयों को दूर करना था।

भक्ति आन्दोलन के प्रमुख प्रवर्तक संत कबीर थे। कबीर ने सबसे पहले हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्म के भेदों को दूर करने का प्रयत्न किया। उनके अनुसार ईश्वर एक है और ईश्वर का सबसे बड़ा मन्दिर मनुष्य का हृदय है। इसलिए हृदय की समस्त संकीर्णता को दूर करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। संकीर्णताओं में जाति पांति का भेदभाव भी एक है। इसलिए यह धार्मिक तथा सामाजिक दोनों दृष्टिकोण से गलत है। इसी आधार पर कबीर ने ब्राह्मणोंकी छुआछुत जाति-प्रथा और हिन्दुओं के धार्मिक दिखावे से उत्पन्न बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया।

भक्ति सम्प्रदाय की अवधारणा थी कि ईश्वर महान् है। उस महान् ईश्वर से प्रेम करना चाहिए और भक्ति के सहारे उसके पास तक पहुँचना तथा उसको जानने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रेम और भक्ति के सहारे ईश्वर पर भी विजय पाई जा सकती है। गीता में श्रीकृष्ण ने स्पष्ट ही कहा है कि भक्ति ही उन्हें सर्वाधिक प्रिय है। इसलिए भक्ति सम्प्रदाय के अनुसार भक्ति का मार्ग ही श्रेणी है और भक्ति और प्रेम करने का अधिकार किसी विशेष जाति या समुदाय को नहीं है। इस मार्ग पर प्रत्येक व्यक्ति चल सकता है, चाहे वह ब्राह्मण हो या शुद्र। भगवान के लिए सब समान है इसलिए जाति-पांति का भेदभाव अन्यायपूर्ण हैं। प्रत्येक जाति का सदस्य भक्तिमार्ग का पथिक हो सकता है। साथ ही साथ भगवान् के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए या मोक्ष प्राप्त करने के लिए गृहस्थ जीवन का त्याग भी आवश्यक नहीं है। गृहस्थ जीवन में रहकर भी भगवान की प्राप्ति हो सकती है, यदि हमारे अन्दर चित या भावनाओं की पवित्रता है, सच्ची भक्ति श्रद्धा है।

कबीर की भाँति दादू ने भी विभिन्न धर्मों को मिलाने की कोशिश की उन्होंने कहा कि सबसे बड़ा धर्म आत्मदर्शन है। इसके लिए हमें अभिमान को दूर करना चाहिए और ईश्वर के सामने आत्मसमर्पण कर देना चाहिए।

गुरु नानक ने अद्वैतवाद को ही सत्य बताया और कहा कि हिन्दू और मुसलमानों के धर्म में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसके क्षेत्र में दिखावा और मूर्तिपूजा का उन्होंने विरोध किया। आचरण की शुद्धता ही नानक जी के उपदेश का मूलमन्त्र है।¹

● भारतीय समाज पर भक्ति आन्दोलन का प्रभाव :—

प्रायः भारतीय धर्म दर्शन को विभिन्न जातियों को प्रभावित करने व खोखला बनाने के लिए तत्पर रहती थीं। इस सान्दर्भ में मुसलमानों ने काफी हस्तक्षेप किया। इसका नतीजा यह हुआ कि दोनों ही धर्मों के बीच एक गम्भीर तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। इस आन्दोलन की विशेष रूप से नीची जातियों के सदस्यों को सहयोग प्राप्त हो गया और हजारों लोग संत कबीर, नानक, चैतन्य, रामानन्द, तुकाराम आदि भक्ति आन्दोलन के प्रमुख नेताओं या संत साधुओं के अनुयायी हो गये। जिन व्यक्तियों ने कबीर, दादू व नानक के धार्मिक सिद्धान्तों का अनुसरण किया उन लोगों ने पृथक-पृथक धार्मिक सम्प्रदाय को जन्म दिया और क्रमशः कबीर पंथी, दादू पंथी तथा नानक पंथी कहलाए। हिन्दुओं की जाति व्यवस्था व धर्म इसे नहीं कर सका और ऐसे व्यक्तियों को अपने से पृथक माना। हिन्दुओं का इस प्रकार अलग अलग समूहों में बंट जाना भक्ति आन्दोलन का एक अन्य महत्वपूर्ण प्रभाव कह जा सकता है।

भक्ति आन्दोलन का एक और प्रभाव यह था कि इस आन्दोलन ने निम्न जातियों को, विशेषकर अछूतों को बहुत प्रोत्साहित किया। कुछ विद्वानों का कथन है कि हरिजन सुधार आन्दोलन का जो रूप बाद में हमें देखने को मिलता है उस आन्दोलन की ही नींव है।

भक्ति आन्दोलन के फलस्वरूप ब्राह्मणों की परम्परागत सत्ता, जाति-प्रथा धर्म को जो ठेस पहुँची उसके फलस्वरूप ब्राह्मणों ने कुछ रक्षात्मक कदम उठाए। इसका नतीजा यह हुआ कि जातिय तथा धार्मिक नियम और भी कठोर हो गए और उन्हें ही कठोरतापूर्वक लागू किया गया।²

4.1.2: ईसाई धर्म का प्रचार :—

भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के पश्चात् ईसाई पादरियों ने जोर-शोर से ईसाई धर्म का प्रचार किया। अंग्रेज सरकार ने भी नौकरियों में आरक्षण तथा अन्य प्रलोभन देकर भारतीयों को ईसाई बनाना प्रारम्भ कर दिया तथा पादरियों को ईसाई धर्म

के प्रचार के लिए प्रोत्साहित किया। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अंग्रेज सरकार ने ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए पैसा पानी की तरह बहाया। इसका परिणाम यह हुआ कि पादरी वर्ग ने भारतीय धर्मों (हिन्दू एवं इस्लाम) का मजाक उड़ाया और भारत में ईसाई धर्म की प्रशंसा कर जोर-शोर के साथ उसका प्रचार किया। आर्य समाज की स्थापना इसी का परिणाम है। इसके संस्थापक दयानन्द सरस्वती ने ईसाई धर्म के दोषों पर प्रकाश डाला तथा हिन्दू धर्म की उसके साथ तुलना करके उसे श्रेष्ठ धर्म साबित किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय जनता का ध्यान अपनी संस्कृति एवं सभ्यता की ओर आकर्षित किया।³

4.1.3: पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव :-

अंग्रेजों के शासन में यातायात के साधनों का विकास हुआ। इसलिए अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त भारतीय लोग चीन, जापान, फ्रांस तथा अमेरिका आदि देशों में भ्रमण हेतु गये। उन्होंने अपने विचारों का जनसाधारण में प्रचार किया। इस प्रकार पुनर्जागरण के लिए वातावरण तैयार हुआ।

4.1.4: भारतीय समाचार-पत्र एवं साहित्य :-

भारतीय समाचार-पत्रों एवं साहित्य ने भी पुनर्जागरण में बड़ा योगदान दिया। मुद्रणालय का अविष्कार हो जाने से ऐसे समाचार-पत्र, पत्रिकाएं, पुस्तकें आदि छपने लगीं, जिनमें न केवल ब्रिटिश सरकार के दमनपूर्ण कार्यों का उल्लेख होता था, अपितु भारतीय राष्ट्रवादियों के विचार भी छपते थे।

4.1.5: प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का ज्ञान :-

विदेशी साहित्य ने भारतीयों को उनकी गौरवपूर्ण ऐतिहासिक विरासत से परिचित करवाया। 18वीं सदी में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की गयी तथा इसके तत्वाधान में भारतीय ग्रन्थों का अंग्रेजी में तथा यूरोपियन साहित्य का भारतीय भाषाओं में अनुवाद का कार्य प्रारम्भ हुआ। जैसे कि विल्किन्स ने 1785 में 'गीता' का तथा जोन्स ने 1790 में 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अंग्रेजी में अनुवाद कर विश्व के

समक्ष भारत के प्राचीन गौरव को उपस्थित किया। अंग्रेज सरकार ने संस्कृत भाषा को प्रोत्साहन देते हुए 1792 ई. में बनारस में तथा 1821 ई. में कलकत्ता में एक संस्कृत कॉलेज की स्थापना की। इससे संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार हुआ। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद करने के पश्चात् यह बताया कि ये ग्रन्थ संसार की सभ्यता की अमूल्य निधियां हैं। पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय कलाकृतियों की खोज करने के पश्चात् यह मत व्यक्त किया कि भारत की सभ्यता और संस्कृति विश्व की प्राचीन और श्रेष्ठ सभ्यताएं, संस्कृति हैं, इससे विश्व के समक्ष प्राचीन भारतीय गौरव उपस्थित हुआ। जब भारतीयों को यह पता लगा कि पश्चिम के विद्वान भारतीय संस्कृति को इतना श्रेष्ठ बताते हैं तो उनके मन में आत्महीनता के स्थान पर आत्म-विश्वास की भावनाएं जागृत हुईं तथा उन्होंने उसकी श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयत्न किया। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा स्वामी विवेकानन्द ने भी भारतीयों को उनकी संस्कृति की महानता के ज्ञान से अवगत कराया।⁴

4.1.6: पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव :—

भारत में पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार ने भी भारतीय पुनर्जागरण में बहुत बड़ा योगदान दिया। जब भारतीय संस्कृति पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आयी तो उनकी बुद्धिवादी विचारधारा और प्रणाली से बहुत प्रभावित हुई। भारतीयों ने परम्पराओं और अन्ध-विश्वासों के आधार पर सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक प्रथाओं को मानने से इन्कार कर दिया तथा उन सभी को तर्क तथा बुद्धि के आधार पर जांचना शुरू कर दिया। अब वे तर्क के आधार पर ही किसी बात को स्वीकार करते थे। जिससे भारतीयों में जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन करने की भावना जागृत हुई। परिणामस्वरूप उन्होंने अपने समाज तथा धर्म में व्याप्त दोषों को दूर करने का प्रयास किया।⁵

4.1.7: भारतीय समाज एवं पुनर्जागरण काल :—

उपर्युक्त कारणों से भारतीयों में सामाजिक और धार्मिक नवचेतना का संचार हुआ जिसके फलस्वरूप ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसायटी आदि की स्थापना हुई।

- **ब्रह्म समाज :-**

19वीं शताब्दी में प्रथम सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलन राजा राममोहन राय के नेतृत्व में आरम्भ हुआ। उन्होंने 20 अगस्त 1828 ई. को कलकत्ता में ब्रह्म समाज की स्थापना की थी। यह यूरोप की संस्कृति तथा धर्म से प्रभावित हिन्दू धर्म का नया रूप था। इस आन्दोलन के जो प्रमुख सुधार थे वे इस प्रकार हैं—

1. धार्मिक सुधार :-

राजा राममोहन राय ने हिन्दू, ईसाई, इस्लाम और बौद्ध आदि सभी धर्मों का अध्ययन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सभी धर्मों में सत्य है तथा ईश्वर केवल एक ही है परन्तु सभी धर्मों में कर्मकाण्ड हैं। उन्होंने हिन्दू धर्म में व्याप्त बहुदेववाद, मूर्ति-पूजा एवं यज्ञों में प्रवेश कर गये कर्मकाण्डों आदि बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया। उन्होंने लोगों का ध्यान निराकार, निर्विकार एक ब्रह्म की ओर आकर्षित किया जिसका निरूपण वेदान्त में हुआ है। राजा राममोहन राय का यह मानना था कि वेदान्त दर्शन में ही हिन्दुत्व का आधार है।

2. सामाजिक क्षेत्र में सुधार :-

राममोहन राय ने 'शास्त्रार्थ' नामक पुस्तक में कई निबन्ध लिखे जिनमें सती प्रथा की कटु आलोचना कर इसके विरुद्ध जनमत को जागृत करने का प्रयास किया। परिणामस्वरूप उनके प्रयत्नों से 1829 ई. में गवर्नर जनरल विलियम लार्ड बेंटिक ने एक कानून बनाकर सती प्रथा को प्रतिबंध लगा दिया।

3. राष्ट्रीय सुधार :-

राजा राममोहन राय ने लोगों में राष्ट्रीय भावना जाग्रत की। उन्होंने हिन्दू कानून में सुधारों के लिए मांग की। स्त्रियों के सम्पत्ति के अधिकार का समर्थन किया। प्रेस पर लगे हुए प्रतिबंध के विरुद्ध आवाज उठाई। भूमि कर में कमी करने की मांग की और

दमनकारी कृषि कानूनों के विरुद्ध एक प्रार्थना पत्र इंग्लैण्ड भेजा। राजा राममोहन राय ने सर्वप्रथम विचार स्वतंत्रता का नारा बुलंद किया।

4. शिक्षा के क्षेत्र में सुधार :-

राजा राममोहन राय ने कलकत्ता में 'वेदान्त कॉलेज', 'इंग्लिश स्कूल' और हिन्दू कॉलेज की स्थापना की। समाज सुधार एवं भारत के आधुनिकीकरण में इन शिक्षण संस्थानों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। राजा राममोहन राय ने जनता के इस भ्रम को दूर करने का प्रयास किया कि अंग्रेजी पढ़कर लोग नास्तिक बन जाते हैं। उनके प्रयासों से भारत में शिक्षा की उन्नति का मार्ग प्रशस्त हुआ।

5. साहित्य सुधार :-

राजा राममोहन राय बहुत बड़े विद्वान भी थे। उन्होंने बंगला, फारसी, और अंग्रेजी भाषा में कई पुस्तक लिखीं। 1815 ई. में उन्होंने 'ब्रह्म सूत्र' का बंगला भाषा में अनुवाद किया। उन्होंने वेदांत दर्शन पर 'संक्षिप्त वेदान्त' नामक पुस्तक लिखी जिनमें वेदांत पर टिका लिखी गई थी। उन्होंने फारसी भाषा में 'तहफतुल मुवाहिदिन' नामक पुस्तक लिखी तथा ईश, केन, कठ और मुण्डक आदि उपनिषदों का भी अनुवाद किया।⁶

1819 ई. में राजा राममोहन राय ने 'संवाद कौमुदी' के नाम से सर्वप्रथम एक साप्ताहिक समाचार-पत्र प्रकाशित किया। यह बंगला भाषा में प्रकाशित होता था। इसके अतिरिक्त फारसी भाषा में उन्होंने 'मिरात-उ-अखबार' नामक समाचार-पत्र प्रकाशित किया था। अपने समाचार-पत्रों में वे सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक आदि राष्ट्रीय समस्याओं से संबंधित लेख प्रकाशित करते थे जिससे जनता का ध्यान इन समस्याओं की ओर आकर्षित किया जा सके।

वस्तुतः राजा राममोहन राय भारतीय राष्ट्रीयता के मसीहा, महान् समाज सुधारक, महान् धर्म प्रवर्तक, शिक्षा शास्त्री, पत्रकार एवं आधुनिक भारत के निर्माता थे। वे एक ऐसे महापुरुष थे, जिनका कार्य क्षेत्र सम्पूर्ण मानव-जाति का था। एक तरफ उन्होंने धर्म एवं समाज में व्याप्त

बुराइयों का दूर करने का प्रयास किया, वहीं दूसरी ओर अनेक रचनात्मक कार्य किये। राजा राममोहन राय भारत में सांस्कृतिक जागरण के अग्रदूत थे।

- **देवेन्द्रनाथ टैगोर का आदि ब्रह्म समाज :—**

आदि ब्रह्म समाज की स्थापना श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर ने की थी। वे 1824 ई. में ब्रह्म समाज के सदस्य बने थे। आरम्भ में ब्रह्म समाज वेदों तथा उपनिषदों पर आधारित था, किन्तु कालान्तर में इसके सदस्यों में इस बात पर मतभेद उत्पन्न हो गया कि वेद प्रमाणिक है अथवा नहीं। केशव चन्द्र सेन के नेतृत्व में कुछ सदस्यों पर पाश्चात्य सभ्यता तथा ईसाई धर्म का बहुत प्रभाव था एवं वे वेदों के स्थान पर बुद्धि तथा तर्क को अधिक महत्व देते थे। दूसरी ओर देवेन्द्रनाथ ठाकुर हिन्दू धर्म तथा हिन्दू वर्ण व्यवस्था के समर्थक थे। उनका केशव चन्द्र सेन से गहरा मतभेद हो गया एवं कालान्तर में ब्रह्म समाज दो भागों में बंट गया। अतः सेन भारतीय ब्रह्म समाज की स्थापना की, जबकि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने आदि ब्रह्म समाज की नींव रखी।⁷

- **केशव चन्द्र सेन का भारतीय ब्रह्म समाज :—**

केशव चन्द्र सेन ने 1866 ई. में भारतीय ब्रह्म समाज की स्थापना की। उन पर पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का बहुत प्रभाव था, जबकि देवेन्द्रनाथ टैगोर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से प्रभावित थे। अतः इससे उनका देवेन्द्रनाथ ठाकुर से मतभेद होने पर उन्होंने इस नये समाज की स्थापना की।

- **सेन के धार्मिक विचार :—**

केशव चन्द्र सेन पर पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति तथा ईसाई धर्म का बहुत प्रभाव था। इसलिए इनके नेतृत्व में ब्रह्म समाज ईसाई धर्म की तरफ झुकने लगा। इसके सदस्य ईसा मसीह को अपना पथ प्रदर्शक मानकर उनकी पूजा करने लगे। बाइबिल एवं ईसाई पुराणों का अध्ययन उत्साह से होने लगा। सेन विश्व धर्म की स्थापना करना चाहते थे इसलिए उन्होंने सभी धर्मों की उपासना प्रारम्भ की। इस समाज की प्रार्थनाओं में हिन्दू

इस्लाम, यहूदी, ईसाई, बौद्ध, चीनी आदि सभी धर्मों की प्रार्थनाएँ सम्मिलित थी। इसके सदस्य सड़कों पर सामूहिक कीर्तन करते हुए चलते थे।

● सामाजिक सुधार :-

केशव चन्द्र सेन के नेतृत्व में भारतीय ब्रह्म समाज का तीव्रगति से उत्कर्ष हुआ। इसके सदस्यों ने न केवल बंगाल में अपितु बंगाल से बाहर भी इसकी शाखाएं स्थापित की। 1866 के लेख से पता चलता है कि इसकी बंगाल में 50, उत्तर प्रदेश में 2 एवं पंजाब तथा मद्रास में एक-एक शाखाएं स्थापित हो चुकी थी। इस समाज के सिद्धान्तों के प्रसार हेतु विभिन्न भाषाओं में 37 पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती थी। 1878 ई. में उन्होंने अपनी पुत्री का विवाह बिहार के राजकुमार से किया। उस समय वर-वधु दोनों नाबालिग थे। इस विवाह के कारण सेन की काफी आलोचना की गई क्योंकि ब्रह्म समाज एक्ट उन्होंने ही पास करवाया था और अब उन्होंने स्वयं इस कानून का उल्लंघन कर दिया। इससे सेन की प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुँचा और कुड सदस्य उनके विरोधी बन गये। फलतः ब्रह्म समाज एक बार फिर विभाजित हो गया। सेन के विरोधियों ने एक अलग समाज का गठन कर लिया जो 'साधारण ब्रह्म समाज' कहलाया। इस पर सेन ने भी एक नये समाज का गठन किया, जो 'नवविधान समाज' कहलाया। यह समाज ईसाई धर्म के अधिक नजदीक था।

● साधारण ब्रह्म समाज :-

इसने कलकत्ता में एक स्कूल स्थापित किया जो बाद में 'सिटी कॉलेज ऑफ कलकत्ता' बना। अपने विचारों का प्रसार करने के लिए इन सदस्यों ने बंगला भाषा में 'तत्त्वकौमुदी' और अंग्रेजी में 'ब्रह्म पब्लिक ओपिनियन' नामक दो पत्र प्रकाशित किये। 1884 ई. में साप्ताहिक पत्रिका 'संजीवनी' आरम्भ की गई और 1888 में 'ब्रह्म बालिका स्कूल' खोला गया। बाद में समाज में ब्रह्म समाज की सबसे अधिक लोकप्रिय शाखा यही रही थी।

आज ब्रह्म समाज प्रायः लुप्त हो चुका है, परन्तु इसके द्वारा सामाजिक एवं धार्मिक बुराइयों को दूर करने के लिए किये गए प्रयासों तथा राष्ट्रिय चेतना को जाग्रत करने के कार्य

को भुलाया नहीं जा सकता। वस्तुतः यह आधुनिक भारत का प्रथम धर्म व समाज सुधार आन्दोलन था।⁸

- **प्रार्थना समाज :-**

इसकी स्थापना 1887 ई. में डॉ. आत्माराम पाण्डुरंग ने महाराष्ट्र में की थी। यह समाज एवं धर्म में व्याप्त बुराइयों को दूर करने के उद्देश्य से स्थापित किया गया था। कालान्तर में आर. जी. भण्डारकर महादेव गोविन्द रानाडे भी इस समाज से जुड़ गये।

- **आर्य समाज :-**

इसकी स्थापना 10 अप्रैल 1875 में स्वामी दयानंद सरस्वती ने की थी। स्वामी दयानंद सरस्वती ने हिन्दू धर्म में प्रचलित बुराइयों को दूर कर हिन्दूओं का ध्यान धर्म के मूल की आकर्षित किया। उन्होंने वैदिक धर्म के आधार पर बताया कि वेद ज्ञान के भण्डार हैं और हिन्दू धर्म ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

1. सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में सुधार :-

स्वामी जी ने सामाजिक समानता पर विशेष बल दिया। वे समाज में फैली हुई ऊँच-नीच एवं छुआछूत के पूर्णतः विरोधी थे। उनका मानना था कि सभी जाति के व्यक्तियों को वेद पढ़ने एवं सुनने का अधिकार है। उन्होंने समाज में अछूतों के उद्धार के लिए निरन्तर प्रयास किया। आर्य समाज ने हिन्दू धर्म में प्रचलित मूर्ति-पूजा, कर्मकाण्ड, बलि प्रथा, स्वर्ग और नरक की कल्पना, बहुदेववाद, प्रचलित मत मतान्तरों, अवतारवाद, आडम्बरों एवं अन्ध विश्वासों का प्रबल विरोध किया। इसने वेदों की श्रेष्ठता का दावा किया तथा वेदों के आधार पर ही हवन, यज्ञ, मन्त्रोच्चारण, कर्म आदि पर बल दिया। इसका मानना है कि ईश्वर एक है तथा वह निराकार है। अतः मूर्ति-पूजा निरर्थक है। स्वामी जी ने कहा कि कोई भी व्यक्ति सत्कर्म, ईश्वर की उपासना और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

2. साहित्य एवं शैक्षणिक सुधार :-

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने साहित्यिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में काफी महत्वपूर्ण कार्य किये। उन्होंने अपने ग्रन्थ हिन्द में लिखकर राष्ट्रभाषा के विकास में योगदान किया। वे नारी शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने संस्कृत भाषा के महत्व को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने प्राचीन गुरु शिक्षा प्रणाली को प्रचलित किया ताकि विद्यार्थी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ गुरु के आश्रम में विद्या अध्ययन कर सके।⁹

● थियोसोफिकल सोसायटी :-

थियोसोफिकल सोसायटी एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक आन्दोलन था, जिसने धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण सुधार किये। इस संस्था की स्थापना रूसी महिला ब्लेवटास्की तथा अमेरिकन कर्नल एच. एच. आलकाट ने 7 सितम्बर 1875 ई. में न्यूयार्क नगर में की थी। 1879 ई. में ब्लेवटास्की तथा आलकाट भारतवर्ष में आये। उन्होंने कहा कि इस सोसायटी का मुख्य उद्देश्य भारतीयों को उनकी संस्कृति के प्राचीन गौरव और महानता के बारे में याद दिलाना है ताकि विश्व में अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा फिर से प्राप्त कर सकें। आलकाट ने हिन्दू धर्म के गुणों पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि यह धर्म विश्व का सर्वश्रेष्ठ धर्म है तथा सम्पूर्ण सत्य इसी में निहित है। उन्होंने 1886 ई. में मद्रास के समीप आडियार नामक स्थान पर थियोसोफिकल सोसायटी का केन्द्र स्थापित किया तथा इस संस्था के सदस्य भारत में अपने विचारों का प्रचार करने लगे।¹⁰

● रामकृष्ण मिशन :-

यह 19वीं सदी का अन्तिम सुधारवादी आन्दोलन था। रामकृष्ण परमहंस ने बंगाल में अपने विचारों का प्रचार किया। कालान्तर में उनके नाम पर स्वामी विवेकानन्द ने 1897 में वराहनगर में मठ की स्थापना की।

● रामकृष्ण परमहंस :-

रामकृष्ण परमहंस स्वयं “धर्म के जीते जागते स्वरूप थे”। उन्होंने निराकार तथा साकार ईश्वर दोनों की उपासना पर बल दिया। वे मूर्ति-पूजा, एकेश्वरवाद एवं बहुदेववाद में भी विश्वास करते थे। उन्होंने विश्व को आध्यात्मिक दर्शन कराया। रामकृष्ण ने सभी धर्मों में एकता स्थापित करने के लिए प्रयास किये। इसके अतिरिक्त उनका मानना था कि मनुष्य की सेवा करना ही भगवान की सेवा करना है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के हृदय में ईश्वर निवास करता है। इस प्रकार रामकृष्ण ने मानव मात्र की सेवा करने पर बल दिया।

रामकृष्ण परमहंस की देन :-

1. अध्यात्मवाद :-

रामकृष्ण की प्रथम देन अध्यात्मवाद है। वे अध्यात्मवाद के जीते जागते स्वरूप थे। उन्होंने अपने उपदेशों से वेदों और उपनिषदों के जटिल ज्ञान को सरल बना दिया एवं हिन्दुओं को उनकी संस्कृति के गौरव से परिचित करवाया। उन्होंने विश्व के सम्मुख आध्यात्मिक सत्य को रखा।

2. विविध धर्मों की एकता में विश्वास :-

रामकृष्ण का मानना था कि ईश्वर एक है तथा विविध धर्म उसकी प्राप्ति के अलग-अलग मार्ग हैं। व्यक्ति किसी भी मार्ग पर चलकर ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वे विविध धर्मों की एकता के समर्थक थे।

3. मानव मात्र की भलाई :-

रामकृष्ण मानव-मात्र की सेवा एवं भलाई के समर्थक थे। उनका मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में ईश्वर निवास करता है, अतः मानव सेवा ही ईश्वर सेवा है। इसी आधार पर उनके शिष्य विवेकानंद जी ने आजीवन “दरिद्र नारायण” की सेवा की।¹¹

● स्वामी विवेकानंद :-

स्वामी विवेकानंद रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे, जिन्होंने सम्पूर्ण विश्व में अपने गुरु के विचारों का प्रसार कर दिया एवं उनकी स्मृति में काशीपुर के निकट वराहनगर में 1887 ई. में 'रामकृष्ण मठ' की स्थापना की। उन्होंने सम्पूर्ण भारत भ्रमण करने के पश्चात् अमेरिका के शिकागो नामक नगर के सर्वधर्म सम्मेलन में 1893 ई. में भाग लिया जहाँ उन्होंने हिन्दुत्व का प्रचार किया। उन्होंने अपने भाषण का भाइयों और बहनों के सम्बोधन से किया तो, वहाँ उपस्थित अमेरिकनों ने तालियों की भारी गड़गड़ाहट के साथ इनका स्वागत किया। इसके बाद अपने 10-12 भाषणों द्वारा अमेरिका में हिन्दू धर्म तथा भारतीय संस्कृति की धाक जमा दी। शिकागो सर्वधर्म सम्मेलन की विज्ञान शाखा के अध्यक्ष श्री मार्वेनमेरी स्नैल ने कहा था, "इस सर्वधर्म सम्मेलन का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि उसने ईसाई जगत् को विशेषतः अमेरिका के लोगों को यह पाठ सिखाया कि विश्व में दूसरे धर्म भी हैं, जो ईसाई धर्म की अपेक्षा कहीं अधिक ठोस, स्वतंत्र विचार की दृष्टि से कहीं अधिक शक्तिशाली एवं मानवीय सौहार्द की दृष्टि से कहीं अधिक उदार तथा व्यापक हैं। वे पूर्ण कला और सौन्दर्य की दृष्टि से उससे यत्किंचित भी कम नहीं हैं"। निवेदिता ने लिखा है, "स्वामी विवेकानंद भारत का नाम लेकर जीते थे। वे मातृभूमि के अनन्य भक्त थे और उन्होंने भारतीय युवकों को उसकी पूजा करना सिखाया"।¹²

● विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार :-

शिकागो सर्वधर्म सम्मेलन के बाद स्वामीजी ने तीन वर्ष इंग्लैण्ड तथा अमेरिका में रहकर अपने भाषणों, लेखों, वक्तव्यों एवं कविताओं द्वारा सम्पूर्ण यूरोप में भारतीय संस्कृति का बहुत प्रचार किया। उन्होंने अमेरिका में वेदान्त समाज की भी स्थापना की। जनवरी 1897 ई. में वे भारत पुनः वापस लौट गये। 1899 ई. में उन्होंने अपना प्राचीन मठ वेलूर में स्थापित किया। रामकृष्ण मिशन के सदस्य शिक्षित होते थे एवं अकाल, महामारी व बाढ़ के समय जनता की सेवा करते थे।

स्वामी विवेकानंद के आदर्श :-

स्वामी विवेकानंद के जीवन का मुख्य उद्देश्य एवं उनका आदर्श मानव की सेवा करना था। उनके जीवन के मुख्य आदर्श इस प्रकार हैं—

1. मानव सेवा संबंधी विचार :-

विवेकानंद का प्रथम आदर्श मानव सेवा था। उन्होंने भारतीयों को मानव सेवा की प्रेरणा दी तथा उसे ही ईश्वर की सच्ची उपासना बताया। उन्होंने गरीबों तथा दुःखियों के लिये दरिद्रनारायण शब्द का प्रयोग करते हुए कहा कि ईश्वर सभी मनुष्यों में निवास करता है। समाज में व्याप्त बुराइयों के संबंध में उन्होंने अपने एक साथी को लिखा था, “निर्धन, नासमझ, अशिक्षित और असहाय को अपना ईश्वर बनाओ। उनकी सेवा करना ही महानतम धर्म है”।

2. धार्मिक विचार :-

विवेकानंद का सभी धर्मों की एकता में विश्वास था। उनका मानना था कि सभी धर्मों का मूल एक जैसा है, केवल बाहरी साधनों में कुछ अन्तर है। धर्म की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा था, “धर्म मनुष्य के भीतर निहित देव तत्व का विकास है। धर्म न तो पुस्तकों में है, न धार्मिक सिद्धान्तों में। यह केवल अनुभूति में निवास करता है”। विवेकानंद की मान्यता थी कि भारत की आध्यात्मिक विचारधारा तथा पश्चिमी देशों की भौतिकवादी विचारधारा में समन्वय करने से ही भारतीयों को वास्तविक सुख प्राप्त हो सकता है एवं उसकी उन्नति हो सकती है।

3. राष्ट्रीयता का प्रसार :-

विवेकानंद ने राष्ट्रीयता का भी प्रसार किया। उन्होंने यूरोप तथा अमेरिका में भारतीय संस्कृति एवं हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित कर दी एवं भारतीयों में उनके धर्म एवं संस्कृति के प्रति गौरव की भावना उत्पन्न कर दी। उन्होंने भारत में राष्ट्रीय चेतना जागृत की। विदेशों में भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता सिद्ध करके उन्होंने यह बता दिया कि

पाश्चात्य संस्कृति के लोग चाहें तो भारतीय संस्कृति से बहुत कुछ सीख सकते हैं। इससे भारतीयों में आत्मसम्मान की भावना जागृत हुई और वे अपनी संस्कृति पर गर्व करने लगे। सुभाषचन्द्र बोस ने उनके बारे में लिखा है कि, “स्वामी विवेकानंद का धर्म राष्ट्रीयता को उत्तेजना देने वाला धर्म था”।¹³

उपर्युक्त सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलन के मुख्य कारणों से समाज पर इसका क्या प्रभाव पड़ा उसे निम्नलिखित रूप से देखा जा सकता है।

● आन्दोलन का प्रभाव :—

पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति को रोकने के लिए भारत में पुनर्जागरण की भावना उत्पन्न हुई फलतः धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन हुए। उन्होंने यहाँ के साहित्य, धर्म, समाज एवं राजनीति आदि क्षेत्रों को प्रभावित किया और जीवन के सभी अंगों में एक नवीन चेतना का संचार किया। इन आन्दोलनों ने भारत के आधुनिकीकरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इनके प्रमुख प्रभाव निम्नलिखित हुए—

1. सामाजिक क्षेत्र में प्रभाव :—

इन सुधार आन्दोलनों के कारण ब्रिटिश सरकार ने कानून बनाकर सती प्रथा को गैर कानूनी घोषित कर दिया। धीरे-धीरे यह प्रथा भारत से समाप्त होने लगी। केशवचन्द्र सेन के प्रयासों से ‘नेटिव मैरिज एक्ट’ पास बाल विवाह पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया तथा विधवा विवाह एवं अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन दिया गया। समाज में प्रचलित छुआछूत, पर्दा प्रथा और सती प्रथा आदि बुराइयों पर कठोर आघात हुआ, गरीबों की सहायता एवं सेवा के लिए चिकित्सालयों, अनाथालयों और आश्रमों आदि अनेक प्रकार के संस्थाओं की स्थापना की गई और स्वयं सेवक दलों का गठन भी किया गया।

2. धार्मिक क्षेत्र में प्रभाव :—

धार्मिक क्षेत्र में भी इन आन्दोलनों फलस्वरूप एक नवीन चेतना उत्पन्न हुई। स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानंद तथा श्रीमती एनी बेसेन्ट आदि ने

बताया कि भारतीय संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति से महान् है। इससे हिन्दुओं का अपने धर्म तथा संस्कृति में फिर से विश्वास जागृत हुआ और वे उस पर गौरव करने लगे। परिणामस्वरूप ईसाई धर्म के प्रति उनका आकर्षण कम हो गया। इन आन्दोलनों ने हिन्दू धर्म में प्रचलित बहुदेववाद मूर्ति-पूजा, कर्मकाण्डों, आडम्बरों एवं अंधविश्वासों आदि का खण्डन किया और उनको दूर करने का प्रयास किया तथा हिन्दू धर्म का आदर्श जनता के सामने रखा। स्वामी विवेकानन्द ने तो हिन्दुत्व के सन्देश को अमेरिका और यूरोप तक पहुँचा दिया, जिससे न केवल भारतीयों को अपितु यूरोपवासियों को भी हिन्दू धर्म की महानता का ज्ञान हुआ।

3. शैक्षणिक एवं साहित्यिक क्षेत्र में प्रभाव :-

धर्म सुधारकों के प्रयासों से डी.ए.वी., मुस्लिम कॉलेज, हिन्दू कॉलेज तथा सनातन धर्म कॉलेज आदि शिक्षण संस्थाएं स्थापित हुईं। इन आन्दोलनों के कारण पश्चिमी देश के विद्वान बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने संस्कृत की अनेक पुस्तकों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया और भारतीय संस्कृति की महानता और गौरव को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। इस समय के साहित्य ने जनता में राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

4. राजनीतिक क्षेत्र में प्रभाव :-

इन आन्दोलनों ने जनसाधारण में राष्ट्रीय चेतना जागृत की। इसलिए वेल्लेन्टाइन शिरोल ने भारत में सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलन में राष्ट्रीयता की उत्पत्ति को देखा। इससे भारतीयों में उग्रराष्ट्रवाद का विकास हुआ। श्रीमती एनीबेसेन्ट ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया तथा उन्होंने तिलक के साथ मिलकर 'होमरूल आन्दोलन' चलाया। इस प्रकार उसने भारतीयों की राष्ट्रीय चेतना को एक नवीन गति प्रदान की। स्वामी विवेकानन्द ने भारत के राष्ट्रीय गौरव को फिर से स्थापित किया तथा भारतीयों को विरुद्ध पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी। परन्तु इसके लिए उन्होंने जनता को दासता से स्वतंत्र होने का संदेश दिया।¹⁴

सार है कि धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलनों के महापुरुषों के बताये हुए मार्ग पर चलकर भारतवर्ष निरन्तर प्रगति करता रहा और अन्त में राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में सफल हुआ। इस प्रकार इन सुधारवादी आन्दोलनों के कारण आधुनिक भारत का निर्माण संभव हो सका।

19वीं शताब्दी के आरम्भ में भारत के उद्योग धन्धे एवं व्यापार उन्नत अवस्था में थे। देश के जुलाहे अत्यन्त दक्ष थे। ढाका की मलमल न केवल भारत में, अपितु विश्व में प्रसिद्ध थी। पंजाब एवं कश्मीर में ऊनी वस्त्र का उद्योग अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। लखनऊ, नागपुर एवं अहमदाबाद सूती कपड़े के प्रसिद्ध केन्द्र थे। पीतल, ताम्बा और सोना जैसी वस्तुओं के समान भी भारत में खूब बनते थे। भारतीय कारीगर हाथी दांत और चन्दन जैसी लकड़ीयों की सुन्दर वस्तुएँ बनाने में दक्ष थे। दक्षिण भारत के समुद्री तट पर जहाज बनाने का उद्योग उन्नत अवस्था में था। भारत रेशमी कपड़ा, मलमल, गर्म मसाले, हीरे जवाहरात, हाथी दांत की बनी हुई कलात्मक वस्तुएँ, इत्र एवं सुगन्धित तैल आदि विदेशों को निर्यात करता था और इनके बदले में विदेशों से सोना और चांदी का आयात करता था।

प्लासी के युद्ध बाद अंग्रेजों ने भारत को लूटना आरम्भ कर दिया था। मीर जाफर ने 1757 से 1760 ई. के बीच अंग्रेजों की कम्पनी व अंग्रेज अधिकारियों को 3 करोड़ रिश्वत रूप में दिया तथा 8 वर्षों में अंग्रेजों ने 15 करोड़ रुपये व्यापारिक लाभ में कमाया। प्लासी के युद्ध से पूर्व अंग्रेज भारतीय वस्तुओं को खरीदने के लिए इंग्लैण्ड से सोना और चाँदी मंगवाते थे, परन्तु युद्ध के बाद यह सब बन्द हो गया क्योंकि उन्होंने बंगाल के नवाबों से भेंट स्वरूप धन प्राप्त करना आरम्भ कर दिया, जिसके कारण इंग्लैण्ड से धन मँगवाने की आवश्यकता नहीं रही। बंगाल से प्राप्त हुए धन को उन्होंने चीन के व्यापार में लगा दिया।¹⁵

18वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के आद्यौगिक हितों को सुरक्षित रखने के लिए भारत की निर्मित वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध था। 19वीं शताब्दी में कम्पनी के व्यापार के स्वरूप में परिवर्तन हुआ। 1813 ई. में एक चार्टर एक्ट पारित किया गया। इस एक्ट द्वारा इंग्लैण्ड के निजी व्यापारियों को भारत में व्यापार करने की स्वतन्त्रता दे दी गई। इसके कारण भारत में

इंग्लैण्ड में निर्मित माल का पहले की अपेक्षा अधिक आयात किया जाने लगा तथा भारत निर्मित वस्त्रों एवं कुटिर उद्योगों की वस्तुओं के निर्यात को कम कर दिया गया। अब इसके स्थान पर भारत से कच्चे माल का निर्यात बढ़ने लगा। इससे भारत औद्योगिक विकास के क्षेत्र में पिछड़ता चला गया।

भारत की बढ़ती हुई निर्धनता का प्रमुख कारण भारत से धन का निष्कासन था। भारत का धन बड़ी मात्रा में ब्रिटेन जाता था और उसके बदले भारत को कुछ भी प्राप्त नहीं होता था। इस धन निष्कासन के कारण भारत एक साधनहीन राष्ट्र बनता जा रहा था। इसके अतिरिक्त नागरिकों को भारत की कृषि उद्योग, यातायात आदि में निर्गत पूँजी से प्राप्त होने वाला लाभ भी ब्रिटेन को जाता था। कम्पनी भारत से जितना राजस्व प्राप्त करती थी, उस धन से वस्तुएँ खरीदकर बाहर भेज देती थी। इससे कम्पनी को व्यापारिक लाभ होता था। इस प्रकार ने भारत में लगान से प्राप्त धनराशि को ही कम्पनी के व्यापार में लगाया और उससे व्यापारिक लाभ प्राप्त किया।¹⁶

इस प्रकार भारत का धन प्रचुर मात्रा में ब्रिटेन में जाता रहा, जिसके कारण भारत एक निर्धन देश बन गया।

अंग्रेजों का प्रमुख लक्ष्य भारत का आर्थिक शोषण करना था। ब्रिटेन की सरकार ने अपने उद्योगों के विकास के लिए भारत से आयात होने वाले माल पर अत्यधिक कर लगाए, जबकि भारत सरकार ने ब्रिटेन से भारत में आयात होने वाले माल पर कम से कम कर लगाया। ताकि ब्रिटिश निर्मित माल भारत में अधिक से अधिक बिक सके। इस प्रकार दोनों ही तरफ से भारतीय व्यापार नष्ट हुआ, जिसके कारण भारतीय उद्योग धन्धे नष्ट हुए। इंग्लैण्ड में हुई औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप वहाँ बड़ी मिले खुल चुकी थीं। इन मिलों पर कम कीमत पर अधि कपड़ा उत्पादित होने लगा था। मशीनों द्वारा निर्मित कपड़ा बहुत बहुत सस्ता होता था, जबकि गृह उद्योग धन्धों द्वारा निर्मित वस्त्र बहुत महंगा होता था। फलतः मशीनों द्वारा निर्मित कपड़ों के मुकाबले में भारतीय कपड़े नहीं टिक सके, जिससे भारतीय वस्त्र उद्योग पूर्णतया नष्ट हो गया। अंग्रेजों ने भारत के औद्योगिक विकास में इसलिए रुचि नहीं ली,

क्योंकि वे इंग्लैण्ड में निर्मित वस्तुओं को भारतीय बाजारों में बेचना चाहते थे। ज्यों ज्यों भारत के औद्योगिक धन्धे नष्ट होते गये, त्यों त्यों इंग्लैण्ड का औद्योगिक विकास होता गया।¹⁷

रेलों के विस्तार के पूर्व नदियां यातायात का साधन थीं। सिन्धु, चिनाव, सतलज एवं गंगा आदि नदियों में नावें चलती थीं, किन्तु आगे चलकर अंग्रेजों ने भारतीय जल यातायात के विकास में कोई रुचि नहीं ली। परिणामस्वरूप ये नदियां नौ-परिवहन के योग्य नहीं रही। रेलों के विस्तार से भी जल यातायात को क्षति पहुँची। कलकत्ता और इलाहाबाद के बीच स्टीमर चलते थे, जो यात्री और माल ढोने का काम करते थे। द्वितीय महायुद्ध के बाद सामुद्रिक यातायात का तीव्र गति से विकास हुआ। भारत सरकार ने श्री सी.बी. रामास्वामी अय्यर की अध्यक्षता में एक जल यातायात नीति समिति गठित की। इस समिति ने 1947 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। ब्रिटिश सरकार ने केवल उन्हीं जल मार्गों का विकास किया, जिनसे ब्रिटिश व्यापार को लाभ होता था।¹⁸

पाश्चात्य सम्पर्क के फलस्वरूप सन्देश के साधनों का विकास हुआ। 20वीं शताब्दी के आरम्भ में देश के कोने कोने में डाकघरों की स्थापना हुई और तार लाइनों में भी बहुत वृद्धि हुई। 1912 तक तार विभाग एक अलग विभाग था। किन्तु 1914 में डाक व तार विभाग सम्मिलित कर दिये गये।

ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत में विनिमय प्रायः वस्तुओं के आदान प्रदान से होता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भी कुछ समय तक भूमि का लगान प्रायः अनाज के माध्यम से चुकाया जाता था। किन्तु ब्रिटिश शासन ने शीघ्र ही मुद्रा के माध्यम से भुगतान की प्रथा प्रारम्भ कर दी। किसान कर चुकाने के लिए अपनी उपज को सस्ते भाव से बेच देते थे। इस प्रकार मुद्रा व्यवस्था से भुगतान की प्रथा प्रारम्भ में किसानों के लिए हानिकारक सिद्ध हुई, किन्तु इस मुद्रा व्यवस्था के कारण देश में लेन देन बड़ी आसानी से होने लगा।

देश के आर्थिक जीवन में बैंकों का सदैव महत्व रहा है। भारत में अंग्रेजों के आगमन से पूर्व बैंकों का कार्य महाजन तथा साहूकारों के द्वारा किया जाता था। वे साहूकार जनता को ऋण देने का कार्य करते थे। 18वीं शताब्दी में अंग्रेजों ने कलकत्ता और बम्बई में एजेन्सियों

की स्थापना की, जिससे आगे चलकर भारत में आधुनिक बैंक व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ। ये बैंक नोट प्रचलित करते थे और कम्पनी के व्यापार में सहायता करते थे।¹⁹

इस प्रकार अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य भारत का शोषण करना था। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने भारत के आर्थिक ढाँचे में युगान्तकारी परिवर्तन किए, ताकि इंग्लैण्ड के आर्थिक हितों की रक्षा होती रहे। किन्तु अंग्रेजों के इस प्रयत्नों से अप्रत्यक्ष रूप से भारत के आधुनिकीकरण का आरम्भ हुआ। यद्यपि अंग्रेजों ने इस लक्ष्य से उपरोक्त कार्य नहीं किए थे।

4.3: विवेकानंद के समाज-दर्शन का स्रोत :-

स्वामी विवेकानंद के समाज दर्शन के स्रोत मुख्यतः वेद, उपनिषद्, महाभारत, स्मृति एवं सूत्र-साहित्य आदि हैं। ब्रिटिश शासनकाल के समय इतिहास, पुरातत्व एवं समाज दर्शन के क्षेत्र में पाश्चात्य शोध-प्रविधियों का प्रयोग करके जो शोधें हो रही थीं, विवेकानंद उन सभी से भी परिचित थे। इसके अतिरिक्त परिव्राजक के रूप में अपनी भारत परिव्रजना में उन्होंने समाज की यथार्थ स्थिति का साक्षात् परिचय प्राप्त किया था। इस प्रकार उनके समाज दर्शन के स्रोत या पद्धति को भारतीय ग्रंथों पर आधारित होने से 'इंडोलॉजिकल' तथा यथार्थ निरीक्षण पर आधारित होने से 'आनुभविक' भी कहा जा सकता है।

4.4: विवेकानंद के अनुसार समाज एवं समाज-दर्शन की अवधारणा :-

विवेकानंद के अनुसार समाज एवं समाज-दर्शन की अवधारणा पर विचार करते समय कुछ अन्य विचारकों की समाज की संकल्पना पर दृष्टिपात करना अप्रासंगिक नहीं होगा। समाज व्यवहार एवं प्रणालियों, आधिकारिकता एवं परस्परकता, विभिन्न समूहों एवं भेदों का एक तंत्र है। समाज ही व्यक्तियों की गतिविधियों का सीमांकन करता है और वही व्यक्तियों को स्वतंत्रता भी देता है। समाज ही व्यक्ति के पालनार्थ मापदण्ड निर्धारित करता है। मानवीय इतिहास में भले ही समाज ने कितनी ही निरंकुशता बरती हो; यह जीवन की पूर्णता के लिए एक आवश्यक तत्व है।²⁰

मैकायवर की समाज से सम्बंधित उपर्युक्त संकल्पना के साथ स्वामी विवेकानंद की समाज की अवधारणा की तुलना की जा सकती है।

● विवेकानंद के अनुसार समाज की संकल्पना :-

विवेकानंद के अनुसार 'समाज', 'सत्' या 'ब्रह्म' का बाह्य प्रक्षेप या मूर्तीकरण है लेकिन मूर्तीकरण कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता क्योंकि समाज 'शुभ' एवं 'अशुभ' का मिश्रण है। विकास के एक चरण में यह बाह्य विकास आभ्यन्तर विकास में परिणत हो जाता है। इस चरण में मनुष्य 'ब्रह्म' की ओर अभिमुख होता है। धर्म विज्ञान में इसे 'त्याग' कहते हैं एवं समाज दर्शन में यह 'विकास' कहलाता है। जीव विज्ञानियों की भाषा में यह मनोवैज्ञानिक विकास कहलाता है। मनुष्य में यह विकास अधिकांशतः मानसिक एवं आध्यात्मिक हो जाता है। सामाजिक विधान 'त्याग' या 'विकास' के इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए मनुष्य की वासना के वशीकरण हेतु हैं।²¹

विवेकानंद के अनुसार समाज का मूल प्रयोजन एवं कार्य मनुष्य की वासना को नियंत्रित करना है। उनके अनुसार 'प्रेम' एवं 'आत्म-त्याग' निष्कामता की प्राप्ति का सबसे सरलतम उपाय है। इस सम्बंध में उनके निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य हैं—

“वही समाज सर्वश्रेष्ठ है जहाँ सर्वोच्च सत्यों को कार्य में परिणत किया जाता है यदि समाज इन सत्यों को प्रदर्शित करने में सक्षम नहीं है तो उसे जल्दी ही ऐसा करने में सक्षम होना चाहिए”।²²

विवेकानंद समाज में प्रेम के महत्व को में निरूपित करते हुए कहते हैं कि “समाज में जो कुछ भी शुभ श्रेष्ठ एवं महान् है, वह प्रेम की अभिव्यक्ति है”।²³ समाज का मूल कार्य व्यक्तियों की पाश्विक प्रवृत्तियों को संयमित करके उसे उसके उच्चतर अस्तित्व के प्रति सजग करना है। अतएव समाज में आत्म-संयम का बहुत महत्व है। स्वामी विवेकानंद के अग्रलिखित कथन द्रष्टव्य हैं— “समाज का सम्पूर्ण ताना-बाना आत्म-संयम के विचार पर आधारित है”।²⁴

विवेकानंद के समान पीटर सोरोकिन भी प्रेम को किसी भी टिकाऊ समाज के लिए आवश्यक मानते हैं। सोरोकिन के मत में परमाण्विक युद्धों एवं खूनी संघर्ष, दुःख आदि से मानवता को बचाने के लिए समाज में निःस्वार्थ प्रेम की उपस्थिति आवश्यक है।²⁵

मैकायवर एवं विवेकानंद दोनों ही यह मानते हैं कि समाज व्यक्ति को मुक्ति एवं बंधन दोनों ही प्रदान करता है। विवेकानंद इन मानवीय मूल्यों की समाज में उपयोगिता पर दृष्टिपात करते हैं। वे धर्म को समाज की संघटनात्मक शक्ति निरूपित करते हैं।²⁶

स्वामी विवेकानंद के मत में समाज तो सत्य की प्राप्ति का साधन है। यह अपने आप में साध्य नहीं है। सत्य के प्रति समाज को आदर का भाव प्रदर्शित करना है न कि सत्य को समाज के प्रति समर्पित होना है। इसका कारण यह है कि समाज सदैव परिवर्तनशील है। परिवर्तित समाज कभी भी अपने आप में साध्य नहीं हो सकता है।

- **समाज का आधार: मानव की अंतस्थ शुभता :-**

स्वामी विवेकानंद इस बात पर जोर देते हैं कि समाज का आधार मानव में विद्यमान शुभता है। वे कहते हैं – “सारे सामाजिक, राजनैतिक तंत्रों का आधार मानव की शुभता है। कोई भी राष्ट्र इसलिए महान् नहीं है कि संसद अमुक-अमुक विधेयक पारित करती है बल्कि इसलिए कि उसके व्यक्ति अच्छे एवं महान् हैं”।²⁷ यहाँ विवेकानंद मनुष्य के सामाजिक जीवन में धर्म की बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका मानते हैं क्योंकि धर्म ही मनुष्य को पशु से मानव का रूप देता है। सोरोकिन एवं टॉयनबी जैसे अन्य अनेक चिंतक भी उनके समान ही विचार प्रकट करते हैं।

- **समाज स्वतः साध्य नहीं है :-**

स्वामी विवेकानंद समाज को स्वतः साध्य नहीं मानते। यह मनुष्य की पूर्णता की प्राप्ति का साधन है। इसीलिए समाज में मनुष्य के व्यवहार का मापदंड सदैव सामाजिक विधान ही नहीं होते बल्कि प्रज्ञा होती है। यही कारण है कि सत्य के प्रति समाज को आदर का भाव प्रदर्शित करना होता है। समाज सदैव परिवर्तनशील है। परिवर्तित

समाज कभी भी अपने आप में साध्य नहीं हो सकता है। उनके इस विचार को निम्नलिखित उद्धरणों से पुष्ट है :—

1. यह तथा पूर्णता मानवता का लक्ष्य नहीं है क्योंकि समाज एवं सामाजिक संस्थाएँ कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती हैं। तथापि “ वही समाज सर्वश्रेष्ठ है जहाँ सर्वोच्च सत्य व्यवहृत होते हैं”²⁸
2. समाज में कुछ चुनिंदा व्यक्तियों का नहीं बल्कि सभी का व्यक्तियों का विकास ध्येय है।²⁹
3. अंततः विवेकानंद के अनुसार मानव के विकास में समाज केवल एक अवस्था है। विवेकानंद कहते हैं कि “समाज केवल एक अवस्था है जिससे हम गुजर रहे हैं। यदि समाज की अवस्था स्थायी होती तो यह ठीक वैसा ही है जैसे एक बच्चे का सदैव बच्चा ही बना रहना। किसी अवस्था विशेष में समाज अच्छा हो सकता है किंतु यह हमारा आदर्श नहीं है, क्योंकि यह सदैव परिवर्तनशील है”³⁰ इस प्रकार वह यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यह बिल्कुल अतार्किक होगा कि समाज को सत्य का मापदंड बनाया जाए। वे कहते हैं कि यह ठीक वैसा ही जैसे कि “किसी वैज्ञानिक खोज की सत्यता, सटीकता एवं उपयोगिता का निर्णय; बच्चों के द्वारा उसके उपयोग किये जाने से किया जाए”³¹ समाज केवल एक साधन है, साध्य नहीं है।

● समाज की संकल्पनाओं का वर्गीकरण :—

सोरोकिन ने समाज की संकल्पनाओं का चार प्रकार से वर्गीकरण किया है।³² इनका संक्षिप्त प्रारूप निम्नवत् है:—

1. **यांत्रिक संकल्पना** :— इस सिद्धांत के अनुसार समाज एक प्रकार का यांत्रिक निकाय है।
2. **आण्विक संकल्पना** :— इस सिद्धांत के अनुसार समाज व्यक्तियों का समूह है।
3. **जैविक संकल्पना** :— इस सिद्धांत के अनुसार समाज व्यक्तियों का समूह है। यह एक परावैयक्तिक तत्व है। एक जीवित पदार्थ के समान इसका भी एक प्राकृतिक उद्गम एवं गुणधर्म हैं।

4. कियात्मक संकल्पना :- इस सिद्धांत के अनुसार समाज व्यक्तियों का एक परस्पर सम्बंधात्मक समूह है।

इन चारों में से जैविक संकल्पना को बहुत विचारक स्वीकार करते हैं। इस सिद्धांत के साथ यह दुविधा है कि एक जैविक निकाय जन्म, वृद्धि एवं मृत्यु के नियम का पालन करता है। इसे प्रगति के एक काल के उपरांत ह्रास को प्राप्त होते हुए अंततः लुप्त हो जाना है। परन्तु यह प्राकृतिक प्रक्रिया सभी समाजों के लिए सत्य नहीं है। प्राचीन भारतीय समाज एवं चीनी समाज में पूरे ऐतिहासिक कालक्रम में पूर्ण विलुप्तीकरण नहीं दिखाई देता यद्यपि इनमें महान् परिवर्तन दिखाई देता है। अतएव स्वामी विवेकानंद के अनुसार मानव के विकास में समाज एक परिवर्तित चरण है क्योंकि यह सदैव परिवर्तनशील रहता है।

4.5: समाज में जाति एवं वर्ग विभाजन :-

प्रत्येक समाज की सामाजिक संरचना का गठन व्यक्ति, समूह, समुदाय, जाति, वर्ग, धर्म एवं विश्वास आदि घटकों से होता है। किसी भी विकसित समाज में श्रम का विभाजन अनिवार्य है। इसके आधार पर ही सामाजिक प्रगति की दिशा निश्चित होती है। गुण तीन हैं। सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों से ही जाति निमित्त हुई। भारत में नृवंशीय विविधता एवं इसके क्रमिक इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए स्वामी विवेकानंद कहते हैं—

“सचमुच एक विविध जातियों का अजायबघर! हाल ही में प्राप्त हुए सुमात्रा श्रृंखला के अर्द्ध—वानर का कंकाल खोजने पर यहाँ भी कहीं मिल जायगा। डोलमेनों की कमी नहीं है। पत्थर के औजार कहीं से भी खोदकर निकाले जा सकते हैं। किसी समय झीलवासी कम से कम सरितावासी लोगों की बहुतायत रही होगी। गुहावासी और पत्तियाँ पहननेवाले तो अब भी मिलते हैं। जंगलों में रहने वाले आदिम आखेटक तो देश के विभिन्न भागों में आज भी दिखायी देते हैं। फिर और अधिक ऐतिहासिक विभेद हैं : हब्शीकोलारी, द्रविड और आर्य। और समय—समय पर इनमें समा गये हैं, लगभग सभी ज्ञात और अनेक अब तक अज्ञात जातियों के घाव—विविध मंगोल वर्ग, मंगोल, तातार और भाषाविज्ञानियों के तथाकथित आर्य लोग। और

फिर यहाँ हैं – फारसी, यूनानी, यूँची, हूण, चिन, सोदियन और अन्य अनेक जो घुल-मिलकर एक हो गये— यहूदी, पारसी, अरब, मंगोल आदि से लेकर समुद्री डाकुओं और जर्मनी के जंगलों के सरदारों के वंशज तक, जो अभी तक आत्मसात नहीं किए जा सके— मानवता का महासागर, इन जातीय ऊर्मियों से निर्मित जो उद्वेलित, उत्तेजित, उबलती हुई सतत परिवर्तित रूप में संघर्षरत धरातल तक उठती, फैलती और छोटी लहरों को उदरस्थ करती हुई फिर शान्त हो जाती हैं— यह है भारत का इतिहास”!³³ विभिन्न वर्णों में सम्मिश्रण होता रहा है। इस सम्मिश्रण को विवेकानंद जाति या वर्णव्यवस्था का लचीलापन कहते हैं। इससे किसी एक वर्ण के विशेषाधिकार के दावे में बाधा आती है। वर्णव्यवस्था के इस लक्षण पर विवेकानंद ने विशेषतः दृष्टिपात किया है।

● वर्णव्यवस्था का लचीलापन :-

भिन्न लोगों एवं समूहों के मध्य प्रतिस्पर्धा की भावना के नियंत्रण हेतु इसका निर्माण हुआ। लेकिन इसमें भी एक वर्ग का प्रभुत्व हो गया। इस सम्बंध में विवेकानंद के निम्न कथन प्रासंगिक हैं –

“प्रकृति के इस पागलपन के बीच प्रतिस्पर्द्धी पक्षों में से एक ने एक व्यवस्था खोज निकाली, और अपनी उच्चतर संस्कृति के बल से, भारतीय मानव-समाज के अधिकांश को अपने प्रभुत्व में ले आने में समर्थ हुआ। इस उच्चतर जाति ने अपने को आर्य जाति कहा और उसकी व्यवस्था थी वर्णाश्रमाचार – तथाकथित जाति-व्यवस्था। निस्सन्देह आर्य जाति के लोगों ने अपने लिए, जान-बूझकर या अनजाने ही, काफी विशेषाधिकार सुरक्षित रखे; फिर भी जाति-व्यवस्था सर्वदा बड़ी लचीली रही है, कभी-कभी तो इतनी लचीली कि सांस्कृतिक दृष्टि से अति निम्न स्तरीय लोगों के स्वस्थ अभ्युदय की उसमें सम्भावना ही नहीं रही। कम से कम सैद्धान्तिक दृष्टि से जाति-व्यवस्था ने समूचे भारत को सम्पत्ति के और तलवार के प्रभुत्व में न ले जाकर बुद्धि के— आध्यात्मिकता द्वारा परिशुद्ध और नियंत्रित बुद्धि के निर्देशन में रखा। भारत की प्रमुख जाति आर्यों की सर्वोच्च जाति ‘ब्राह्मण’ है”।³⁴

सभी देशों में श्रम विभाजन के लिए जाति व्यवस्था विद्यमान रही है। तथापि दूसरे देशों की जाति व्यवस्था से भारतीय जाति व्यवस्था का भेद प्रकट करते हुए विवेकानंद कहते हैं –

“बाह्य रूप में अन्य देशों की सामाजिक व्यवस्थाओं से भिन्न होते हुए भी, आर्यों की जाति-व्यवस्था सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर दो बातों के अतिरिक्त अन्य बातों में अधिक भिन्न नहीं है : रोम के पोप अपना वंशोद्भव राइन नदी के तट पर के किसी डाकू सरदार से सिद्ध करके प्रसन्न होंगे। भारत में सर्वोच्च प्रतिष्ठा शान्ति के उपासक को – श्रमण, ब्राह्मण, भगवत्पुरुष को दी गई है। भारत का महानतम सम्राट् भी यह सिद्ध करके प्रसन्न होगा कि उसका वंशोद्भव किसी पुरातन ऋषि से हुआ था, जो वनवासी, सम्भवतः विरागी था, जिसके पास कुछ भी न था, जो अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिए ग्रामवासियों पर निर्भर रहता था और जो आजीवन इस लौकिक जीवन और मृत्यु के उपरान्त पारलौकिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करता रहा। दूसरी बात है, इकाई का भेद। अन्य प्रत्येक देश का जाति विधान एक व्यक्ति- स्त्री हो या पुरुष – पर्याप्त इकाई मानता है। सम्पत्ति, शक्ति, बुद्धि अथवा सौन्दर्य किसी भी व्यक्ति के लिए अपने जन्म का जातीय स्तर त्याग कर कहीं भी ऊपर उठ जाने के लिए साधन होते हैं”।³⁵

विवेकानंद जाति-व्यवस्था में लचीलेपन की व्याख्या करते हुए कहते हैं –

“यहाँ भारत में इकाई एक जातीय समुदाय के सभी सदस्यों को लेकर बनती है। यहाँ भी व्यक्ति को इस बात का पूरा अवसर है कि एक निम्न जाति से उठकर उच्च या उच्चतम जाति तक पहुँच जाय : केवल एक शर्त है”।³⁶

भारत में अपनी सम्पत्ति, शक्ति अथवा अन्य किसी गुण के बल पर अपने जातीय बन्धुओं को छोड़कर अपने से उच्चतर लोगों के साथ तुम भाईचारा स्थापित नहीं कर सकते; जिन्होंने तुमको गुण या विशेषता के अर्जन में सहायता दी, उन्हें उसके सुफल से वंचित करके बदले में घृणा नहीं दे सकते। भारत में यदि तुम अपने से उच्चतर जाति के स्तर पर उठना चाहते हो, तो पहले तुमको अपनी समूची जाति को उठाना होगा और तब तुम्हारी उन्नति के मार्ग में बाधा डालने वाली, तुमको पीछे रोक रखने वाली कोई बात नहीं रह जाती है। जातियों

के सम्मिलन या सम्मिश्रण की यही भारतीय पद्धति है और अनादि काल से यह चली आ रही है।

● वर्ण, जाति एवं नस्ल :—

भारतीय सम्बंध में नस्लीय भेद नहीं है। आर्य एवं द्रविड़ नस्ल जैसा भेद भाषाविदों की देन है। इस पर दृष्टिपात करते हुए विवेकानंद कहते हैं—

“आर्य भारत में, किसी भी अन्य देश की अपेक्षा ‘आर्य’ और ‘द्रविड़’ जैसे शब्दों का केवल भाषाशास्त्रीय महत्त्व ही है, और तथाकथित कृपालास्थिमूलक विभेद करने का तो कोई समुचित आधार ही नहीं मानता”।³⁷

स्पष्ट है कि नस्लीय भेद से इंकार करते हुए विवेकानंद ने कपालविद्या के आधार पर पर नस्ल एवं गुणधर्मों को निश्चित किए जाने से अपनी असहमति प्रदर्शित की है। इन वर्णों की सामाजिक संदर्भ में ही उपादेयता एवं निरंतर अस्थिरता की ओर ध्यान दिलाते हुए वे आगे कहते हैं —

“ठीक यही स्थिति ‘ब्राह्मण’ और ‘क्षत्रिय’ जैसे नामों की है। ये सभी नाम किसी एक समुदाय विशेष के सामाजिक पद का ही बोध कराते हैं, जो स्वतः सर्वोच्च पद पर पहुँच जाने पर भी, निरन्तर अस्थिर रहता है और निम्न समुदायों अथवा विदेशी लोगों को अपने में स्वीकार करने के लिए विवश होने पर निरन्तर विवाह—बन्धन आदि के विषय में निषेध द्वारा अपनी पृथक विशेषता को स्थिर बनाने का प्रयत्न करता रहता है। जिस किसी जाति में शस्त्र—बल आता है, वह क्षत्रिय हो जाती है; जिस किसी जाति में ज्ञान—बल आता है, वह ब्राह्मण हो जाती है; और जिस किसी जाति में धन—बल आता है, वह वैश्य हो जाती है। जो भी समुदाय अपने वांछित लक्ष्य तक पहुँच जाता है, वह निश्चय ही अपने को नवांगतुकों से पृथक रखने का प्रयास करता है। इसके लिए वह अपने वर्ण में ही उपवर्णों की सृष्टि करता है। पर तथ्य यह है कि अन्ततः वे सब घुल मिलकर एक हो जाते हैं। स्वाभाविक है कि एक समुदाय अपनी उन्नति कर लेने पर अपने विशेषाधिकारों को अपने ही तक सीमित—सुरक्षित रखने का प्रयास

करता है। अतः जब कभी किसी राजा की सहायता मिल सकना सम्भव हो सका, तभी उच्च वर्णों, विशेषकर ब्राह्मणों ने निम्न वर्णों की उच्चाकांक्षाओं को शस्त्र-बल से भी— यदि वैसा करना व्यावहारिक था— दबा देने का प्रयत्न किया। क्या उन्हें सफलता मिली? अपने पुराणों और उपपुराणों का सूक्ष्म अवलोकन करो, विशेषकर बृहत्पुराणों के स्थानीय खण्डों का अध्ययन करो और जो कुछ तुम्हारे चतुर्दिक हो रहा है उस पर दृष्टिपात करो, तो तुमको इस प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा। विविध जातियों के होते हुए भी और विवाह-सम्बन्ध के एक ही जाति की उपजातियों में सीमित रखने की आधुनिक प्रथा के होते हुए भी (यद्यपि यह प्रथा सार्वभौम नहीं है), हम हिन्दू लोग सभी सम्भव अर्थों में एक संकर जाति हैं”।³⁸

स्वामी विवेकानन्द ने जाति के संबंध में आर्य एवं अनार्य में रंग एवं भाषा के भेद के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं माना है। यदि रक्त का भेद स्वीकार कर लें तो ऐसा भेद हो सकता है किंतु उन्होंने इसका भी निषेध किया है। उनके निम्न कथन द्रष्टव्य हैं —

“तो आर्य और तमिल शब्दों का जो कुछ भी भाषाशास्त्रीय महत्त्व हो, हम यह स्वीकार भी कर लें कि भारतीय मानव-समाज के ये दो महान् उपभेद पश्चिमी सीमान्त के परे कहीं से आए थे, फिर भी तथ्य यह है कि इन दोनों के बीच की विभाजक रेखा प्राचीनतम काल से भाषा ही रही है, रक्त नहीं। वेदों में वर्णित दस्युओं की शारीरिक कुरूपता का चित्र खींचने वाली जुगुप्सापूर्ण उपमाओं में से एक भी उपमा महान् तमिल जाति पर लागू नहीं होती। सचमुच यदि आर्यों और तमिल लोगों के बीच मुखश्री की प्रतियोगिता हो तो कोई भी समझदार व्यक्ति परिणाम की भविष्यवाणी करने का साहस नहीं कर पायेगा”।³⁹

● जन्मना एवं कर्मणा वर्णव्यवस्था :-

वर्ण के सम्मिश्रण या लचीलेपन का अभिप्राय यह है कि वर्णव्यवस्था जन्म पर आधारित न होकर कर्म पर आधारित थी। साथ ही इसमें किसी भी वर्ण विशेष का विशेषाधिकार सुरक्षित नहीं था। विवेकानन्द किसी भी जाति की बलात् अधिकृत जन्मजात श्रेष्ठता को कल्पना मानते हैं। इस कल्पना को पुष्ट होने का कारण भाषागत विभेद है। हमें दुःख के साथ कहना पड़ता है कि भारत के अन्य किसी भाग में इस कपोल कल्पना

का प्रसार के लिए उतनी उर्वर भूमि नहीं मिली, जितनी भाषामूलक विभेदों के कारण, दक्षिण भारत में उसे मिली।⁴⁰

विवेकानंद वर्णव्यवस्था का समर्थन निम्न शब्दों में करते हैं —

“हमारा विश्वास है कि भारतीय वर्ण-व्यवस्था भगवान द्वारा मनुष्य को दी गई सर्वोत्कृष्ट सामाजिक व्यवस्थाओं में है। अनिवार्य त्रुटियों ने, विदेशी बाधाओं और उपद्रवों ने, तथा सर्वाधिक रूप में, जो ब्राह्मण की उपाधि के योग्य भी नहीं है, ऐसे अनेक ब्राह्मणों के अतिशय अज्ञान और मिथ्याभिमान ने अनेक प्रकार से इस गौरवमयी भारतीय व्यवस्था को समुचित रूप से सफल होने में बाधा पहुँचायी है और उसे कुण्ठित कर दिया है, फिर भी इस व्यवस्था ने भारत का अद्भुत कल्याण किया है और निश्चय ही भारतीय मानव-समाज को अपने लक्ष्य तक पथ-प्रदर्शन करने का श्रेय इसी व्यवस्था के भाग्य में है”।⁴¹

वे आगे कहते हैं —

“समाज में भिन्न-भिन्न अभिरूचियों के लोग रहते हैं, इसलिए जाति-भेद उत्पन्न होना स्वाभाविक है। सभी एक ही कार्य को समान कौशल से नहीं कर सकते हैं। यदि कोई समाज के नियमन की कला में पारंगत होता है, तो दूसरा जूते बनाने की कला में दक्ष होता है। किन्तु इसी आधार पर हम एक को दूसरे से श्रेष्ठ नहीं कह सकते, क्योंकि एक दूसरे की कला एक दूसरे के लिए दुःसाध्य है।.....जाति-भेद तो हमेशा रहेंगे। उन्हें तुम भी नष्ट नहीं कर सकते। जहाँ मनुष्य समाज में रहेगा, वहाँ जाति-भेद आवश्यक रूप से होगा। फिर भी, किसी विशेष जाति को किसी भी कारण से दूसरी जाति की अपेक्षा विशेष अधिकार नहीं मिलना चाहिए। हमें विशेषाधिकार के पागलपन को बिल्कुल निकाल देना होगा। प्रत्येक व्यक्ति में एक ही परमेश्वर व्याप्त है; भले ही वह कोयला बेचे या वेदान्त के तत्त्वों का ज्ञाता हो। हमें इसी बात को प्रसारित करने की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है”।⁴²

● जाति-व्यवस्था एवं अंतर्जातीय संघर्ष :—

वर्णों के मध्य ईर्ष्या का भाव जातीय संघर्ष को जन्म देता है। विशेषाधिकार के भाव से ईर्ष्या के भाव उत्पन्न होता है। अतएव जातीय संघर्ष से बचने के लिए विवेकानंद ने ब्राह्मण एवं ब्राह्मणेतर समुदाय के लिए निम्न संदेश दिया है:—

“ब्राह्मणों, सावधान ! यह मौत है। उठो और अपना पौरुष प्रकट करो। अपना ब्राह्मणत्व दीप्त करो, अपने आसपास के अब्राह्मणों को ऊपर उठाकर—प्रभु—भाव से नहीं, अन्धविश्वासों और पूर्व—पश्चिम के प्रपंचों के सहारे पनपनेवाले विकृत घातक अहंभाव से नहीं, बल्कि सेवक की भावना के साथ दूसरों को ऊपर उठाकर ! क्योंकि सचमुच जो सेवा करना जानता है, वही शासन करना जानता है ! ब्राह्मणेतर समुदाय भी वर्ण—विद्वेष की आग भड़काने में अपनी शक्ति का अपव्यय करते रहे हैं, जो इस समस्या के हल के लिए व्यर्थ और निरर्थक है। और प्रत्येक अहिन्दू को इस आग में ईंधन डालते हुए अत्यधिक हर्ष होता है। इन अन्तर्वर्ण—विद्वेषों, इन अन्तर्जातीय—संघर्षों से तो एक पग भी प्रगति नहीं की जा सकती, एक भी कठिनाई दूर नहीं की जा सकती, केवल इतना हो सकता है कि यदि यह आग भड़के और लपटें उठने लगें, तो घटनाचक्र की कल्याणप्रद प्रगति भी ठप्प हो जाए, शायद सदियों के लिए”!⁴³

उद्धरण एवं संदर्भ

1. गुप्ता, शिवानी. *भारत में जाति व्यवस्था*, दिल्ली: वंदना पब्लिकेशन, 2011, पृ. 180—181
2. पूर्वोक्त, पृ. 181—182
3. मिश्रा, डॉ. महेन्द्र कुमार. *भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति*, दिल्ली: कल्पना प्रकाशन, 2014, पृ. 273—274
4. नागोरी, डॉ. एस. एल., नागोरी श्रीमती कान्ता. *आधुनिक भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक इतिहास*. जयपुर: राज पब्लिशिंग हाऊस, 2007, पृ. 96
5. पूर्वोक्त, डॉ मिश्रा, पृ. 275
6. पूर्वोक्त, पृ. 276—278
7. पूर्वोक्त, पृ. 278—279
8. पूर्वोक्त, पृ. 280—281
9. पूर्वोक्त, पृ. 286—287
10. पूर्वोक्त, डॉ मिश्रा, पृ. 288
11. पूर्वोक्त, नागोरी, पृ. 115
12. पूर्वोक्त, नागोरी, पृ. 117
13. पूर्वोक्त, नागोरी, पृ. 118—119
14. पूर्वोक्त, डॉ मिश्रा, पृ. 295—296
15. पूर्वोक्त, नागोरी, पृ. 125—126
16. पूर्वोक्त, पृ. 127—128
17. पूर्वोक्त, पृ. 129
18. पूर्वोक्त, पृ. 138—139
19. पूर्वोक्त, पृ. 139—140
20. दासगुप्ता, सान्त्वना. *सोशल फिलॉसफी आफ स्वामी विवेकानंद*. कोलकाता: रामकृष्ण मिशन इन्स्टिट्यूट ऑफ कल्चर, 2005, पृ. 188
21. पूर्वोक्त, पृ. 190

22. स्वामी, विवेकानंद. *द कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानंद वॉल्यूम 3*. कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 2001, पृ. 85
23. पूर्वोक्त, पृ. 73
24. पूर्वोक्त, पृ. 109
25. पूर्वोक्त, दासगुप्ता. पृ. 190
26. पूर्वोक्त, *द कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानंद वॉल्यूम 2*. पृ. 85
27. पूर्वोक्त, पृ. 77
28. पूर्वोक्त, पृ. 85
29. पूर्वोक्त, *द कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानंद वॉल्यूम 4..* पृ. 463
30. पूर्वोक्त, पृ. 144
31. पूर्वोक्त
32. पूर्वोक्त, दासगुप्ता. पृ. 188
33. स्वामी विवेकानंद. *विवेकानंद साहित्य नवम् खण्ड*, कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 2014, पृ. 281
34. पूर्वोक्त, पृ. 281—82
35. पूर्वोक्त, पृ. 282
36. पूर्वोक्त
37. पूर्वोक्त, पृ. 283
38. पूर्वोक्त
39. पूर्वोक्त
40. पूर्वोक्त
41. पूर्वोक्त, पृ. 284
42. स्वामी विदेहात्मानन्द (सम्पादक) *स्वामी विवेकानंद और उनका अवदान*. प्रा. प्र. ग. सहस्रत्रयुद्धे: 'वह महान् द्रष्टा' कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 2018, पृ. 126
43. पूर्वोक्त, *विवेकानंद साहित्य खण्ड नवम्*. पृ. 285

पंचम अध्यायः
विवेकानंद का वेदान्तिक समाजवाद

पंचम अध्याय: विवेकानंद का वेदान्तिक समाजवाद

समाज को लेकर विभिन्न दार्शनिकों एवं समाजशास्त्रियों के अलग-अलग मत देखने को मिलते हैं। यद्यपि इनका विस्तृत वर्णन तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। तथापि विवेकानंद के वेदान्तिक समाजवाद को समझने के क्रम में समाजवाद की पाश्चात्य एवं प्राच्य अवधारणाओं को समझ लेना आवश्यक है।

5.1: समाज की पाश्चात्य संकल्पनाएँ :—

यदि 'समाज' शब्द के सामान्य अर्थ पर ध्यान दिया जाय तो इसे कुछ व्यक्तियों का समूह कहा जा सकता है। यदि जन सामान्य से पूछा जाय कि समाज क्या है, तो वह यही कहेंगे कि कुछ व्यक्तियों को मिलाकर जो संगठन बनता है, वह समाज है। जैसे मुस्लिम समाज, ब्रह्म समाज आदि। परन्तु समाजशास्त्र के अन्तर्गत समाज का अर्थ इससे भिन्न है। यहाँ समाज व्यक्तियों का समूह ही नहीं, वरन् सामाजिक सम्बन्धों की एक अमूर्त व्यवस्था है। वह मनुष्यों के व्यवहारों, सम्बन्धों, रीति-रिवाजों, सिद्धान्तों और नियमों की व्यवस्था का नाम है। व्यक्ति जब समाज में रहता है, तो समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों, परम्पराओं का पालन करते हुए, सामाजिक व्यवस्था में योगदान देता है। दूसरी ओर परिस्थितियों एवं वातावरण में परिवर्तन के साथ-साथ समाज में जन्म लेती रूढ़ियों तथा कुरीतियों का विरोध भी जागरूक मानव या व्यक्ति ही कर सकता है। अतः मनुष्य के सामाजिक जीवन से दर्शन पूर्णतः सम्बद्ध है। यह नहीं कहा जा सकता है कि समाज मनुष्यों का समूह मात्र है, उसमें विचारशीलता, और चेतना भी रहती है। इसके अभाव में मनुष्य, मनुष्य नहीं पशु मात्र रह जाता है और पशुओं का समाज 'समाज' नहीं झुण्ड होता है। अतः समाजशास्त्र और दर्शन का कहीं न कहीं सम्बन्ध अवश्य है।

स्पष्टतः कहा जा सकता है कि मनुष्य ने कुछ कारणों से परिवार, समुदाय, राष्ट्र और मानव समाज की कल्पना की है। जब तक मनुष्य उन कारणों की पूर्ति होते देखता है वह उस घरे, अर्थात् समुदाय इत्यादि में रहना चाहता है। जब वह शर्त की पूर्ति होते नहीं देखता, वह ऐसे घरे को छोड़ देता है।

समाज अथवा समाज के किसी अंग से बाहर हो जाने का अधिकार व्यक्ति को है। व्यक्ति की इस स्वेच्छाचारिता पर प्रतिबन्ध लगाने वाला समाज, समाज नहीं रह सकेगा। यह तो कारागृह कहाएगा, यह इस कारण कि समाज व्यक्तियों ने बनाया है न कि समाज ने व्यक्ति बनाये है। इसलिए समाज एक कारागृह नहीं है, अपितु यह एक खुला हुआ प्रांगण है, जिसमें आने-जाने के द्वार खुले रहते हैं। व्यक्ति समाज में अथवा समाज के किसी घेरे में जाकर रह सकता है और उससे बाहर भी आ सकता है।¹

समाज की संकल्पना के सम्बंध में विचार प्रकट करते हुए अरस्तु कहते हैं कि “मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है। बिना समाज के वह रह ही नहीं सकता। समाज का सर्वप्रथम निर्माण उसने अपनी जीवन रक्षा के उद्देश्य से किया बाद में उसने उस समाज को इसलिए बनाए रखा कि जिन्दगी कुछ अच्छे तरीके से व्यतीत होती जाए। राज्य का निर्माण भी उसने प्रकृति-वश ही किया। मनुष्य, उसके अनुसार, वास्तव में राजनैतिक प्राणी है। इस प्रकार व्यक्ति से परिवार और परिवार से समाज तथा समाज से ही राज्य और राष्ट्र का निर्माण होता है। व्यक्ति के अभाव में किसी भी राष्ट्र या समाज की कल्पना नहीं की जा सकती”।²

यूरोप के समाजशास्त्रियों मनुष्य को समाज की उपज मानते हैं। उनका कथन है कि मनुष्य समाज का बच्चा है। बिना समाज के वह रह ही नहीं सकता। उनके विचार में समाज को सुधारने से व्यक्ति सुधारा जा सकता है।

अमेरिकन समाजशास्त्री, आर. एम. मैकायवर ने अपनी पुस्तक सोसाइटी में व्यक्ति के लिए समाज की उपयोगिता के सम्बंध में लिखा है —

“समाज की आवश्यकता से मनुष्य स्वतंत्र नहीं है। जब कोई साधु समाज को छोड़ता है, तो वह किसी अन्य समाज को पाने की कल्पना करता है, जो परमात्मा अथवा प्रकृति के संगत में हो सकेगी। अथवा वह किसी भ्रम में फँसकर अपने को दण्ड का भागी बनाता है। यदि वह आरम्भ में पागल नहीं तो पीछे अवश्य ही हो जाता है। एक सामान्य मनुष्य को जीवन चलाने के लिए सामाजिक सम्बन्ध बनाना आवश्यक है”।³

मैकायवर के अनुसार सामाजिक ढाँचा ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य को मुक्त करे। मनुष्य के लिए समाज एक आवश्यक वस्तु नहीं। हाँ, समाज के लिए उसके घटक एक आवश्यक पदार्थ हैं। अतः समाज का विचार, मनुष्य को छोड़कर नहीं किया जा सकता। मनुष्य के शारीरिक सुख प्रसाधन होते हुए भी उसके मन, बुद्धि और आत्मा निरन्तर स्वतंत्रता की खोज करते हैं। समाज इस खोज में बाधक नहीं हो सकता। इसलिए समाज का ढाँचा निर्माण करते समय इसके बाहर से भीतर और भीतर से बाहर जाने के द्वार बन्द नहीं किये जा सकते।

मैकायवर सामाजिक नियमों की परिवर्तनशीलता को व्यक्त करते हुए कहते हैं –

“समाज एक प्राकृतिक तथ्य से भिन्न वस्तु है। जो नियम इसको जीवित रखते हैं वे, कम से कम कुछ अंशों में, सम्मति मात्र और प्रेरणा मात्र ही होते हैं। प्रकृति के नियमों के विपरीत इनका उल्लंघन कर सकते हैं और इनको बदल भी सकते हैं। प्राकृतिक नियमों की भाँति ये अपरिवर्तनशील नहीं।..... नियम बदले जा सकते हैं क्योंकि मनुष्यों की आवश्यकताएँ और इच्छाएँ सदैव समान नहीं रहती। मनुष्य अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं के लिए नये नये रूप ढूँढता रहता है”।⁴

इन सब का अर्थ यह है कि मनुष्य एक बुद्धिशील प्राणी है। बुद्धियाँ, विशेष रूप में सांसारिक जीवों की, समान नहीं होती, न ही सदा समान रहती है। इसमें कारण यह है कि समाज एक चलायमान वस्तु है। यह स्थिर और निश्चित नहीं रह सकती।

एफ. एच. एल्पोर्ट के अनुसार “व्यक्ति का सामाजिक व्यवहार सामाजिक उत्तेजनों का आभारी है। भाषा, इंगित, हास्य आदि विभिन्न प्रकार के सामाजिक उत्तेजक, व्यक्ति को सामाजिक बनाते हैं। यदि कोई मनुष्य जंगल में एकाकी रहे तो, सामाजिक तत्व उसमें उभर नहीं पायेगा। इस प्रकार व्यक्ति सीख-सीख कर ही सामाजिक व्यवहार की प्रकृति समुत्पन्न कर पाता है”।⁵ अतः सामाजीकरण के लिए समाज कितना आवश्यक है, उसी प्रकार के विचारों को स्पष्ट करते हुए प्रमुख समाजशास्त्री श्री जे. बी. गिल्टलर लिखते हैं कि “व्यक्ति में सामाजिक वृत्ति जन्मजात नहीं होती, सामाजिक संस्थाओं के प्रभाव के कारण वह संस्कृति

सीखता है और परिवार तथा खेलकूद के सहयोगी गण उसे सामाजिक वृत्ति प्रदान करते हैं। इन सबसे दूर रहकर वह सामाजिक प्राणी नहीं बन सकता”।⁶

5.1.1: समाज की संकल्पनाओं का वर्गीकरण:—

सोरोकिन ने समाज की संकल्पनाओं का चार प्रकार से वर्गीकरण किया है।⁷ इनका संक्षिप्त प्रारूप निम्नवत् है:—

1. **यांत्रिक संकल्पना** :— इस सिद्धांत के अनुसार समाज एक प्रकार का यांत्रिक निकाय है।
2. **आण्विक संकल्पना** :— इस सिद्धांत के अनुसार समाज व्यक्तियों का समूह है।
3. **जैविक संकल्पना** :— इस सिद्धांत के अनुसार समाज व्यक्तियों का समूह है। यह एक परावैयक्तिक तत्व है। एक जीवित पदार्थ के समान इसका भी एक प्राकृतिक उद्गम एवं गुणधर्म हैं।
4. **कियात्मक संकल्पना** :— इस सिद्धांत के अनुसार समाज व्यक्तियों का एक परस्पर सम्बंधात्मक समूह है।

इन चारों में से जैविक संकल्पना को बहुत विचारक स्वीकार करते हैं। इस सिद्धांत के साथ यह दुविधा है कि एक जैविक निकाय जन्म, वृद्धि एवं मृत्यु के नियम का पालन करता है। इसे प्रगति के एक काल के उपरांत ह्रास को प्राप्त होते हुए अंततः लुप्त हो जाना है। परन्तु यह प्राकृतिक प्रक्रिया सभी समाजों के लिए सत्य नहीं है। प्राचीन भारतीय समाज एवं चीनी समाज में पूरे ऐतिहासिक कालक्रम में पूर्ण विलुप्तीकरण नहीं दिखाई देता यद्यपि इनमें महान् परिवर्तन दिखाई देता है। अतएव स्वामी विवेकानंद के अनुसार मानव के विकास में समाज एक परिवर्तित चरण है क्योंकि यह सदैव परिवर्तनशील रहता है।

समाज को लेकर भिन्न संकल्पनाएं हैं। समाजवाद, साम्यवाद, अराजकतावाद एवं पूँजीवाद आदि समाज से सम्बंधित विभिन्न आर्थिक एवं राजनैतिक सिद्धांत हैं। पहले समाजवाद का अध्ययन आवश्यक है।

‘समाजवाद’ आधुनिक युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारधारा है। सभी देश अपने को ‘समाजवादी’ कहने में गर्व का अनुभव करते हैं। यहाँ तक कि जो समाजवाद के विरोधी हैं वे भी सार्वजनिक रूप से समाजवाद की आलोचना करने का साहस नहीं कर पाते। इसके अभ्युदय के साथ संसार में एक ऐसे नूतन दृष्टिकोण का जन्म हुआ है जो सामाजिक शोषण के अन्त तथा सभी क्षेत्रों में न्याय व्यवस्था की स्थापना का समर्थन करता है। इस नवीन दृष्टिकोण का महत्व केवल सामाजिक क्षेत्र में ही नहीं है अपितु इसके कारण व्यावहारिक राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, समाज की आर्थिक व्यवस्था तथा साहित्य और संस्कृति तक प्रभावित हुए बिना नहीं रहे हैं। यही कारण है कि अपने विकास के क्रम में समाजवाद ने अनेक रूप धारण किए हैं।

5.1.2: समाजवाद का अर्थ :—

‘समाजवाद’ (सोशियलिज्म) शब्द (सोशियस) से बना है, सोशियस का अर्थ ‘समाज’ होता है। इस प्रकार समाजवाद का सम्बन्ध समाज के सुधार से है। आधुनिक समाज का संगठन और उसकी संरचना इतनी दोषयुक्त और अन्यायपूर्ण है कि समाजवाद के आविर्भाव को कोई शक्ति रोक नहीं सकती। समाजवाद वस्तुतः उस सामाजिक और आर्थिक अव्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया है, जिसको पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था ने उत्पन्न किया है। समाजवाद मनुष्य और बच्चों के मनुष्य द्वारा शोषण के विरुद्ध एक प्रकार का धर्म युद्ध है। यह शोषण आज खेतों में, खानों में, कल-कारखानों में और फैक्टरियों में सर्वत्र दिखाई दे रहा है। समाजवाद उस सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह है, जिसमें व्यक्तिगत लाभ को ही सब कुछ माना जाता है और जहाँ परार्थ-भावना को बिल्कुल ही महत्व नहीं दिया जाता। समाजवाद आर्थिक प्रतियोगिता के विरुद्ध भी चुनौती है। जिसमें श्रमिकों और उनके परिवार वालों को निरन्तर गरीबी की असहाय अवस्था में छोड़ दिया जाता है और जिसमें करोड़ों आदमियों को भूखा-नंगा रखकर कुछ इने-गिने लोगों को मालामाल कर दिया जाता है तथा जिसने समाज को दो विरोधी वर्गों में बाँट कर संघर्षों और युद्धों को जन्म दिया है।⁸

वर्तमान सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध समाजवाद ने युद्ध का उद्घोष किया है। वह वस्तुतः नैतिक धर्म युद्ध है यद्यपि उसका आधार आर्थिक है। प्राचीन काल में आज तक उत्पादक वर्ग के साथ कभी भी न्याय नहीं किया गया। आदि काल में यह वर्ग केवल दासों का वर्ग था, फिर कुछ समय बाद इस वर्ग में अर्द्ध स्वतन्त्र कृषक वर्ग आ गए। आज इस औद्योगिक युग में इस वर्ग में श्रमिक लोग सम्मिलित हो गये हैं। समाजवादियों का कथन है कि इस उत्पादक वर्ग को सदैव भूमि रहित, पूँजी-रहित और साधन-हीन रखा गया है। इस वर्ग को न तो श्रम का उचित पारिश्रमिक मिला है और न उसे समाज में उचित राजनीतिक और सामाजिक अधिकार ही मिले हैं। वस्तुतः राजनीतिक अधिकार आर्थिक अधिकारों के परिणाम है। बिना आर्थिक अधिकारों के राजनीतिक अधिकार प्रवंचनामात्र हैं। समाजवादियों का कथन है कि जब तक पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन नहीं लाया जायगा, तब तक शोषित और दलित वर्ग का कुछ भी सुधार नहीं किया जा सकता। इसलिए, समाजवादी चाहते हैं कि भूमि और पूँजी पर समस्त समाज का स्वामित्व हो जिससे कि समाज के सभी वर्गों के आनुपातिक भाग सुनिश्चित किए जा सकें। उनके अनुसार समाजवादी व्यवस्था द्वारा पृथ्वी पर सुख और समृद्धि लाई जा सकती है।

5.1.3: समाजवाद की परिभाषा :-

सैद्धान्तिक दृष्टि से समाजवाद की परिभाषा करना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। इसका एक कारण है कि समाजवाद के रूप परिस्थितियों के परिवर्तन के अनुसार सदा बदलता रहता है। इसे बहुरूपिया दर्शन कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी क्योंकि इसके रूप, क्षेत्र और सीमाओं को एक परिधि में बाँधना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इसकी इसी विशेषता के कारण 'रैमजे म्योर' ने समाजवाद के विषय में कहा है कि "यह एक गिरगिट के समान है जो परिस्थितियों के अनुसार अपना रंग बदलता रहता है"।⁹

चूँकि परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ समाजवाद का रूप बदलता रहा है अतः उसकी परिभाषा भी भिन्न-भिन्न प्रकार से की गयी है। यहां हम कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाओं का ही विवेचन प्रस्तुत करेंगे एमाइल के अनुसार "यह श्रमिकों का एक ऐसा संगठन है जिसका

उद्देश्य पूँजीवादी सम्पत्ति को सामाजिक सम्पत्ति में परिवर्तित करने के लिए राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना है”।¹⁰ ह्यूगन के अनुसार “समाजवाद श्रमिक वर्ग का एक आन्दोलन है जिसका लक्ष्य उत्पादन और वितरण के मौलिक साधनों के सामूहिक तथा लोकतन्त्रीय प्रबन्ध द्वारा शोषण को दूर करना है”।¹¹ बाबू जयप्रकाश नारायण ने भी समाजवाद के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण करते हुए उसके स्वरूप का विवेचन किया है। समाजवाद की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा है कि समाजवादी समाज ‘एक ऐसा वर्ग— रहित समाज होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति श्रमिक होता है। यह एक ऐसा समाज होता है जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति के हित के लिए मानव श्रम का शोषण नहीं होता, जिसमें सम्पूर्ण सम्पत्ति वास्तविक रूप में राष्ट्रीय होती है, जिसमें किसी को अनुपार्जित फल नहीं मिलता, जिसमें आय की अधिक असमानताएँ नहीं होतीं, जिसमें मानव जीवन का संचालन एवं उन्नति योजनाबद्ध ढंग से होती है तथा जिसमें सब सबके लिए जीवित रहते हैं”।¹²

5.1.4: समाजवाद का संक्षिप्त इतिहास :-

समाजवाद का जन्म व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप हुआ। सामाजिक चिन्तन के इतिहास में समाजवाद कोई आकस्मिक घटना नहीं है। यह एक सुनिश्चित विकास क्रम का अनिवार्य परिणाम है जिसका प्रारम्भ औद्योगिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि में हुआ। अपने आधुनिक स्वरूप में समाजवाद का जन्म उस समय हुआ जब योरोप में निरंकुश राजतन्त्र तो समाप्त हो चुके थे पर व्यक्तिवादी विचारधारा पर जिस राज्य का निर्माण किया गया था उससे जन-साधारण को कोई लाभ नहीं हुआ था। अतः समाजवाद, राजतन्त्र और व्यक्तितन्त्र दोनों के विरुद्ध प्रतिक्रिया का तार्किक परिणाम है।

5.1.5: समाजवाद की प्रमुख विशेषताएँ :-

प्रत्येक समाजवादी सिद्धान्त का लक्ष्य यह है कि ‘सामाजिक अवस्था में अधिक से अधिक समानता लायी जाए। इसके अनुसार जिस प्रकार प्रकृति ने जल और वायु सभी को समान रूप से प्रदान किया है उसी प्रकार भूमि भी सबको समान रूप से उपलब्ध होनी चाहिए। संक्षेप में समाजवाद की निम्न मुख्य विशेषताएँ हैं।¹³

1. देश की समस्त भूमि पर तथा भारी और आधारभूत उद्योगों पर राज्य का स्वामित्व होता है।
2. वस्तुओं और सेवाओं की उत्पत्ति व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्यों से न होकर समाज कल्याण और राष्ट्रहित के उद्देश्य से होती है।
3. समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में केवल उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन होता है और उतनी ही मात्रा में होता है जो देश के लिए आवश्यक है। स्वावलम्बन ही इसका लक्ष्य होता है।
4. समाजवाद की स्थापना से वर्ग संघर्ष दूर किया जा सकता है तथा अनियन्त्रित आर्थिक विषमता को समाप्त किया जा सकता है।
5. इसके अन्दर राष्ट्रीय आय में तेजी से वृद्धि होती है, धन का वितरण समान होता है और नागरिकों का जीवन-स्तर ऊँचा उठता है।
6. इस अर्थ व्यवस्था में अनावश्यक प्रतिस्पर्धा न होने के कारण आर्थिक बरबादी कम होती है।
7. समाजवाद का स्वाभाविक आधार आर्थिक नियोजन होता है।
8. समाजवादियों की धारणा के अनुसार यह भावना गलत है कि मनुष्य स्वार्थी होता है। उनका कहना है कि व्यक्ति समाज कल्याण के लिए बड़ा से बड़ा बलिदान कर सकता है। यद्यपि अपने उग्र रूप में समाजवादी विचारधारा व्यक्तिगत सम्पत्ति को मान्य नहीं समझती, तथापि अनेक समाजवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति को पूर्णतः समाप्त करने के पक्ष में नहीं हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार दिया जा सकता है पर उसका उपयोग सार्वजनिक कार्यों के लिए होना चाहिए।
9. समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति को अपना पूर्ण विकास करने का अवसर प्राप्त होता है, क्योंकि राज्य की ओर से उन सब सुविधाओं की व्यवस्था होगी जो व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक होंगी। शिक्षा का प्रबन्ध निःशुल्क होगा।
10. समाजवादी अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत स्पर्धा के अभाव के कारण उत्पादन की खपत के लिए आवश्यक धन व्यय करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। ऐसा होने से वस्तुओं के उत्पादन में कम व्यय होगा, फलतः उचित मूल्य पर अच्छा माल सर्वसाधारण को आसानी से प्राप्त हो सकेगा। इस प्रकार समाजवादी समाज में प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग का साम्राज्य होगा।

5.1.6: समाजवाद और राज्य :-

समाजवाद केवल आर्थिक व्यवस्था ही नहीं है, वह राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में भी एक विस्तृत आयोजन प्रस्तुत करता है। समाजवादी व्यवस्था के भीतर राज्य का व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलू पर अधिकार होता है। राज्य का कार्य केवल शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना तथा बाह्य और आन्तरिक सुरक्षा की व्यवस्था करना ही नहीं है वरन् व्यक्ति और समाज की सामूहिक रूप से उन्नति करना भी उसका कर्तव्य है। व्यक्ति की उन्नति समाज के माध्यम से ही हो सकती है। अतः, जब समुदाय की उन्नति होगी, तभी व्यक्ति की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है। व्यक्ति के सामूहिक जीवन के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक आदि विभिन्न पहलू होते हैं। समुदायों में राज्य सबसे बड़ा होता है। अतः, उसका कर्तव्य है कि वह मनुष्य के सामूहिक जीवन को नियन्त्रित तथा मर्यादित करे जिससे कि मनुष्य के व्यक्तिगत और सामूहिक हितों में सामंजस्य स्थापित किया जा सके।

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में सिद्धान्ततः प्रायः सभी समाजवादी एक मत हैं पर व्यवहार में उस सिद्धान्त को किस प्रकार कार्य रूप में परिणत किया जा सकता है, इस सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों में पर्याप्त मतभेद है। एक ओर साम्यवादियों का कथन है कि समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति की बात बिल्कुल अस्वीकार्य होनी चाहिए। समाज का सम्पूर्ण आर्थिक जीवन राज्य द्वारा संचालित होना चाहिए।

5.1.7: भारतीय समाजवाद :-

पश्चिम में समाजवाद 16वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ, पर भारत में समाजवादी विचार अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रचलित है। भारतीय समाजवाद की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिन्हें पश्चिमी समाजवाद में खोजना कठिन ही नहीं असम्भव भी है।

● भारतीय समाजवाद की प्रमुख विशेषताएँ:-

जगदीश सहाय श्रीवास्तव के अनुसार भारतीय समाजवाद की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं।¹⁴

1. पश्चिम का प्रजातन्त्र और समाजवाद दोनों डार्विन के संघर्ष सिद्धान्त पर आधारित है, जिसके अनुसार राजा और प्रजा का तथा पूँजीपति और श्रमिक का संघर्ष स्थायी है। प्रजातन्त्र और समाजवाद दोनों ने वर्ग संघर्ष को समाप्त करने की दिशा में प्रयत्न किया है पर दोनों अपने-अपने कार्य में असफल रहे हैं। दोनों ने वर्गों को समाप्त करने का मार्ग अपनाया। उसमें वर्गों की समाप्ति न होकर केवल उनका रूपान्तरण ही हुआ। प्रजातन्त्र ने राजा और प्रजा के संघर्ष को स्थायी मानकर राजा को समाप्त कर दिया पर प्रजा के विभिन्न दलों का संघर्ष प्रजातन्त्र की स्थायी मान्यता बन चुकी है। इसी प्रकार समाजवाद ने पूँजीपतियों और श्रमिकों के बीच संघर्ष को स्थायी मानकर पूँजीपतियों को समाप्त करने की दिशा में प्रयत्न किया पर इससे वर्ग संघर्ष का अन्त नहीं हुआ बल्कि नौकरशाही और साधारण जनता के दो नये वर्ग समाज में हुआ उत्पन्न हो गये।

इसके विपरीत, भारतीय समाजवाद परस्परपूरकता, परस्परावलम्बन, सहयोग व समन्वय पर आधारित है। वर्गों का अस्तित्व प्रकृतिप्रदत्त है; हम उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं ला सकते। अतः, हमारे लिए विभिन्न वर्गों के बीच समन्वय लाने के सिवा कोई अन्य विकल्प शेष नहीं रह जाता।

2. पश्चिमी समाज व्यवस्था का साधन तलवार रही है, पर भारतीय समाज व्यवस्था का साधन है विभिन्न वर्ण-विभाग। 'वर्ण' शब्द वरण शब्द से निर्मित हुआ है जिसका अर्थ होता है 'चयन'। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अभिरुचि और अभिवृत्ति के अनुसार अपने व्यवसाय चुनने का अधिकार होना चाहिए। जाति का वर्ण व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है। निम्न जाति के लोग भी उच्च कर्म द्वारा उच्च जाति को प्राप्त कर सकते हैं। उसी प्रकार उच्च जाति के लोग भी निकृष्ट कर्म करके निम्न जाति में शामिल हो सकते हैं। विश्वामित्र जाति के क्षत्रिय थे, पर तपस्या द्वारा ब्राह्मण पद को प्राप्त हुए। परशुराम जाति के ब्राह्मण थे, पर क्षत्रिय कर्म में प्रवृत्त होने के कारण वे क्षत्रिय कहलाये।
3. भारतीय समाजवाद में धन की प्राप्ति भोग के लिए नहीं वरन् कर्तव्य पालन हेतु की जाती है। भूमि, श्रम, पूँजी, साहस और संगठन ये पाँच मूल्य के साधन माने गये हैं। आधुनिक नारा यह है कि "जो कमायेगा, वह खायेगा"। इसे पूँजीवादी व साम्यवादी दोनों मानते हैं। उनमें झगड़ा केवल इतना ही है कि उक्त पाँच साधनों में कौन कितना कमाता है ?

पूँजीवादी पूँजी व साहस को सर्वाधिक महत्व देते हैं; इसके विपरीत साम्यवादी “श्रम” को विशेष महत्व देते हैं। ये दोनों मत एकांगी हैं और कुछ सीमा तक अनैतिक भी। हमारा मारा यह होना चाहिए कि “कमानेवाला खिलायेगा तथा जो जन्मा सो खायेगा”। खाने का अधिकार तो सबको मिला है। बच्चे, बूढ़े, रोगी, अपाहिज जो कमा नहीं सकते, समाज को उनकी भी चिन्ता करनी होती है। काम हमें इसलिए नहीं करना चाहिए कि हम अपने खाने की व्यवस्था कर सकें, वरन् हमें काम इसलिए करना चाहिए कि हम अपने कर्तव्य का निर्वाह कर सकें। हमें समाज हेतु पितृ ऋण, देव ऋण, गुरु ऋण इत्यादि चुकाना है जिसके लिए धन की आवश्यकता होती है। इस कर्तव्य का पालन करने के लिए हम कार्य करते हैं।

4. पाश्चात्य समाजवाद भोगवादी है पर भारतीय समाजवाद संयमवादी है। अधिकाधिक उपभोग का सिद्धान्त मनुष्य के दुःख को बढ़ावा देता है। उपभोग की लालसा की तृप्ति असंभव है; उसकी जितनी ही तृप्ति की जाती है वह उतनी ही बलवती होती चली जाती है। भारतीय मतवाद जब वर्ग-संघर्ष का खंडन करता है तब उसका तात्पर्य यही होता है कि उसने उपभोग को नियंत्रित कर लिया है तथा अधिकाधिक उपभोग के स्थान पर न्यूनतम उपभोग को आदर्श बनाया है। मनुष्य को प्रकृत भावनाओं का संस्कार करके उसमें अधिकाधिक उत्पादन, समान वितरण तथा संयमित उपभोग की प्रवृत्ति पैदा करना ही आर्थिक क्षेत्र में संस्कृति का कार्य है। संयमित उपभोग से एक ओर अति उत्पादन का दोष और दूसरी ओर वर्ग-संघर्ष का दोष दोनों समाप्त किये जा सकते हैं।
5. स्वामी विवेकानंद ने श्रमिक को ‘ब्रह्म’ और पूँजीपति को ‘माया के रूप’ में ग्रहण किया। जिस प्रकार बिना ब्रह्म के माया का अस्तित्व असम्भव है, उसी प्रकार बिना श्रमिकों के पूँजीपतियों का अस्तित्व असम्भव है। स्वामी विवेकानंद ने पूँजीपतियों को सम्बोधित करते हुए कहा है, “हे भारत के उच्चवर्ग वालों, तुम तो माया के इस संसार में मानो इन्द्रजाल हो, रहस्य हो, मरु-मरीचिका हो। एकत्र मिश्रित विभिन्न भूतकालिक क्रियाओं के तुम द्योतक मात्र हो।..... तुम तो भविष्य के शून्याकार, सारहीन अस्तित्व रहित पदार्थ हो ! स्वप्न राज्य के नागरिक ! तुम लोग और अधिक समय तक क्यों भटक रहे हो ? तुम भूतकालीन भारत के मृत शरीर के मांसहीन, रक्तहीन अस्थि कंकाल जैसे हो तुम शीघ्र ही अपने को मिट्टी में

मिलाकर हवा में अदृश्य क्यों नहीं हो जाते” ? आगे पूँजीपतियों को धिक्कारते हुए स्वामीजी ने फिर उन्हें सावधान किया, “भूतकाल के कंकाल ! देखो, तुम्हारे सामने उत्तराधिकारी खड़े हैं— भावी भारतवर्ष खड़ा है। अपने खजाने की उन पिटारियों को और इन रत्नजटित मुद्रिकाओं को उनके बीच जितनी जल्दी हो सके फेंक दो और तुम हवा में मिल जाओ, फिर कभी दिखाई न दो केवल अपने कानों को खोल रखो।

6. पाश्चात्य समाजवाद केवल अर्थ को ही जीवन का पुरुषार्थ मानता है, पर भारतीय समाजवाद अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारों को जीवन के पुरुषार्थ मानता है। विश्व की समस्याओं का उत्तर न पूँजीवाद है और न समाजवाद। पूँजीवाद श्रमिकों का शोषण करता है और समाजवाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण करता है। दोनों ही केन्द्रीकरण के मार्ग हैं। हमें एकात्मक मानववाद का अनुसरण करना चाहिए जो जीवन को टुकड़ों में न बांटकर सम्पूर्ण जीवन को एक इकाई मानकर विचार करता है। केवल अर्थ—लाभ से ही मानवीय उद्देश्यों की सिद्धि नहीं हो सकती। गांधी जी का प्रन्यास सिद्धान्त भारतीय जन—जीवन के सर्वाधिक निकट है। इसका प्रयोग समाजवादी और गैर—समाजवादी दोनों ही समाजों के लिए समान रूप से किया जा सकता है।

5.1.8: समाजवाद का मूल्यांकन :—

समाजवादी विचारधारा आधुनिक युग की एक बड़ी ही लोकप्रिय विचारधारा है। जो इसके विरोधी भी हैं, वे खुलकर इसका विरोध नहीं करना चाहते। इसकी लोकप्रियता का कारण यह है कि इसमें कुछ ऐसी अच्छाइयाँ अवश्य हैं जो पूँजीवादी समाज व्यवस्था में नहीं पायी जाती। समाजवादी व्यवस्था की निम्न अच्छाइयाँ हैं:—

● पक्ष

1. समाजवाद स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ भावना पर विशेष बल देता है। समाज में जो कुछ भी कार्य किये जायें वे व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं, वरन् समाज के हित के लिए किये जायें। इसीलिए वह व्यक्तिगत स्वामित्व का विरोधी है। जिस प्रकार वायु, जल और प्रकाश पर

किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं है उसी प्रकार भूमि और पूँजी पर भी किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं होना चाहिए।

2. समाजवाद उत्पादन को आदर्श व्यवस्था तो नहीं है, पर न्यायपूर्ण वितरण के लिए आदर्श व्यवस्था अवश्य है। पूँजीवाद में धनी और अधिक धनी तथा निर्धन और अधिक निर्धन हो जाते हैं और इस प्रकार श्रमिकों का शोषण रोकने के लिए समाजवादी विचारधारा आवश्यक है।
3. समाजवाद का मन्तव्य यह नहीं है कि समाज के सभी व्यक्तियों की आमदनी समान कर दी जाय। यह न तो सम्भव है और न वांछनीय ही। समाजवाद का वास्तविक मन्तव्य यह है कि समाज में आर्थिक असमानता न्यूनतम हो जिससे कि आर्थिक समानता द्वारा सामाजिक तथा राजनीतिक समानता स्थापित की जा सके।¹⁵

● विपक्ष:—

समाजवाद के भीतर उपर्युक्त अच्छाइयाँ होते हुए भी उसके अन्धाधुन्ध अनुसरण की इजाजत नहीं दी जा सकती। समाजवाद को उसके वास्तविक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। समाजवाद का वास्तविक अर्थ है: सत्ता और धन का विकेन्द्रीकरण। पर आज दिन समाजवाद का इससे ठीक विपरीत अर्थ लगाया जाता है और वह है: सत्ता और धन का केन्द्रीकरण।

1. समाजवाद पूँजीपतियों और श्रमिकों के बीच संघर्ष को अनिवार्य और स्थायी मानता है जो डार्विन के संघर्ष सिद्धान्त पर आधारित है। पर अन्य जीव वैज्ञानिकों जैसे जूलियन हक्सले ने इस संघर्षवाद का खण्डन किया है। उनके अनुसार संघर्ष जीवन का केवल एकांगी पक्ष है। संघर्ष की अपेक्षा सहयोग की भावना का जीवन में अधिक महत्व है। पूँजीपतियों और श्रमिकों के संघर्ष में पूँजीपतियों को समाप्त करने की अपेक्षा यदि दोनों में सहयोग की भावना को विकसित किया जाय तो शायद समाज का अधिक भला हो सकता है।
2. समाजवाद को वितरण की प्रणाली भले ही मान लिया जाय क्योंकि इसमें सामाजिक न्याय पर विशेष ध्यान दिया जाता है, पर उत्पादन की यह प्रणाली कभी नहीं हो सकती। समाजवाद भूमि और अन्य उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व चाहता है। पर यह अव्यावहारिक ही नहीं, वरन् अनुपयोगी भी है। यदि उत्पादन के सभी साधनों पर राज्य का

स्वामित्व हो जायगा तो नागरिकों की स्थिति श्रमिकों की तरह हो जाएगी। इससे व्यक्तियों की प्रतिभा, साहस और प्रेरणा का ह्रास होता है। समाजवाद में बुद्धिमानों, परिश्रमियों और योग्य व्यक्तियों तथा मूर्खों, आलसियों और अयोग्यों की स्थिति एक—सी ही होती है, जो देश के लिए हानिकारक होती है।

3. समाजवादी व्यवस्था में राज्य को इतने अधिक कार्य सौंप दिये जाते हैं कि उनका पूरी तरह सम्पादन और नियन्त्रण करना उसके लिए असम्भव हो जाता है। राज्य कोई व्यक्ति नहीं है कि उसे सभी कार्य सौंप दिये जाये। राज्य केवल एक साधन या कार्य प्रणाली है, जो नागरिकों (साध्य) के हित का साधन करती है। राज्य का कार्य केवल व्यक्ति को सहायता देना है न कि उसका स्थानापन्न होना अथवा उसका नियन्त्रण करना है। जीवन में हमें साधन को कभी भी साध्य रूप नहीं मानना चाहिए।¹⁶

5.1.9: समाजवाद के विभिन्न रूप :-

समाजवाद के आज इतने रूप हो चुके हैं कि वास्तविक समाजवाद क्या है, इसका निर्णय करना असम्भव हो गया है। समाजवादी व्यवस्था के अनेक रूपों में निम्नलिखित प्रमुख रूप हैं:-

1. समष्टिवाद या राजकीय समाजवाद
2. श्रमिक संघवाद
3. साम्यवाद

1. समष्टिवाद की व्याख्या :-

समष्टिवाद में राज्य को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। राज्य एक आवश्यक और लाभदायक संस्था है जिसे अधिक से अधिक प्रशासनिक व आर्थिक अधिकार मिलना चाहिए। इस प्रकार यह व्यक्तिवाद और साम्यवाद दोनों से विपरीत सिद्धान्त है। व्यक्तिवाद, व्यक्ति को सर्वाधिक महत्व देता है तथा राज्य के कार्य क्षेत्र को संकुचित करना चाहता है, पर समष्टिवाद मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन पर राज्य के नियन्त्रण का प्रतिपादन करता है।

2. श्रमिक संघवाद :-

सी. ई. एम. जोड ने श्रमिक संघवाद को इस प्रकार परिभाषित किया है, "श्रमिक संघवाद सामाजिक शास्त्र का वह दृष्टिकोण है जो श्रमिक संघ के संगठन को नये समाज का आधार स्तम्भ और उस समाज की स्थापना का साधन दोनों मानता है"।⁸ इस प्रकार श्रमिक संघवाद उपभोक्ता की अपेक्षा उत्पादक को अधिक महत्व देता है तथा सामाजिक स्वरूप को बदलने के साधन के रूप में आम हड़ताल और सीधी कार्यवाही के अन्य तरीकों को महत्त्व देता है।

3. साम्यवाद :-

साम्यवाद का वास्तविक स्वरूप क्या है, इस विषय में समाज दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद है। साम्यवाद की प्रारम्भिक दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करने का श्रेय कार्ल मार्क्स को है और आगे चलकर एंजिल्स, ट्रोटेस्की, लेनिन, स्टालिन तथा माओत्सेतुंग ने इस शक्तिशाली विचारधारा को समाज में मूर्त रूप देने का प्रयत्न किया।

प्रत्येक युग की सभ्यता उस युग के आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली वर्ग का इतिहास है। उदाहरण के लिए, मार्क्स के अनुसार, संसार से दास प्रथा का अन्त इसलिए नहीं हो गया कि जनता के विचार इस प्रथा के प्रतिकूल हो गये, वरन् इसलिए कि यान्त्रिक आविष्कारों के कारण पूँजीपतियों को मशीनों के रूप में लोहे के बने हुए निर्जीव दास मिल गये तथा मनुष्यों को दास बनाने की नहीं, वरन् केवल श्रमिक बनाने की आवश्यकता रह गयी। मार्क्स ने कहा कि नैतिकता व धर्म पूँजीपतियों के हाथों के वे साधन हैं जिनसे वे श्रमिकों को अपने भाग्य पर सन्तोष बनाये रखना सिखाते हैं। इतिहास उदाहरण है कि आर्थिक परिवर्तनों से समाज के संगठन में भी परिवर्तन आ जाता है। इस दृष्टि से मानव इतिहास को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है इनमें से प्रथम तीन युग बीत चुके हैं, चौथा चल रहा है और पाँचवाँ अभी आने को है। ये पाँच युग हैं: (1) आदिम साम्यवादी युग, (2) दासत्व-युग, (3) सामन्तवादी युग, (4) पूँजीवादी युग और (5) समाजवादी या साम्यवादी युग।

1. आदिम साम्यवादी युग :—

इस युग में खेती या पशु पालन नहीं होता था तथा लोग फल, फूल और शिकार पर जीवन निर्वाह करते थे। संयुक्त श्रम प्रणाली के कारण उत्पादन के साधनों पर तथा उनसे मिलने वाली वस्तुओं पर सबका अधिकार होता था। उस समय उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार की धारणा का अभाव था। इसलिए वर्ग—प्रथा न थी और न किसी प्रकार का शोषण ही था।¹⁷

2. दासत्व युग :—

आदिम साम्यवादी युग के बाद खेती और पशु—पालन का युग आया। इसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति का आविर्भाव हुआ। सम्पत्ति कुछ लोगों के हाथों में अधिक—अधिक एकत्र होने लगी तथा सम्पत्ति के अधिकारी अल्पसंख्यक वर्ग ने बहुसंख्यक वर्ग को अपना दास बना लिया। दास और मालिक, शोषित और शोषक तथा विपन्न और सम्पन्न का भेद यहीं से प्रारम्भ हुआ।

3. सामन्तवादी युग :—

इस युग में उत्पादन के साधनों पर सामन्तों का अधिकार होता था। गरीब अर्द्ध—दास—किसान इन सामन्तों के अधीन थे। उत्पादन का कार्य इन्हीं भूमिविहीन किसानों से करवाया जाता था जिसके बदले में उन्हें जीवन निर्वाह के लिए भूमि मिलती थी। निजी सम्पत्ति की धारणा इस युग में और प्रबल हुई और सामन्तों द्वारा किसानों का शोषण भी प्रायः दासत्व—युग की भाँति ही होता था। इन दो वर्गों में संघर्ष और भी स्पष्ट था।¹⁸

4. पूँजीवादी युग :—

चौथा युग पूँजीवाद का युग है जिसका आविर्भाव औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप मशीनों का आविष्कार हुआ, उत्पादन बढ़ा, श्रमिकों में बेकारी फैलने के कारण वेतन की दरें घटी तथा पूँजीपतियों को श्रमिकों के शोषण का अवसर मिला। इस प्रकार समाज में दो स्पष्ट वर्ग बन गये जिन्हें हम पूँजीपति वर्ग

व सर्वहारा वर्ग कहते हैं। इन दोनों वर्गों का परस्पर संघर्ष मालिक और दास तथा सामन्त और किसान के संघर्ष से कहीं विकट और कटु है।

5. साम्यवादी युग :-

पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच संघर्ष में अन्ततः सर्वहारा वर्ग की ही विजय होगी जिसके कारण सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र स्थापित हो जायगा। यह युग सभी प्रकार से वर्ग-विहीन, राज्य विहीन और शोषणरहित होगा। वितरण लोगों के परिश्रम और योग्यता के अनुसार न होकर उनकी आवश्यकता के अनुसार होगा।

इस प्रकार मार्क्स के अनुसार ये सभी सामाजिक युग परिवर्तन एक भौतिक प्रभाव उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन के ही कारण हुए हैं और होंगे। यही मार्क्सवादी इतिहास की भौतिक व्याख्या या ऐतिहासिक भौतिकवाद है।

5.2: समाजवाद एवं वेदान्तिक समाजवाद :-

स्वामी विवेकानंद के वेदान्तिक समाजवाद का स्रोत उनका वेदान्त-दर्शन है। वेदान्त के अनुसार सत्, ब्रह्म अथवा वास्तविकता अपरिवर्तनीय है। इसके विपरीत जगत् सापेक्षिक, परिवर्तनशील होने से मिथ्या कहा गया है। समाज भी नित्य परिवर्तित होते हुए विकसित होता है। ऐसे में वेदान्त-दर्शन एवं इससे सम्बन्धित किसी सिद्धांत जैसे वेदान्तिक समाजवाद को उस पर आधारित कैसे माना जा सकता है ? जो लोगों की भौतिक स्थिति को उन्नत बनाने में सचेष्ट है। यदि वेदान्त के अनुसार जगत् मिथ्या है, तो ऐसी कौन सी नैतिक बाध्यता है, जो इसे समाज की 'सामाजिक एवं आर्थिक' स्थिति को परिवर्तित करने के लिए प्रेरित करे। इसलिए प्रत्येक वेदान्ती के समक्ष वेदान्तिक समाजवाद पर विचार करने के पूर्व वेदान्तिक नीति-दर्शन की समस्या उपस्थित होती है। यदि जगत् में मानवों का सामूहिक जीवन सदैव शुभ-अशुभ मिश्रित एवं परिवर्तनीय है, तो उनके कल्याण के लिए नीति-दर्शन या नैतिकता की क्या आवश्यकता है? यह संशय वेदान्त की गलत धारणा के कारण उत्पन्न होते हैं। वेदान्ती संसार से सन्यास पर उतना जोर नहीं देते, जितना वे आत्मत्याग पर देते हैं। स्वामी विवेकानंद के अनुसार "अद्वैत वेदान्त वैयक्तिक एवं सामाजिक

दोनों प्रकार की नैतिकता का सुदृढ़ आधार है। केवल अद्वैत वेदान्त ही नैतिकता की सही व्याख्या करता है”।¹⁹ अस्तित्व की एकता का अद्वैतवादी सिद्धांत ही यह बताता है कि ‘किसी को कष्ट देकर तुम स्वयं को ही कष्ट देते हो।

● नैतिकता का आधार के रूप में अद्वैत वेदान्त :—

यदि अद्वैत वेदान्त पर नैतिकता को आधारित माना जाये तो फिर नैतिक व्यवहार सम्बन्धी एक अन्य समस्या उत्पन्न होती है। नैतिकता तो बहुल मानवीय सम्बंधों को नियमित करती है। अद्वैतवादी नैतिकता में बहुलता की क्या स्थिति है ? विवेकानंद को इस तथ्य की अवगति है। उनके अनुसार शुभ सम्बन्धी आदर्श अथवा नैतिकता को इसी आधार पर परिभाषित किया है कि आत्मा के शाश्वत आलोक में सम्पूर्ण ब्रम्हांड एक है। एकता पर ही विविधता निर्भर रहती है। आनुभविक जगत से व्यक्ति जितना ऊपर उठता है, उतना ही वह शुभ, अशुभ, देश—काल आदि द्वंद्वात्मक जगत से ऊपर उठ जाता है। इसलिए अद्वैत की ओर प्रस्थान में द्वैत का अपरिहार्य तत्त्व विद्यमान है। यदि हम द्वैत को नहीं त्याग सकते तो हमें अद्वैत से भी चिपके रहना चाहिए। विवेकानंद के अनुसार “जितना हम पूर्ण से अपने को अलग करते हैं, उतना ही ज्यादा दुःखी होते हैं”।²⁰ इसी अद्वैती सिद्धांत से हम नैतिकता का आधार प्राप्त करते हैं।

अद्वैत वेदान्त पर आधारित नैतिकता संभव है, यह सामाजिक एवं समाज से पृथक् दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों के आचार का नियमन कर सकती है। मानव जीवन में उसकी यही उपयोगिता उसकी सार्थकता का मापदण्ड है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार कोई भी दर्शन चाहे कितना ही उच्च क्यों न हो, यदि उसे व्यवहार में न उतारा जा सके, यदि वह विभिन्न योग्यता तथा स्वभाव वाले व्यक्तियों को सहायता न पहुंचा सके तो उसका मूल्य बहुत कम है। अद्वैत वेदान्त पर आधारित यही नैतिकता स्वामी विवेकानंद के समाज—दर्शन का आधार है।

● समाज—परिवर्तन में अद्वैत वेदान्त :—

स्वामी विवेकानंद के पूर्व अद्वैत वेदान्त के मूल तत्त्व आधृत समाज—दर्शन का विकास नहीं किया। अपनी भारत परिवर्जना के दौरान स्वामी विवेकानंद ने भारतीय समाज की स्थिति को बहुत करीब से देखा एवं समझा था। किन्तु उन्होंने अन्य समाज सुधारकों की भांति धर्म को इस स्थिति के लिए जिम्मेदार नहीं माना, बल्कि वे तो अद्वैत वेदान्त के सभी आत्माओं की एकता के तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत द्वारा समाज में समता स्थापित किये जाने पर जोर देते रहें। समाज—परिवर्तन में धर्म की इस व्यावहारिक भूमिका के लिए धर्म को केवल सैद्धान्तिक सीमाओं में आबद्ध किये जाने के वह सदा विरोधी रहें। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि— “किसी धर्म के सिद्धांत कितने ही उदात्त एवं उनका दर्शन कितना ही सुगठित क्यों न हो, जब तक वह कुछ ग्रंथों और मतों तक ही परिमित है मैं उसे नहीं मानता”।²¹ स्वामी विवेकानंद जी भारतीय समाज में प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने एक आदर्श समाज का चित्रण किया। समाज को व्याख्यायित करते हुए स्वामी जी ने कहा है कि “वही समाज सबसे श्रेष्ठ है, जहाँ सर्वोच्च सत्य को कार्य में परिणत किया जा सकता है”।²²

उनका समाज—दर्शन विभिन्न मूल्यों से परिपूर्ण है। उनके समाज—दर्शन में जहाँ एक ओर हमें मानव—सेवा, समाज—सेवा और देश—सेवा का विशद विवेचन मिलता है, वहीं दूसरी ओर आत्म—लाभ कर वैयक्तिक मोक्ष प्राप्ति का मार्ग निर्देशन भी प्राप्त होता है।

संसार ज्यों—ज्यों आगे बढ़ रहा है त्यों—त्यों जीवन की सामाजिक समस्या गहरी और व्यापक हो रही हैं। उस पुराने जमाने में जब कि समस्त जगत् के अखंडत्वरूप वेदान्ती सत्य का प्रथम आविष्कार हुआ था, तभी से उन्नति के मूल मन्त्रों और सार तत्वों का प्रचार होता आ रहा है। जब तक सारे संसार को साथ—साथ उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ाया जाएगा, तब तक संसार के किसी भी भाग में किसी भी प्रकार की उन्नति संभव नहीं हैं और दिन—प्रतिदिन यह और भी स्पष्ट हो रहा है कि किसी प्रश्न की मीमांसा सिर्फ जातीय, राष्ट्रीय या किन्हीं संकीर्ण भूमियों पर नहीं टिक सकती। हर एक विषय को तथा हर एक भाव को तब तक बढ़ाना चाहिए, जब तक उसमें सारा संसार न आ जाये। हर एक आकांक्षा को तब तक बढ़ाते

रहना चाहिए, जब तक वह समस्त मनुष्य जाति को ही नहीं वरन् समस्त प्राणी जगत् को आत्मसात् न कर लें। वेदान्त दर्शन ही ऐसी समग्रता प्रदान करता है। इसका समाज में विनियोग आवश्यक है। इस सन्दर्भ में समाज—दर्शन की सामान्य अवधारणा की समझ भी आवश्यक है।

- **समाज—दर्शन एवं वेदान्तिक समाज—दर्शन :—**

समाज—दर्शन दर्शनशास्त्र की एक महत्वपूर्ण शाखा है। समाज—दर्शन व्यक्ति और समाज के विभिन्न सम्बंधों, विविध सामाजिक क्रिया—कलापों, विविध सामाजिक—सिद्धांतों और विविध सामाजिक—गतिविधियों का सम्यक्—रूपेण अध्ययन करता है। समाज सतत् परिवर्तनशील मानव समाज का सम्यक्—रूपेण मनन व चिन्तन करता है। समाज—दर्शन का अध्येता समाज को दार्शनिक दृष्टि से देखता है तथा वह यथार्थ और मानवीय समाज में अंतर्भूत संबंधों का अन्वेषण करता है। वह उन महत्वपूर्ण नियमों की खोज करता है, जो समाज और मानवीय संबंधों में निहित हैं और साथ ही ऐसे आदर्शों और मूल्यों की स्थापना करने का प्रयास करता है, जो इन संबंधों को सुदृढ़ और स्थायी बनाते हैं। “यह एक शाश्वत और निर्विवाद सत्य है कि समाज सदैव सतत विकासशील रहता है और इस विकास क्रम में नवीन मूल्य एवं नूतन आदर्श, प्राचीन मूल्यों व आदर्शों का स्थान ग्रहण करते हैं”²³ परिणाम स्वरूप इन सतत परिवर्तनशील मूल्यों, आदर्शों व सिद्धांतों का अध्ययन करने के लिए वेदान्तीय समाज—दर्शन की आवश्यकता अनुभव की जाती है।

समाज—दर्शन, वस्तुतः समाज, सामाजिक मूल्यों व आदर्शों तथा सामाजिक जीवन के तात्त्विक पक्षों का अध्ययन किया जाता है। इन उच्चतम आदर्शों, सर्वोच्च मूल्यों सर्वमान्य सिद्धांतों की स्थापना करना एवं तदनुरूप समाज के निर्माण की प्रेरणा देना समाज—दर्शन का प्रमुख कार्य क्षेत्र है।

समाज शब्द का जिक्र करते ही अमूमन मानवीय समाज ही अस्तित्ववान होता है। मनुष्य का मनुष्य से संबन्ध परिवार, मित्र या अन्य सामाजिक संस्थाओं के रूप में उभरकर

सामने आता है। मनुष्य समाज में नाना प्रकार के संस्थानों से बँधा हुआ है यथा माँ-बेटा, माँ-बेटी, पिता-पुत्र, पिता-पुत्री, भाई-बहन इत्यादि। मनुष्य का स्वभाव एवं उसकी आवश्यकताएँ उसे इन सम्बन्धों में रहने को बाध्य करती है। इन सम्बन्धों से पृथक रहकर वह अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता। इन सम्बन्धों के आधार पर उसका व्यवहार एवं आचार विचार होता है। इसी व्यवस्था का नाम समाज है।

- **मानव की मूलभूत एकता एवं समस्त अस्तित्व की एकता :-**

समस्त समाज में व्यक्ति का स्थान महत्वपूर्ण होता है। उसके स्थान एवं भूमिका से ही समाज की प्रगति की दिशा निश्चित होती है। अद्वैत वेदांत दर्शन समस्त अस्तित्व की एकता का उद्घोष करता है। इसकी निष्पत्ति यह है कि मानव मूलतः एक है। इस एकता का आधार मानव का दिव्य स्वरूप है, जो सभी प्रकार के अनुभवों से परे है, जिस पर किसी प्रकार के बंधन लागू नहीं किये जा सकते हैं। अद्वैत वेदान्त व्यक्ति-स्वतंत्र्य का उद्घोष करता है। भारत में वेदान्त की सामाजिक एकता एवं स्वतंत्रता की मूलभूत शिक्षाओं पर कभी भी समाज-दर्शन का भवन नहीं खड़ा किया गया। यह सत्य है 'सामाजिक व्यवस्था के लिए लोगों के मध्य पारस्परिक कार्य विभाजन एवं नियत भूमिका का महत्वपूर्ण योगदान होता है। लेकिन इसने नकारात्मक रूप से सामाजिक एकता के आदर्श को खंडित करके सामाजिक विखंडन का मार्ग प्रशस्त किया। 'मानव की एकता' के वेदान्तिक आदर्श से समझौता करते हुए दर्शन एवं समाज के क्षेत्र में 'पारमार्थिक' एवं 'व्यवहारिक' भेद उपस्थित करके, वेदान्त की इन शिक्षाओं को भारतीय समाज में कभी भी लागू नहीं किया। सर्वप्रथम स्वामी विवेकानंद ने अपने समाज-दर्शन में वेदांत की इन शिक्षाओं को समाज में व्यवहृत करने का प्रयास किया। उन्हें 'तत्त्वमसि' जैसे उपनिषदों के महावाक्य में भेद भाव रहित नवीन समाज व्यवस्था के बीज दिखाई दिये।

समाज की संरचना मानव-स्वभाव के आधार पर की जाती है। मनुष्य एक विचारशील चेतन प्राणी है। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो शारीरिक क्रियाओं के साथ मानसिक क्रियाओं में भी रत रहता है, क्योंकि वह बुद्धि संपन्न प्राणी है। मानव रूप में वह ज्ञान प्राप्त करता है,

इच्छाएं करता है, संकल्प-विकल्प करता है और अनेक निर्माण कार्य और विध्वंस करता है। मनुष्य को अपनी जैविक आवश्यकतों की पूर्ति करने में समाज से सहायता मिलती है, समाज में रहकर मनुष्य बोलना सीखता है, भाषा का प्रयोग करता है, चिन्तन करना सिखता है, वह जितने ही बड़े समूह के साथ रहता है, उतना ही बड़ा वह कर्म करता है। भारतीय शास्त्रों व धर्मग्रंथों में भी समाज की संरचना, उसकी प्रकृति तथा उसके महत्व का विवेचन किया गया है। हितोपदेश में कहा गया है— “गतानुगतिको लोक” : हितोपदेश – 1/10

● समाजवाद एवं शिक्षा :-

स्वामी जी का ऐसा मानना था कि— शिक्षा का केवल व्यक्तिगत ही नहीं, सामाजिक उद्देश्य भी बहुत महत्वपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति को एक ऐसे राष्ट्र का नागरिक बनना है, जहाँ धार्मिक और सांस्कृतिक एकता हो, आपस में सद्भाव और सहनशीलता हो। सत्य, प्रेम, अहिंसा, धर्म और शांति ये पांच मानवीय मूल्य हैं। इन मूल सिद्धांतों पर ही विश्व की विभिन्न संस्कृतियाँ एवं धर्म आधारित हैं। विवेकानंद जी ने वेदान्त की परम्परागत शास्त्रीय व्याख्या से पृथक एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर उसे व्यवहार के धरातल पर उतारकर उसे जन जीवन योग्य बनाया। वेदांत के उपदेशों को एक साधारण मनुष्य अपने जीवन में कैसे अपना सकता है, इसके लिए विवेकानंद जी ने कहा कि प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन के प्रत्येक कार्य में पवित्रता, निश्छलता, निष्कपटता, सत्यता एवं स्वार्थहीनता के गुण समाहित करना चाहिए। वेदांत केवल सन्यास ग्रहण करके, घर-समाज को छोड़कर ईश्वर-प्राप्ति का आदेश नहीं देता। बल्कि इस आदर्श को गृहस्थ व समाज के प्रति निष्ठापूर्वक रहकर ही प्राप्त किया जा सकता है। स्वामी विवेकानंद जी ने वेदान्तीय विचार परम्परा के व्यावहारिक प्रयोग में ही उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी की दार्शनिक एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान खोजा।

भारत के व्यवहारिक समस्याओं के प्रति स्वामी जी की दृष्टि मूलतः आध्यात्मिक थी। भारत की आम जनता के लिए वह नवीन आर्थिक व्यवस्था एवं नवीन समाज-व्यवस्था चाहते थे। उन्हें इस तथ्य की भली भांति अवगति थी कि स्वतंत्रता एवं सामाजिक न्याय के आदर्शों से प्रेरित राजनैतिक क्रान्ति, आम जनता के लिए स्वतंत्रता एवं सामाजिक न्याय को लाने में

विफल हुई है। इन आदर्शों की प्राप्ति का उद्यम जीवन के किसी ऐसे गहरे तत्व या भाव द्वारा प्रेरित होने पर जीवित रहता है, जो किसी तुच्छ कामना, शक्ति की आकांक्षा एवं व्यक्तियों या समूह के आपसी झगड़ों में भी जीवित रहे। वे क्रांतिकारी से क्रांतिकारी राजनैतिक विचारधारा से भी अधिक क्रांतिकारी आदर्श चाहते थे। अपने ज्ञानयोग पर दिये व्याख्यान में वे इसी विचार को प्रस्तुत करते हैं— “सुधार के लिए हिंसक उपायों का अंत सुधार की ही समाप्ति में हो जाता है”। वे सुधार में नहीं स्वाभाविक विकास में विश्वास करते थे। वे स्वयं कहते थे कि “मैं सुधार में विश्वास नहीं करता, मैं विश्वास करता हूँ स्वाभाविक उन्नति में”।²⁴ स्वामी जी समाज में आमूल सुधार लाना चाहते थे, इसके लिए उनकी बिल्कुल रचनात्मक योजना थी। स्वामी विवेकानंद एक अलग ही प्रकार के समाज सुधारक थे। वे मानते थे कि किसी भी क्रांति के पूर्व मानसिक क्रांति अनिवार्य है। यह केवल आत्म जागरण से ही संभव है। उसके लिए वास्तविक क्रांति आध्यात्मिक एवं नैतिक क्रांति का स्रोत उन्होंने अद्वैत वेदांत में प्राप्त किया।

● समाजवाद एवं व्यावहारिक वेदांत :—

समकालीन भारतीय दर्शन में समाज को एक व्यवहारिक प्रयोगशाला के रूप में जाना गया है। स्वामी विवेकानंद ने वेदांत की व्यावहारिकता को सामाजिक सम्बन्धों से जोड़कर जीवन का सर्वांगीण दर्शन प्रस्तुत किया। स्वामी विवेकानंद के जीवन एवं दर्शन पर वेदांत का अत्यंत गहरा प्रभाव पड़ा। उनका जीवन दर्शन उपनिषद पर आधारित है। स्वामी विवेकानंद ही एकमात्र ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने अद्वैत वेदांत दर्शन की यथार्थ और समयानुकूल व्यावहारिक व्याख्या कर उसे राष्ट्रीय एवं सामाजिक धारा से जोड़ा। स्वामी विवेकानंद के सम्मुख अनेक ज्वलंत समस्याएं थीं, जिनमें—

“सर्वप्रथम धर्म की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करना जो सामान्य मानव को ग्राह्य हो। द्वितीय, हिन्दू धर्म के प्रति पुनः श्रद्धा विकसित करना, जो लगभग बौद्ध—जैन इत्यादि धर्मों के कारण सुप्तावस्था में थी। तृतीय भारतीय नागरिकों का, भारतीय मानवों के आत्म गौरव की भावना को पुनः प्रेरित करना जिससे विश्व के नक्शे पर भारतवर्ष का नाम फिर से चमकता रहे। स्वामी

विवेकानंद वेदांती थे। अतः उपरोक्त समस्याओं के समाधान हेतु व्यावहारिक वेदांत को उन्होंने साधन बनाया”²⁵

स्वामी विवेकानंद ने वेदांत की परम्परागत शास्त्रीय व्याख्या से पृथक् एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर उसे व्यवहार के धरातल पर उतार उसे जन जीवन के योग्य बनाया। स्वामी विवेकानंद का विचार था कि जब तक वेदांत को हम व्यावहारिक जीवन में नहीं उतारते, तब तक समाज कल्याण संभव नहीं है। कारण है कि उनका दर्शन ‘व्यावहारिक वेदांत’ कहलाता है और इसी व्यावहारिक वेदांत पर ही उनका ‘समाज-दर्शन’ आधारित है। उन्होंने वेदांत के सैद्धांतिक विचारों को प्रचारित एवं प्रसारित अवश्य किया किन्तु व्यावहारिकता की शिक्षा भारतवासियों को ही दी जिससे भारतीय समाज का कल्याण हो सके। रामधारी सिंह दिनकर जी के शब्दों में “विवेकानंद वह सेतु है, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानंद वह समुद्र है, जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान सब के सब समाहित होते हैं”²⁶

● भारत की मूल आध्यात्मिक प्रकृति एवं समाजवाद :-

विकास स्वामी विवेकानंद ने अपने व्याख्यानों में उच्च आध्यात्मिक आदर्शों का उल्लेख किया है, परन्तु इसके साथ ही साथ स्वामी विवेकानंद अपने देशवासियों के तात्कालिक दुरावस्था से भी अनभिज्ञ नहीं थे। भारतवर्ष में जब भयानक अकाल पड़ा था, तो सहस्रों और लाखों हिन्दू क्षुधा से पीड़ित होकर मर गये पर इसाईयों ने उनके लिए कुछ नहीं किया। कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त दर्शन के परिप्रेक्ष्य में स्वामी विवेकानंद का समाज-दर्शन विभिन्न प्रकार के मूल्यों से परिपूर्ण है। स्वामी विवेकानंद जी मूलतः समाजशास्त्री नहीं थे, तथापि वे आध्यात्मिक नींव द्वारा समाज का क्रांतिकारी निर्माण करना चाहते थे। स्वामी विवेकानंद के विचार एवं सुझाव वर्तमान में भी प्रासंगिक एवं उपयोगी है, क्योंकि 18वीं सदी में उन्होंने भारतीय समाज की जिन समस्याओं यथा बाल विवाह, अशिक्षा, निर्धनता, अस्पृश्यता, इत्यादि से अवगत कराया था वे सभी आज भी

समाज में विद्यमान है। भारतीय समाज की इन व्यावहारिक समस्याओं का निराकरण स्वामी विवेकानंद के अद्वैत वेदांत दर्शन पर आधारित समाज दर्शन द्वारा किया जा सकता है।

● वेदान्तिक समाजवाद को समाज में व्यवहृत करने का साधन: सेवायोग :—

स्वामी विवेकानंद के अनुसार वेदान्तिक समाजवाद को समाज में व्यवहृत करने का साधन, सेवायोग है। यह सेवा का सिद्धान्त है, सेवायोग है। पहले सेवा एवं सेवायोग में कुछ अंतर स्थापित कर लेना आवश्यक है। ये दोनों विषय एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् हैं। हृदय की परिपूर्णता, प्रेमातिरेक, सहानुभूति तथा दया से ही सेवा की उत्पत्ति होती है। स्वामी विवेकानंद सहानुभूति—सम्पन्न थे और उनकी सहानुभूति निश्चेष्ट नहीं, बल्कि अत्यन्त सक्रिय थी। ऐसे कई दृष्टान्त हैं, जब उन्होंने दुर्भिक्ष — राहत—कार्यों में आत्मनियोग किया था। उन्होंने रानी रासमणि के दामाद और अपने भक्त मथुर मोहन विश्वास को भूख—पीड़ितों के लिए भोजन—वस्त्र की व्यवस्था करने और एक बार तो बकाया लगान तक माफ कर देने के लिए प्रेरित किया था। एक महत्त्वपूर्ण बात तो यह भी है कि ऐसे देवमानवों का इस संसार में अवतरण मानवता के कल्याण हेतु ही होता है। श्रीरामकृष्ण देव के अनेक अनुयायी उन्हें ईश्वरावतार मानते हैं। इस मान्यता का कम से कम इतना अर्थ तो जरूर निकलता है कि श्रीरामकृष्ण का कोई भी अनुयायी इस बात से इनकार नहीं करता कि उनका जीवन पूर्णतः मानवता की सहायता को ही समर्पित था, क्योंकि परम्परागत रूप से मानव का हित करना ही ईश्वरावतार का मुख्य उद्देश्य माना जाता है। अतः स्वामी विवेकानंद द्वारा 'सेवा—आरम्भ' का विवेचन करना अनावश्यक है।

परन्तु 'सेवायोग' पर आते ही आपत्तियाँ उठने लगती हैं। सेवायोग का अर्थ होता है — भक्ति, ज्ञान तथा योगादि की भाँति ही यह भी आत्मानुभूति का एक प्रभावी मार्ग है। निःसन्देह, सेवायोग वर्तमान युग की देन नहीं है। भारत में कर्मयोग के नाम से यह बहुत पहले से ही ज्ञात है। लेकिन यह बात सही है कि स्वामी विवेकानंद ने अपने उपदेशों में इस पर विशेष ध्यान दिया है। भारत एवं सम्पूर्ण—विश्व को दी गई रामकृष्ण संघ की कर्मनीति में तथा इसके अनुगामियों के प्रशिक्षण हेतु उनके द्वारा निश्चित किये गये आध्यात्मिक अनुशासनों में सेवायोग

शीर्षस्थानीय है। इसे वे आवश्यक तथा वर्तमान युग के लिए विशेष उपयुक्त समझते थे। स्वामी विवेकानंद के पाश्चात्य देशों से लौटने पर कई युवकों ने रामकृष्ण संघ में प्रवेश लिया था। उनमें से एक (जो स्वामी जी के शिष्य थे) कर्मयोग को स्वामी जी का विशेष सन्देश कहकर प्रचार करते थे। परन्तु स्वामी जी के अन्य शिष्यगण उसे सही नहीं मानते थे। वे सोचते थे कि ज्ञान, भक्ति आदि ही स्वामी जी को विशिष्ट अभिष्ट है। अन्त में, स्पष्टिकरण हेतु वे लोग स्वामी जी के पास गये। स्वामी जी ने भी स्वीकार किया कि कर्मयोग को वे वर्तमान युग के लिए विशेष उपयुक्त समझते हैं।²⁷

● श्रीरामकृष्णदेव एवं सेवायोग :—

विचारणीय बात यह है कि यह 'सेवायोग' श्रीरामकृष्ण देव द्वारा समर्थित था या नहीं ? स्वामी विवेकानंद ने सेवायोग के प्रवर्तन के लिए प्रेरणा क्या अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण से प्राप्त की थी या किसी अन्य स्रोत से अथवा क्या यह उनके अपने मन की उपज थी ? श्रीरामकृष्ण द्वारा समर्थित होने में सन्देह इस समस्या को और अधिक वास्तविक बना देता है। यह भी कहा जाता है कि अपने सम्पर्क में आने वालों में से किसी को भी उन्होंने सेवा को आत्मानुभूति के साधन के रूप में ग्रहण करने को नहीं कहा था, बल्कि ऐसे कई उदाहरण हैं, जब उन्होंने इसका खण्डन ही किया था। यह तर्क देना काफी नहीं कि श्रीरामकृष्ण के द्वारा किया गया सेवाकार्य तथा मानवता की सेवा के लिए अपने कुछ शिष्यों को उनके द्वारा दिया गया आदेश अपने आप में उनके समर्थन का प्रमाण है। हम जानते हैं कि श्रीरामकृष्ण एवं उनके शिष्यों ने कर्मयोगेतर आध्यात्मिक साधनों द्वारा आत्मानुभूति प्राप्त की थी। आत्मानुभूति सम्पन्न लोग अपनी इच्छानुसार कुछ भी करने को स्वाधीन होते हैं। नये साधकों को उनका अनुकरण नहीं करना चाहिए। प्रज्ञावान लोगों के लिए जो ठीक है, वह अज्ञानियों के लिए ठीक नहीं भी हो सकता है। अतः केवल श्रीरामकृष्ण एवं उनके शिष्यों का दृष्टान्त यह प्रमाणित नहीं करता कि श्रीरामकृष्ण ने सेवायोग का उपदेश दिया था। इसके लिए हमें अन्य प्रमाण प्रस्तुत करने होंगे। एक साधारण व्यक्ति के अन्दर भी थोड़ी बहुत सहानुभूति जरूर रहती है और तदनुसार वह सेवा भी कर सकता है। अतः इस दृष्टि से श्रीरामकृष्ण तथा किसी नव-साधक के बीच भेद प्रकारगत नहीं, केवल परिमाणगत है। यदि

केवल सहानुभूति ही श्रीरामकृष्ण के लिए सेवा की एकमात्र प्रेरणा रही हो, तो नव-साधक के लिए भी वैसा ही होगा। परन्तु क्या श्रीरामकृष्ण और हमारी सहानुभूति में केवल मात्रागत भेद ही है ?

श्रीरामकृष्ण देव दया-भावना की तीव्र भर्त्सना करते थे। उनका हर कार्य यद्यपि बाह्य रूप से दया जैसा लगता था, पर वह दया से नहीं अपितु प्रेम से प्रेरित होता था। जब तक हम मानव में अन्तर्निहित दिव्यता की अनुभूति नहीं कर लेते, तब तक हम मानव के प्रति श्रीरामकृष्ण का दृष्टिकोण नहीं अपना सकते। हम दीन-दुखियों, आर्त-पीड़ितों को मुख्यतः मानव के रूप में ही देखते हैं, जबकि वे उन्हें प्रधानतः ईश्वर के रूप में देखते थे। मानवता के प्रति उनकी तथा हमारी सहानुभूति में केवल आभासी समानता है। इन महान् आचार्यों की उच्च स्थिति का स्वामी जी ने बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है, “कई लोग मुक्त हो सकते हैं, पर सभी आचार्य (जगद्गुरु) नहीं बन सकते। मुक्त पुरुष को जगत् स्वप्नवत् मालूम होता है, परन्तु आचार्य को दो अवस्थाओं के बीच अपना स्थान रखना पड़ता है। उन्हें यह बोध रहना चाहिए कि जगत् सत्य है, अन्यथा वे उपदेश ही क्यों देंगे ? फिर यदि उन्होंने जगत् की अनुभूति स्वप्नवत् न की हो तो वे एक साधारण मनुष्य की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं हैं, फिर वे शिक्षा ही क्या देंगे ?” अतः श्रीरामकृष्ण का दृष्टान्त इस बात का पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि स्वामी जी का सेवायोग उनसे ही उत्पन्न है।²⁸

सेवायोग के श्रीरामकृष्ण के उपदेशों से भिन्न होने की आपत्ति कर्म के प्रकारगत भेद पर आधारित है। सभी कर्मों के विरुद्ध आपत्तियाँ नहीं उठायी जाती हैं। कर्म चार प्रकार के हो सकते हैं— (1) भौतिक सहायता करना : जैसे— भोजन, वस्त्र, आवास, दवा, रुपये—पैसे आदि। (2) जीवन-रक्षा करना। (3) बौद्धिक ज्ञान प्रदान करना। (4) आध्यात्मिक ज्ञान देना। सनातन हिन्दू धर्म के अनुसार प्रथम तीन प्रकार की सेवाएँ गृहस्थों का विशेष कर्तव्य है, जबकि अन्तिम कार्य सन्यासियों का है। सन्यासियों को प्रथम तीन कार्यों में संलग्न नहीं होना चाहिए। रामकृष्ण मिशन के लौकिक सेवाकार्यों में संलग्न होना, सनातनी संन्यासी के अनुसार संन्यास परम्परा का उल्लंघन है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सनातन पन्थी यह चाहते हैं कि सन्यासियों को पाषाण-हृदय होना चाहिए और उन्हें करुण-क्रन्दनों की ओर से कान ढँक

लेना चाहिए। यदि किसी संन्यासी को कोई भूखा मिले और यदि उसके पास साधन हो, तो उसे उसकी सहायता जरूर करनी चाहिए या यदि किसी का जीवन खतरे में हो, तो उसकी रक्षा जरूर करनी चाहिए। ऐसे आकस्मिक सेवाकार्य तो उचित एवं आवश्यक है, परन्तु संन्यासियों को ऐसे सेवाकार्यों को अपना प्रमुख कार्य बनाना निषिद्ध है। उनका मुख्य कार्य तो केवल ध्यान—धारणा ही होना चाहिए। सतत ऐहिक सहायता का कार्य गृहस्थों पर छोड़ दिया जाना चाहिए। फिर ऐसा भी कहा जाता है कि जब किसी व्यक्ति में, चाहे वह गृहस्थ ही क्यों न हो, ईश्वरानुभूति की तीव्र इच्छा जागृत हो, तो उसे सर्व प्रकार के बाह्य क्रिया—कलाप त्यागकर पूरी तौर से पूजा, जप, ध्यान आदि में तल्लीन हो जाना चाहिए। सेवायोग के विरुद्ध आपत्ति उठाई जाती है कि यह ऐसे विशेष प्रकार के धर्मपरायण लोगों को ध्यान—धारणमय जीवन से दूर खींच ले जाता है। ऐसे लोग यदि धर्मप्रचार करें, तो उसके विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं उठाई जाती है; परन्तु उन उपदेशों का ऐहिक कार्यों में प्रयोग उनकी आध्यात्मिकता के लिए हानिकारक समझा जाता है।²⁹

● सेवायोग का समीक्षात्मक विमर्श :—

स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रचारित सेवायोग के विरुद्ध उठायी जाने वाली दो आपत्तियाँ मुख्य हैं — (1) यह श्रीरामकृष्ण के उपदेशों द्वारा समर्थित नहीं है। (2) ऐहिक सेवा—कार्यों में संलग्न होना संन्यासियों तथा साधकों का धर्म नहीं है। दूसरी आपत्ति प्राचीन काल से चली आ रही ज्ञान एवं कर्म के बीच का मतभेद मात्र है, जिसका खण्डन भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में सदा के लिए कर दिया है; भले ही अब तक यह समाधान सबको ग्राह्य नहीं हो सका है, जो हो जाना चाहिए था। खैर, यहाँ इसके खण्डन की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो प्रथम आरोप का खण्डन करना ही हमारा मुख्य उद्देश्य है।

यहाँ हम कुछ पुरानी घटनाओं का पुनरावलोकन करेंगे। सेवायोग के बारे में श्रीरामकृष्ण का क्या मनोभाव था ? इस विषय में दो भिन्न विचारधाराएँ हैं। उनके शिष्यों के अनुसार उन्होंने कभी भी सेवायोग का उपदेश नहीं दिया, बल्कि ऐसे कई दृष्टान्त हैं, जब उन्होंने सेवा—कार्यों से निरुत्साहित ही किया। कृष्णोदास पाल एवं शम्भु मल्लिक की बात सर्वविदित

है। कृष्टोदास पाल ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि देशसेवा ही प्रधान कर्तव्य है, तो उत्तर में श्रीरामकृष्ण ने कहा, “एकमात्र ईश्वर ही संसार की देख-रेख कर सकते हैं। मानव को पहले ईश्वरानुभूति करनी चाहिए, ईश्वरादेश एवं ईश्वरीय शक्ति प्राप्त करनी चाहिए, तभी वह दूसरों की भलाई करने केबारे में सोच सकता है।” शम्भु मल्लिक ने जब चिकित्सालय आदि खोलने की अपनी इच्छा व्यक्त की, तब उन्होंने कहा “यदि ईश्वर तुम्हारे समझ प्रकट हों तो क्या तुम उनसे स्कूल, अस्पताल आदि माँगोगे या भक्ति, ज्ञान आदि के लिए प्रार्थना करोगे ? अतः स्कूल, अस्पताल आदि की चिन्ता छोड़कर एकमात्र ईश्वर की चिन्ता करो।” ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का भी उदाहरण है। एक बार श्रीरामकृष्ण उनसे मिलने गये थे और वार्तालाप के क्रम में उनसे कहा था, “तुम्हारे हृदय के अन्दर सोना है, लेकिन तुमको अभी इसकी कोई खबर ही नहीं है; मानों वह मिट्टी से ढँका हुआ है। जब तुम इसकी खोज पाओगे, तब तुम्हारा कर्म धीरे-धीरे घट जाएगा।” ईश्वर को छोड़ किसी भी दूसरे विषय पर चिन्तन अथवा वार्तालाप श्रीरामकृष्ण को पसन्द न था, भले ही वे विषय लोक-कल्याण से ही सम्बद्ध क्यों न रहे हो। एक बार नरेन्द्रनाथ (स्वामीजी) और महेन्द्रनाथ गुप्त (‘म’) कोलकाता के छात्रों के नैतिक पतन पर खेद व्यक्त कर रहे थे। ज्ञात होने पर श्रीरामकृष्ण ने उन्हें फटकार लगायी और ईश्वर को छोड़कर अन्य किसी वस्तु का चिन्तन करने से मना किया। श्रीरामकृष्ण ने यह स्वीकार किया था कि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का निष्काम कर्म चित्तशुद्धि का साधन है, परन्तु उन्होंने यह भी कहा कि जब उसके अन्दर ईश्वर के प्रति भक्ति जाग्रत होगी, तो उसके कर्म का अन्त हो जाएगा। प्रकारान्तर से यही बात उन्होंने स्वामी विवेकानन्द के बारे में भी कही थी। काशीपुर उद्यान में स्वामी जी की निर्विकल्प समाधि के बाद उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि ज्योंहि नरेन जान जाएगा कि वह कौन है, त्योंहि उसका शरीर छूट जाएगा और ऐसा ही हुआ भी था। अन्तिम दिनों में जब स्वामी जी के एक गुरुभाई ने उनसे पूछा कि क्या वे स्वयं को जान गये हैं, तो अप्रत्याशित और शान्त उत्तर मिला, “हाँ”। इसके बाद वे अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहे। जीवन के शेष काल में किसी भी चीज के प्रति, यहाँ तक कि उनके हृदय को अत्यन्त प्रिय ‘कर्म’ के प्रति भी कोई रुचि नहीं रह गयी थी। अन्त में, श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा उपदेशों से उनके शिष्यों पर जो प्रभाव पड़ा, वह भी शुरू-शुरू में सेवायाग के पक्ष में नहीं लग रहा था। उनके कई गृही तथा संन्यासी शिष्य स्वामी विवेकानन्द द्वारा निर्दिष्ट

कर्म-सम्बन्धी विचारों व पद्धति को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। ये विचार उन्हें बड़े क्रान्तिकारी प्रतीत होते थे और उन्होंने श्रीरामकृष्ण के उपदेशों का जो तात्पर्य समझा था, उससे ये मेल नहीं खाते थे। सभी विश्लेषण यही इंगित करते हैं कि श्रीरामकृष्ण ने स्पष्ट रूप से सेवायोग का उपदेश या समर्थन नहीं किया था।³⁰

● शिवज्ञान से जीवसेवा :—

एक दूसरी भी विचारधारा है, जिसके अनुसार सेवायोग श्रीरामकृष्ण के व्यावहारिक जीवन एवं उपदेशों में सन्निहित है। प्रथमतः, श्रीरामकृष्ण द्वारा किये गये सेवाकार्यों के उदाहरण सर्वविदित हैं, जिनका हमने पहले ही उल्लेख किया है। वे न केवल अपने शिष्यों तथा भक्तों की आध्यात्मिक उन्नति का ख्याल रखते थे, वरन् उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में भी सहायता करते थे। ये सारे दृष्टान्त उनके द्वारा आचरित सेवायोग की ओर संकेत करते हैं। साथ ही, वे दूसरों को भी वैसा करने को कहते। इससे सम्बन्धित एक घटना का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। एक बार श्रीरामकृष्ण को किसी ने कहा कि अमुक गाँव के लोग पेयजल के अभाव में बड़ा कष्ट पा रहे हैं। इस पर उन्होंने मणिलाल मल्लिक नामक अपने एक भक्त से उस गाँव में एक तालाब खुदवाने का अनुरोध किया था। श्रीरामकृष्ण की दो उक्तियाँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वे प्रायः कहा करते थे — “खाली पेट धर्म नहीं होता।” यदि यह सत्य है कि श्रीरामकृष्ण का जीवनोद्देश्य संसार के अधिकतम लोगों को धर्म प्रदान करना था, तो जो लोग उनके इस उद्देश्य में सहायक होना चाहते हैं, उनके लिए भूखों को भोजन देना, नंगों को वस्त्र देना, रोगियों की चिकित्सा करना अर्थात् लोगों की शारीरिक एवं बौद्धिक जरूरतों की पूर्ति करना अनिवार्य हो जाता है, ताकि लोग धर्म का महत्त्व समझने तथा उसका पालन करने की स्थिति में आ सकें। अपने गुरुभाईयों को संघबद्ध करने हेतु लिखे गये स्वामी जी के पत्रों में श्रीरामकृष्ण की इस उक्ति का बारम्बार प्रयोग किया गया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि स्वामी जी इस तथ्य को सर्वाधिक महत्त्व देते थे।

श्रीरामकृष्ण की एक अन्य उक्ति पर हम विस्तार से चर्चा करेंगे, क्योंकि इसका सेवायोग से सीधा सम्बन्ध है। 1884 ई. की घटना है। श्रीरामकृष्ण एक दिन वैष्णव धर्म के तीन प्रधान तत्त्वों की व्याख्या कर रहे थे — भगवन्नाम में रूचि, जीवों पर दया और वैष्णव—सेवा। उन्होंने प्रथम तत्त्व की व्याख्या की, पर दूसरे तत्त्व — ‘जीवों पर दया’ का उच्चारण करते ही वे समाधिस्थ हो गये। थोड़ी देर बाद अर्धबाह्य दशा में आकर वे कहने लगे “जीवों पर दया ? धत् तेरे की ! कीटानुकीट होकर तू जीवों पर दयावान हो? और दया करने वाला तू है कौन? नहीं, नहीं, जीवों पर दया नहीं— ‘शिवज्ञान से जीवों की सेवा।’³¹

श्रोताओं में स्वामी विवेकानंद भी थे। कक्ष से बाहर आकर वे बोले, “आज ठाकुर की बात में कैसा अद्भुत प्रकाश दिखाई पड़ा ! जिस वेदान्त ज्ञान को लोग शुष्क, कठोर और निर्मम समझते हैं, उसे उन्होंने कैसे भक्ति के साथ जोड़कर सहज, सरस एवं मधुर प्रकाश का दर्शन करा दिया ! अब तक तो हम यही सुनते आये हैं कि अद्वैत ज्ञान पाने के लिए संसार और समाज त्यागकर वन में जाना होगा और भक्ति—प्रेम आदि कोमल भावों को हृदय से उखाड़कर सर्वदा चित्त को निःसंग रखना होगा। इसके फलस्वरूप ऐसा ज्ञान प्राप्त करने के लिए संसार तथा उसके हर व्यक्ति को धर्म मार्ग का बाधक जानकर उस पर घृणा का भाव उत्पन्न होने से साधक के विपथ में भटक जाने की सम्भावना रहती है, पर आज ठाकुर ने जो भावावेश में जो बताया, उससे ज्ञात हुआ कि अरण्य के वेदान्त को घर में लाया जा सकता है और संसार के सभी कार्यों में उसका प्रयोग किया जा सकता है। मनुष्य जो काम करते हैं, उसमें हानि नहीं, बस पहले हृदय में इस बात को समझ लेना होगा कि ईश्वर ही जीव—जगत् के रूप में प्रकट होकर सामने विराजमान हैं। जीवन में प्रतिक्षण वह जिनके सम्पर्क में आता है, जिन्हें प्यार करता है, जिन पर श्रद्धा, सम्मान या दया करता है, वे सभी उन्हीं के अंश या वे स्वयं ही हैं। संसार के सभी व्यक्तियों को यदि वह शिवरूप समझ सके, तो अपने को बड़ा समझकर उनके प्रति द्वेष, क्रोध, दम्भ या दया दिखाने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? इस रीति से सभी को शिव समझकर जीवों की सेवा करने से चित्त शुद्ध होकर वह थोड़े समय में अपने को चिदानन्दमय ईश्वर का अंश और शुद्ध—बुद्ध—मुक्त—स्वभाव समझ सकेगा। ठाकुर के इस उपदेश से भक्ति मार्ग पर भी विशेष प्रकाश पड़ता है। जब तक ईश्वर को सर्वभूतों में नहीं

देखा जाता, तब तक सच्ची भक्ति या पराभक्ति प्राप्त करना साधक के लिए सम्भव नहीं। निःसन्देह शिव या नारायण—ज्ञान से जीवों की सेवा करने से भक्त—साधक ईश्वर को सबमें व्याप्त देखकर, यथार्थ भक्ति पाकर अल्पकाल में ही कृतार्थ हो सकेगा। जो साधक कर्मयोग या राजयोग की सहायता से अग्रसर हो रहे हैं, उन्हें भी इस बात में विशेष प्रकाश दिखाई देगा, क्योंकि जब देही कर्म किए बिना नहीं रह सकता, तो 'शिवज्ञान से जीवसेवा' रूपी कर्मानुयटान ही कर्तव्य है और उसे करने से ही वह शीघ्र अपने लक्ष्य पर पहुँचेगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं। भगवान ने यदि मौका दिया तो आज जिस अद्भुत सत्य को सुना, उसका संसार में सर्वत्र प्रचार करूँगा — पण्डित—मुख, धनी—निर्धन, ब्राह्मण—चाण्डाल— सबको सुनाकर मुग्ध करूँगा”।

मानना ही होगा कि यह घटना बड़ी महत्त्वपूर्ण है और सेवायोग के केन्द्रिय सत्य को प्रस्तुत करती है। हमें यह बात भी ध्यान रखनी होगी कि यह घटना सर्वधर्म—समन्वय के उस अन्तर्निहित सिद्धान्त को भी प्रकट करती हैं; जिसकी व्याख्या करते हुए स्वामी जी कहते हैं— “मानव को दिव्य रूप में देखना आवश्यक एवं आधार—स्वरूप है और सभी योगों का साधन इसकी उपलब्धि कराता है।” क्या यह सर्वधर्म—समन्वय के सिद्धान्त के साथ सेवायोग के आन्तरिक सम्बन्ध की ओर इंगित नहीं करता है ?

यदि इन दोनों विरोधी विचारों की आंशिक रूप से तुलना की जाय, प्रथम पक्ष का ही पलड़ा ही भारी पड़ेगा। क्योंकि जहाँ तक स्पष्टोक्ति की बात है, यह मानना ही होगा कि श्रीरामकृष्ण ने स्पष्ट रूप से सेवायोग का उपदेश नहीं किया। सेवायोग के पक्ष में पूर्वोल्लेखित अप्रत्यक्ष प्रमाण विपरीत विचारों से युक्त अनेक उक्तियों के समक्ष अपना महत्त्व खो देता है। इससे व्यक्ति स्पष्ट रूप से निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि सेवायोग स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रवर्तित है। वस्तुतः बहुत से लोग ऐसा ही सोचते हैं। रामकृष्ण—भावधारा के अनुयायियों में भी कुछ लोग मानते हैं कि श्रीरामकृष्ण द्वारा प्रदत्त सन्देश में स्वामी विवेकानंद ने काफी कुछ जोड़ा है। अतः वे श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानंद को सम्मिलित रूप से इस भावान्दोलन के सर्जक मानते हैं। उनके मतानुसार श्रीरामकृष्ण रूपी सत्य के स्वामी जी सम्पूरक थे और इस प्रकार पूर्ण सत्ता हुई 'रामकृष्ण विवेकानंद'।³²

पर हमारे विचार से यह निष्कर्ष गम्भीर तथा प्रबुद्ध नहीं है, क्योंकि इससे हमारे स्वामी विवेकानंद की पृथक्ता का बोध होता है, जो वास्तविक नहीं है। ऐसे कई तथ्य हैं, जो हमें सोचने को बाध्य करते हैं कि श्रीरामकृष्ण ने भले ही स्पष्ट रूप से सेवायोग का प्रतिपादन न किया हो, परन्तु यह उनके उपदेशों में अव्यक्त रूप से विद्यमान था, जिसे स्वामी विवेकानंद ने अभिव्यक्त मात्र किया। यह तथ्य भले ही स्पष्ट न हो, पर संकेतपूर्ण है। जो लोग श्रीरामकृष्ण के ईश्वरत्व में विश्वास करते हैं, उन्हें निम्नलिखित गुह्य तथा सहज ही विश्वास प्रदान करा देगा कि स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रचारित सेवायोग एवं उनकी सम्पूर्ण कर्मनीति श्रीरामकृष्ण के अभिप्राय के विपरीत नहीं है, बल्कि इसमें उनका पूर्ण समर्थन है।

सर्वप्रथम हम स्वामी विवेकानंद की स्वीकारोक्ति का उल्लेख कर सकते हैं। उन्होंने अपने शिष्य शरच्चन्द्र चक्रवर्ती से कहा था कि माँ काली ने ही उनसे सभी कार्य कराए हैं। हम यह भी याद कर सकते हैं कि लीलासंवरण के कुछ ही दिन पूर्व श्रीरामकृष्ण ने अपनी सारी शक्ति स्वामी विवेकानंद के अन्दर संचारित कर दी थी। क्या यह कहना स्वाभाविक नहीं है कि स्वामी जी के माध्यम से श्रीरामकृष्ण देव की ही आत्मा ने सारी योजना बनायी और अन्य चीजों के साथ ही सेवायोग का उपदेश दिया ?

हम जानते हैं कि श्रीरामकृष्ण के आदेशानुसार ही स्वामी जी अमेरिका आ गये थे। कहते हैं जब वे अपना कर्तव्य निर्धारित नहीं कर पा रहे थे, तो एक रात उन्होंने स्वप्न में देखा कि श्रीरामकृष्ण समुद्र के पार से जा रहे हैं एवं उन्हें भी अपना अनुसरण करने के लिए कह रहे हैं। हमें यह प्रमाण भी प्राप्त है कि अमेरिका में भी कई अवसरों पर स्वामी जी ने श्रीरामकृष्ण का आदेश प्राप्त किया था। 1895 में अपने एक गुरुभाई के नाम पत्र में उन्होंने लिखा है, “श्रीरामकृष्ण ने मुझसे कहा है.....आदि।” उस पत्र में मठ-संगठन सम्बन्धी विवरण है तथा उनके एक गुरुभाई की संगठन-शक्ति का भी उल्लेख है। हमें स्वामी जी के देह-धारण के रहस्य तथा उसके तात्पर्य को भी नहीं भूलना चाहिए। श्रीरामकृष्ण ने अपने शिष्यों से कहा था – नरेन समाधिमग्न सुप्रसिद्ध सप्तर्षियों में से एक है और मैंने उसे समाधि से जगाकर संसार के दुःख-कष्टों की बात बताकर इसका उद्धार करने हेतु मानव-रूप में जन्म ग्रहण करने का अनुरोध किया था। इस पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। यहाँ ध्यान देने

की बात यह है कि श्रीरामकृष्ण चाहते थे कि संसार के दुःख-कष्टों करने के लिए नरेन एक शक्तिशाली माध्यम हो। सेवायोग के प्रवर्तन के बिना यह असम्भव था, क्योंकि ईश्वरानुभूति के अन्य सभी मार्ग व्यक्तिगत मुक्ति के लिए प्रभावी होते हुए भी अधिकांश मानवता को अपने लाभकारी प्रभाव से वंचित ही रखते हैं। कुछ वर्षों पूर्व एक महिला भक्त को एक दिव्य-दर्शन हुआ। उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण खड़े हैं और उनके पीछे गेरुआधारी संन्यासियों की एक फौज है। पूछने पर श्रीरामकृष्ण ने बताया कि उनके पदाधिकारी-गण हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण अनुभूति है। सेवाकार्यों में निरत उनके कई पदाधिकारियों ने अपने कार्यों के दौरान उनके मार्ग दर्शन और संकट की घड़ियों में उनके सीधे हस्तक्षेप का भी बोध किया है।

श्रीरामकृष्ण के जीवन एवं उपदेशों के प्रचार की भिन्न-भिन्न पद्धतियों ने जन-मानस पर जो प्रभाव विस्तार किया है, उससे भी हम उनकी इच्छा का अनुमान लगा सकते हैं। संन्यासी शिष्यों द्वारा उनके सन्देशों का प्रचार शुरू करने के पूर्व ही रामचन्द्र नामक एक गृही भक्त ने कोलकाता तथा आसपास के स्थानों में उनका प्रचार किया था। उन दिनों उसका व्यापक प्रभाव भी हुआ था। वे एक मासिक पत्रिका भी निकालते थे और उन्होंने कई पुस्तकों की रचना भी की थी। इसके साथ ही वे व्याख्यान भी दिया करते थे। श्रीरामकृष्ण के आध्यात्मिक उपदेश, भक्ति, पूजा, जप आदि ही उनके प्रचार के मुख्य विषय थे। उन्होंने कभी सोचा तक नहीं कि सेवायोग भी श्रीरामकृष्ण के उपदेशों में से एक है। इसका परिणाम हम आज देख रहे हैं। यद्यपि श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में उनकी व्याख्या ने कुछ लोगों के हृदय में कोई स्थायी प्रभाव कायम नहीं कर सका और कालक्रम से लुप्त हो गया। दूसरी ओर हम देखते हैं कि रामकृष्ण संघ का विस्तृत तथा गहन प्रभाव हुआ है। क्या यह स्पष्ट रूप से श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा सन्देशों की रामकृष्ण संघ द्वारा की हुई व्याख्या को अधिक प्रामाणिक सिद्ध नहीं करता ? इन सभी का उल्लेख हम यह प्रमाणित करने के लिए कर रहे हैं कि रामकृष्ण संघ के वर्तमान क्रिया-कलाप तथा सेवायोग की साधना श्रीरामकृष्ण देव के अभिप्राय के विरुद्ध नहीं है, बल्कि उनकी इच्छा तथा आत्मा के अनुरूप ही है। अब यह पता लगाना है कि उनकी किस स्पष्टोक्ति से सेवायोग का उद्भव हुआ। हमें मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध ढूँढ निकालना है।³³

प्रश्न उठता है कि यदि सेवायोग श्रीरामकृष्ण को अभिष्ट था, तो क्यों नहीं उन्होंने अपने जीवन-काल में ही प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट रूप से उपदेश दिया और क्यों नहीं अपने शिष्यों को भी वैसा करने का आदेश दिया ? इसका उत्तर बड़ा ही सरल है। रामकृष्ण संघ के द्वितीय अध्यक्ष स्वामी शिवानन्द जी ने अपने एक पत्र में लिखा है, “सर्वदा अत्युच्च आध्यात्मिक अवस्था में रहने के कारण श्रीरामकृष्ण के लिए हमेशा सांसारिक दुःख-कष्टों को दूर करना सम्भव नहीं था, परन्तु यह सोचना गलत होगा कि वे उनके प्रति उदासीन थे। उन्होंने जिन आदर्शों को स्वयं पालन किया तथा जिन्हें सूत्ररूप में अपनी वाणी द्वारा व्यक्त किया, उन्हीं आदर्शों का पालन व प्रचार स्वामी विवेकानन्द तथा अन्य लोगों ने किया है और कर रहे हैं। उच्च आध्यात्मिक स्तर पर विचरण करते समय श्रीरामकृष्ण के लिए अपने शरीर तक की खबर रख पाना भी असम्भव था। अतः उन्होंने आध्यात्मिक विचारों को ईश्वर के निर्देशानुसार उन लोगों में संचरित कर दिया, जो उन उच्च सत्यों को शीघ्र आत्मसात् करके उन्हें मानवता के कल्याण में प्रयुक्त करने के लिए सक्षम थे। ऐसे लोगों में सर्वश्रेष्ठ थे स्वामी विवेकानन्द।वस्तुतः स्वामी जी ही श्रीरामकृष्ण-जीवन के श्रेष्ठ व्याख्याता और उनकी आध्यात्मिक उक्तियों में निहित सिद्धान्तों के भाष्य थे।” श्रीरामकृष्ण एक शक्ति थे। उस शक्ति में ही वह बीज निहित है, जिसका प्रवर्धन एवं विश्लेषण करने पर वह सर्वधर्म-समन्वय की ही भाँति निश्चित रूप से सेवायोग का रूप धारण कर लेता है। वे एक भाव थे, जिनका तत्त्व मानवीय कार्यों में प्रयुक्त करने पर वह सभी प्रकार के हितों की प्रेरक शक्ति बन जाता है। श्रीरामकृष्ण ने अपने शिष्यों के अन्दर इसी भाव का संचार कर दिया था और इसके द्वारा उन्होंने वह सब कुछ कर दिया था, जो संसार के उत्थान के लिए आवश्यक था। उस भाव का प्रयोग व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन में कैसे किया जाएगा — इस सम्बन्ध में उन्होंने ज्यादा कुछ नहीं कहा और इसकी जरूरत भी नहीं थी। इन्हीं रूपों में से एक सेवायोग भी है। यहाँ हमारा मुख्य उद्देश्य श्रीरामकृष्ण के साथ सेवायोग का मनोवैज्ञानिक एवं आन्तरिक सम्बन्ध दर्शाना है।³⁴

ईश्वर कैसे मानवता का हित करते हैं ? क्या वे मानव सेवा के निमित्त परोपकारियों द्वारा किए जानेवाले हर कार्य का निर्देश दिया करते हैं ? नहीं। वे सत्पुरुषों के हृदय में केवल प्रेरणा-शक्ति के रूप में कार्य करते हैं। वे अदृष्ट परन्तु चिर प्रेरणास्त्रोत हैं, जो लोक-हितैषियों

को सेवाकार्यों के लिए प्रोत्साहित किया करते हैं। सेवा करनेवाले स्वयं ही विस्तृत कार्यावली का निर्धारण करके उसे कार्यान्वित करते हैं। श्रीरामकृष्ण ने इसी प्रकार प्रेरणा के मूल स्रोत के रूप में अपने शिष्यों के हृदय में स्वयं को स्थापित कर दिया था तथा उसके बाद उन्हें विशेष निर्देश देने की आवश्यकता नहीं थी। स्वामी शिवानन्द जी के शब्दों में, “उन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्तियों एवं प्रधान कार्यों का भार वहन करनेवाले योग्य शिष्यों को ढूँढ निकाला था तथा अपनी लीला के अन्तिम दिनों में उन उत्तराधिकारियों को आवश्यक प्रशिक्षण दिया था। महासमाधि के कुछ ही दिनों पहले उन्होंने अपनी सारी शक्ति स्वामी विवेकानन्द में संचरित कर दी थी।” इस कारण जो भी लोग उनके सम्पर्क में आए और उन्हें योग्य लगे, उनके प्रति उनका एक ही उपदेश था — ईश्वरप्राप्ति के लिए स्वयं को समर्पित कर दो, क्योंकि जो ईश्वरानुभूति कर लेता है, वही मानव सेवा के लिए योग्य एवं सक्षम होता है। वे अक्सर कहा करते थे कि ईश्वरीय शक्ति से युक्त होकर मानव अद्भुत कार्य कर सकता है, परन्तु उसके बिना जीवन भर का प्रयत्न व्यर्थ चला जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे परोपकार के विरोधी थे। जिनका रुझान आध्यात्मिकता की ओर था, उसे वे साधना में लगाना चाहते थे, और इसके कई कारण हैं। श्रीरामकृष्ण ने जिन-जिन को सेवाकार्य के विरुद्ध उपदेश दिया था, उन्हें हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—

(1) कई लोग जो बड़े अहंकारी थे। उनके द्वारा किया जाने वाला परोपकार एक तरह का पेशामात्र था, जिसे उन्होंने अन्य पेशों की भाँति अपनाया था। ऐसी प्रवृत्ति परोपकार करनेवाले व्यक्ति की भलाई तो करती ही नहीं, बल्कि समाज को ही अकूत हानि पहुँचाती है, क्योंकि ऐसे लोग स्वयं को समाज का गति-नियन्ता मानकर पुरानी चीजों का ध्वंस करते हैं और ऐसी नयी परम्पराएँ आरम्भ करते हैं, जो अन्ततोगत्वा हानिकारक ही सिद्ध होती हैं। ऐसे लोगों के लिए श्रीरामकृष्ण का उपदेश कटु व तीक्ष्ण था। वे उन्हें याद दिलाना चाहते थे कि ईश्वर ही संसार के रक्षक हैं।

(2) शम्भु मल्लिक, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ईशान मुखर्जी आदि दूसरी श्रेणी के थे, जो पीड़ित मानवता के दुःख-दर्द को वास्तव में अनुभव करते थे एवं सेवा को ही जीवन का चरम उद्देश्य मानते थे। श्रीरामकृष्ण ने देखा कि उनका यह विचार उनकी उच्च आध्यात्मिक अनुभूति

के मार्ग में बाधक है। इसलिए उन्होंने इन लोगों को कर्मत्याग का उपदेश दिया था। शम्भु मल्लिक से उन्होंने पूछा था, “यदि तुम्हें ईश्वर-दर्शन हो, तो क्या तुम उनसे स्कूल, अस्पताल आदि माँगोगे ?” वे उन्हें बताना चाहते थे कि दूसरों की भलाई उच्च आध्यात्मिक अनुभूति के लिए उपाय मात्र है; चरम लक्ष्य नहीं। आदर्श हिन्दू की निर्भ्रान्त मूल-प्रवृत्ति ही श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से व्यक्त हुई। हिन्दू धर्म कभी नहीं भूलता कि चरम परोपकार भी उच्चतम सत्य की तुलना में तुच्छ ही है; क्योंकि उसमें भी अज्ञान व अहंकार विद्यमान होता है। इसके भी परे जाना चाहिए। हमने इस तथ्य का पहले ही उल्लेख किया है कि सहानुभूति को भी पूजा एवं ईश्वर-दर्शन के साधन के रूप में रूपान्तरित कर लेना चाहिए। सेवा का पात्र मानव है — इस बोध और दयाभाव को दूर करना चाहिए।

(3) उनके अन्तरंग शिष्यगण तीसरे दर्जे के थे, जिन्हें वे विशेष रूप से ईश्वरानुभूति की साधना में लगाना चाहते थे, क्योंकि वे उन्हें उच्चतम ज्ञान का अधिकारी तथा अपने सशक्त भाव के योग्य धारक बनाना चाहते थे, ताकि वे परवर्ती काल में मानव-सेवा हेतु प्रभावशाली रूप से स्वयं को नियोजित कर सकें। इन्हीं कारणों से उन्होंने व्यक्तिगत रूप से सेवायोग का उपदेश नहीं दिया। वे पूर्ण आध्यात्मिक योजना के सार को लेकर ही व्यस्त थे। उन्होंने यह जानते हुए बीज बोया कि जमीन उपजाऊँ है और पौधा स्वयं ही वृद्धि को प्राप्त होगा। सेवायोग श्रीरामकृष्ण के जीवन एवं उपदेशों में उपलक्षित था।³⁵

हमने कहा है कि श्रीरामकृष्ण ने अपने आप को किसी भी खास सिद्धान्त से सीमाबद्ध नहीं किया है; पर उनके भाव का मूल तत्त्व उनके निम्न दो उपदेशों में व्यक्त हुआ है — (1) ईश्वर या सत्य की अनुभूति करना मानव का एकमात्र कर्तव्य है। (2) विभिन्न धर्ममत एक ही ईश्वर या सत्य तक पहुँचने के भिन्न-भिन्न रास्ते हैं। उनके जीवन तथा उपदेशों में इन दो मूल तत्त्वों पर बारम्बार बल दिया गया है। पहला मूलभूत है, क्योंकि यह जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रदान करता है, जिसके अनुसार मानव द्वारा किया प्रत्येक कार्य ईश्वर-प्राप्ति में सहायक हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि हर व्यक्ति का कर्तव्य-कर्म पूजा है, परन्तु आंशिक रूप से ऐसा होने पर भी यह पूर्ण रूप से सेवायोग नहीं हैं। कर्तव्य से सामान्यतः पारिवारिक कर्तव्य समझा जाता है। औसत व्यक्ति का कार्यक्षेत्र आम तौर पर

पारिवारिक दायरे में ही सीमित रहता है, जहाँ सामाजिक कर्तव्य पालक की बहुत कम सम्भावना रहती है, परन्तु सेवायोग की परिधि काफी विस्तृत रहती है। इसके अनुसार पड़ोस, देश और विश्व अर्थात् सम्पूर्ण पीड़ित मानव-जाति की सेवा करना भी व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है। यह सीमा का विस्तार कर देता है। अतः सेवायोग केवल कर्तव्यों का आध्यात्मिकरण ही नहीं है, बल्कि इसके अन्तर्गत अतिरिक्त कर्मों का भी समावेश है। ये अतिरिक्त कर्तव्य-कर्म श्रीरामकृष्ण के प्रथम उपदेश से व्युत्पन्न हो सकते हैं। यह उनका अनुपम उपदेश है। सर्वधर्म-समन्वय के सिद्धान्त के अनुसार अपने धर्ममत की भाँति ही अन्य धर्ममत भी ईश्वरानुभूति के सुमार्ग हैं। अतः हमें दूसरों धर्मों के प्रति कट्टर नहीं होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति इस सिद्धान्त का पालन नहीं करता, तो क्या इससे कोई व्यक्तिगत अनुभूति बाधित होगी ? नहीं। हम जानते हैं कि कई ऐसे ईसाई ईश्वरानुभूति-सम्पन्न हुए हैं, जो हमें भ्रान्त मूर्तिपूजक समझते थे। कट्टरता व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रगति में बाधक नहीं भी हो सकती है, परन्तु यह बुद्धि को संकुचित कर देती है और समाज पर इसकी बुरी प्रतिक्रिया होती है। यह सामाजिक असामंजस्य तथा वैमनस्य उत्पन्न करती है। अतः सर्वधर्म-समन्वय का सिद्धान्त प्रधानतः सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय एकता एवं सामंजस्य ही स्थापित करता है। इसे मौलिक रूप से आध्यात्मिक नहीं मानने का यही कारण है। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण का यह सिद्धान्त अध्यात्म की अपेक्षा समाज-सेवा से अधिक सम्बद्ध है। क्या सेवायोग के साथ भी इसका कोई सम्बन्ध है ?

हमें ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि सर्वधर्म-समन्वय के सिद्धान्त का आध्यात्मिकता के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इसका एक पहलू एक नये आध्यात्मिक आदर्श की शिक्षा देता है। आम धारणा यही है कि हर व्यक्ति को ईश्वर के किसी एक रूप की अनुभूति करनी चाहिए, परन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर के जितने भी रूपों की हो सके, अनुभूति कर लेनी चाहिए। श्रीरामकृष्ण द्वारा दिया गया रँगरेज वाला दृष्टान्त बड़े महत्त्व का है। एक रँगरेज के पास टब भर रंग था। उस एक ही टब के रंग से वह वस्त्रों को विभिन्न रंगों में रंग देता था। हममें से प्रत्येक को उसी रँगरेज की भाँति ईश्वर को उनके सर्वरूपों में दर्शन करने में सक्षम होना चाहिए। इस नये युग में ऐसे लोगों की जरूरत है, जिनमें सार्वभौमिक सहानुभूति

हो; केवल सहानुभूति ही नहीं, श्रीरामकृष्ण की तरह सर्वधर्मों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने की क्षमता हो। परन्तु सर्वधर्म-समन्वय के सिद्धान्त को यदि धार्मिक सहानुभूति तक ही सीमित रखा जाय, तो उसकी उपयोगिता बहुत ही कम होगी, क्योंकि मानव-मानव के बीच जो सम्बन्ध है, उसमें धार्मिक पक्ष सौवा भाग भी नहीं है।³⁶

तो क्या मानवों के बीच के साधारण सम्बन्ध के साथ इसका कोई सम्पर्क नहीं है ? जब हम अपने दैनन्दिन जीवन में सामान्य लोगों से मिलते हैं, तो क्या हमें वहाँ समन्वय के सिद्धान्त का पालन नहीं करना चाहिए ? कम-से-कम श्रीरामकृष्ण ने तो वैसा ही किया था। चाहे सांसारिक व्यक्ति हो या आध्यात्मिक, वे प्रत्येक व्यक्ति के साथ तादात्म्य स्थापित करना जानते थे। इसका रहस्य क्या था ? वे प्रत्येक मानव में निहित और क्रमशः अभिव्यक्त हो रहे ईश्वर का दर्शन करते थे। अतः उनके लिए प्रत्येक जीवन ही एक धर्म था। इसी भाव से स्वामी जी ने कहा था – “काश ! प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक एक धर्म होता !” उन्होंने अपने एक व्याख्यान में कहा था – “प्रत्येक जीवन एक धर्म है।” मानव के प्रति ऐसा दृष्टिकोण रखना, वास्तविक रूप से सर्वधर्म-समन्वय की अनुभूति करना है और तभी श्रीरामकृष्ण के इस उपदेश का मुख्य उद्देश्य – विश्वशान्ति स्थापित करना – पूरा होगा। मानव के प्रति यह नया दृष्टिकोण मानव की पूजा ईश्वर के रूप में करने के समान ही है, क्योंकि जब तक प्रत्येक जीवन में हम ईश्वर की अभिव्यक्ति नहीं देखते, तब तक हम सही मायने में सर्वधर्म समन्वयक नहीं हो सकते।³⁷

अतः यहाँ मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध है, क्योंकि समन्वय तथा सेवा का दृष्टिकोण मानव में निहित देवत्व के प्रति सचेतन होने से ही उत्पन्न होता है। वस्तुतः हमारा दृढ विश्वास है कि जब तक सेवा का भाव नहीं है, तब तक धर्मसमन्वय केवल व्यर्थ का बकवास मात्र होकर रह जाएगा, क्योंकि यह भाव न केवल विचार में प्रवेश करना चाहिए, बल्कि कर्म में भी परिणत होना चाहिए और ऐसा करने पर इसका द्विविध प्रकटीकरण होगा। परन्तु ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जैसा की स्वामी शिवानन्द जी ने कहा था कि स्वामी विवेकानन्द थे श्रीरामकृष्ण के जीवन के व्याख्याता; उनके सूत्र रूप उपदेशों के भाष्य। श्रीरामकृष्ण ने अपने शिष्यों को इस भाव से अनुप्राणित कर दिया था। यह भाव सत्य तथा संसार के एकत्व से कम

नहीं है। जब कोई व्यक्ति पूर्ण रूप से इस दृष्टिकोण को अपना लेता है तो इसकी तुरीय और दृश्य-प्रपंच – दोनों स्तरों पर अभिव्यक्ति होती है। ये अभिव्यक्तियाँ हैं – तुरीय स्तर पर परम सत्ता के साथ एकत्व बोध और प्रतीयमान स्तर पर ईश्वर की लीला, क्योंकि ईश्वर ही स्वयं को विभिन्न रूपों में, विविध प्रकार से अभिव्यक्त कर रहे हैं। फिर यह प्रतीयमान पक्ष समन्वय तथा सेवा का द्विविध रूप धारण करता है और इसका आधार अद्वैत चेतना है। ये सभी मनोवैज्ञानिक तथ्य हैं; इनमें हम स्वामी विवेकानंद द्वारा प्रचारित सेवायोग का स्त्रोत भलीभाँति ढूँढ सकते हैं। सामान्यतः प्रेम और सहानुभूति से सेवा की उत्पत्ति होती है, परन्तु सतत अभ्यास के द्वारा हमारी सहानुभूति जब पार्थिव दोषों से मुक्त हो जाती है, जब हम पीड़ित मानवता को ईश्वर के विभिन्न रूपों में देखना सीख जाते हैं, तब हम पाते हैं कि मानव में निहित देवत्व ही हमारी सेवा का प्रेरक है और ऐसी सेवा ईश्वरानुभूति की एक सक्षम साधन बन जाती है और यही सेवायोग है। जहाँ तक रामकृष्ण संघ का प्रश्न है, इसका स्त्रोत इसी मनोविज्ञान में शोधनीय है, जो श्रीरामकृष्ण के सम्पूर्ण उपदेशों, खासकर उनके सर्वधर्म-समन्वय के उपदेश के मूल में है। वस्तुतः श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानंद – दोनों ने जीवन एवं सत्य के प्रति कुछ खास दृष्टिकोणों का अपनाया और उन्हीं का उपदेश किया; सर्वधर्म-समन्वय तथा सेवा – ये दोनों इसी दृष्टिकोण से निर्गत हुए हैं। पाप नाम की किसी चीज का अस्तित्व ही नहीं है – स्वामी जी का यह सिद्धान्त भी इसी से निकला है। ये सभी अद्वैत-चेतना से ही उत्पन्न होते हैं।³⁸

इस विषय में हमारी यही धारणा है। सम्भव है श्रीरामकृष्ण ने स्वामी जी तथा अन्य शिष्यों को मानव-सेवार्थ ऐहिक कार्यों को करने तथा सेवायोग का प्रचार करने के लिए (जिनके द्वारा एक विश्वस्तरीय सेवाभाव उत्पन्न होकर एक ओर तो राष्ट्रीय जीवन को सर्वांगीण रूप से पुनरुज्जीवित करेगा तथा दूसरी ओर सेवा करने वालों की चित्तशुद्धि करके उन्हें मानव जीवन के एकमात्र लक्ष्य – आत्मानुभूति की ओर ले जाएगा) स्पष्ट रूप से कुछ न कहा हो, पर उनके उपदेशों में ऐसे तत्त्व हैं, जो प्रत्यक्ष तथा अनिवार्य रूप से हमें इन सिद्धान्तों तक ले जाते हैं। यदि श्रीरामकृष्ण का उपदेश बीज था, तो स्वामी विवेकानंद तथा उनके अन्य अन्तरंग शिष्यों के उर्वर जीवन में इसने एक महान् वृक्ष का रूप धारण किया और उसकी मुख्य शाखा है – सेवायोग।³⁹

वेदांत की शिक्षाओं के आधार पर समाज के निर्माण के अध्ययन में सामाजिक परिवर्तन की चर्चा भी प्रासंगिक है। सामाजिक परिवर्तन के अंतर्गत सामाजिक विकास या प्रगति का अध्ययन भी समाहित हो जाता है।

5.3 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत :—

यांत्रिक, आण्विक या जैविक सिद्धांतों में से चाहे कोई सा भी सिद्धांत सत्य हो; सभी जड़ या चेतन अनुभूत घटनाओं के समान समाज भी बिना अंतराल या अंत के निरंतर परिवर्तनशील है। सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप एवं कारणों से सम्बंधित बहुत से सिद्धांत हैं। इनमें से कुछ उल्लेखनीय सिद्धांत निम्नवत् हैं :

1. सरल रेखीय विकास सिद्धांत :—

इस सिद्धांत के अनुसार मानवीय सभ्यता में सामाजिक विकास निरंतर, क्रमिक एवं सरल रेखीय दिशा में होता है।

2. अवस्था—सिद्धांत :—

सामाजिक विकास के विचारकों के मध्य एक समय यह सिद्धांत बहुत लोकप्रिय था और सामान्य लोगों के मध्य यह अब भी लोकप्रिय है। इस सिद्धांत के अनुसार मानव सभ्यता के इतिहास में क्रमान्तर से प्रगति के युग आते हैं, और इन युगों के मध्य में कुछ अंतराल भी होता है। अधिकांश उदाहरणों में इस प्रगति में निरंतरता में बाधा का कारण मनुष्य का पर्यावरण के साथ उसका सम्बंध होता है जैसे तकनीकी के पदार्पण से युग की अवस्था में परिवर्तन। यद्यपि विद्वानों ने सामाजिक विकास के लिए केवल इसे ही एकमात्र कारण नहीं माना है बल्कि तकनीकी के साथ साथ पर्यावरण, जातिगत विशेषताएँ, धर्म एवं नैतिक मूल्यों आदि को भी सामाजिक परिवर्तन के निर्धारक माना है।

3. संचित प्रति—कियात्मक सिद्धांत :—

यह एक जटिल सिद्धांत है। इसे आर्थिक प्रगति एवं सामाजिक परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में समझाया जा सकता है कि किसी अर्थव्यवस्था में प्रारंभिक कृषि—क्रांति उत्पादन में बदलाव करता है और ऐसा करने में कृषि का यंत्रीकरण, रसायनों का

प्रयोग और कृषि उत्पादों की त्वरित सेवा का समावेश होता है। उत्पादों की औद्योगिक ईकाईयों के बढ़ने से दूसरी कृषि क्रांति का जन्म होता है।

- **रेखीय सिद्धांत की अवैज्ञानिकता :-**

सामाजिक विकास के उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी के सभी सिद्धांत रेखीय विकास सिद्धांत थे, किंतु वे सभी अवैज्ञानिक थे। अनुभव या वैज्ञानिक धरातल पर इन सभी सामाजिक एवं सांस्कृतिक सिद्धांतों की कुछ सीमाएँ थीं। एक दिशा में निश्चित विकास असंभव है क्योंकि बाह्य शक्तियों के आघात एवं प्रतिघात गति को बाधित कर देते हैं एवं इससे उसकी दिशा बदल जाती है। इस प्रकार, रेखीय गति चक्रक हो जाती है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास सृष्टिमूलक या जैविक विकास से अलग नहीं रह सकता है। इसके साथ ही 'यह सामाजिक विकास उस संचित विकास से भी अलग नहीं रह सकता जिसमें सामाजिक जीवन के किसी एक विशेष आयाम में परिवर्तन किसी दूसरे आयाम में परिवर्तन का कारण बनता है'। अतएव, जैसा कि प्रो. सोरोकिन ने कहा है कि "यह बिल्कुल असंभव है कि ये सारी शक्तियाँ किसी भी समय पर बिल्कुल नगण्य या स्थिर रहें ताकि विकास की प्रक्रिया की दिशा अपरिवर्तित रहे"।⁴⁰ इस प्रकार आधुनिक विज्ञान के अनुसार एक ही सीधी दिशा में कोई भी गति नहीं हो सकती और सामाजिक एवं सांस्कृतिक घटनाओं के सम्बंध में भी यह सत्य है, ऐसा ही सोरोकिन का दृष्टिकोण है।

- **कॉल मार्क्स का रेखीय सिद्धांत :-**

ऑगस्ट्स कॉमटे एवं हर्बर्ट स्पेन्सर का अनुगमन करते हुए, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के अध्ययनों में पहले रेखीय विकास सिद्धांत का बहुत प्रचलन था। बहुत से लेखक उत्साह से उद्घोष किया करते थे कि "विकास एवं प्रगति की जय हो जो मानवता को कभी न रुकने वाली पूर्णता की ओर ले जाएंगे"। सामाजिक विकास की मार्क्सवादी संकल्पना भी एक निरंतर सरल रेखीय विकास की संकल्पना है। समाज का विकास दास-समाज, सामंती-समाज, पूँजीवादी समाज से होता हुआ समाजवाद में होता है। समाजवाद ही सर्वोच्च अवस्था है। यह विकास 'तकनीकी' के एकमात्र घटक में सुधार एवं बदलाव से नियंत्रित होता है। मार्क्स इस बारे में मौन हैं कि इस अवस्था की प्राप्ति के बाद

क्या होता है। क्या विकास की प्रक्रिया रुक जाती है ? मार्क्स इस महत्वपूर्ण प्रश्न को हल करने में हमारी कोई मदद नहीं करते हैं। तार्किक दृष्टि से समाज का विकास किसी भी अवस्था विशेष में रुकता नहीं है। समाज स्वभाव से ही गतिशील है। समाजवाद की अवस्था की प्राप्ति के बाद भी यह वैसा ही गतिशील बना रहने वाला है। यदि तकनीकी विकास से सामाजिक विकास सम्पन्न होता है तो समाजवाद की अवस्था की प्राप्ति के बाद भी यह तकनीकी विकास क्या रुक जाता है ? क्या तकनीकी विकास की प्रक्रिया रुक जाती है ? यह एक प्रासंगिक प्रश्न है जिस पर मार्क्स एवं उनके अनुयायी मौन हैं ? विकास का एक रेखीय सिद्धांत सामाजिक विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया की व्याख्या नहीं कर सकता है। यह इसकी एक मुख्य कमी है। मार्क्स डॉर्विन के विकासवादी सिद्धांत से कुछ ज्यादा ही प्रेरित थे, जिसके कारण उनके सिद्धांत में यह दोष उत्पन्न हुआ। उनका सिद्धांत सामाजिक विकास की उत्पत्ति की तो व्याख्या करता है किंतु उसके अंत की व्याख्या करने में असफल हो जाता है। “समाजवाद के बाद आगे क्या ? विकास का अगला चरण क्या होगा” ? मार्क्स औद्योगिक क्रांति से भी अत्यधिक प्रेरित थे, जिसने उन्हें यह सोचने के लिए प्रेरित किया कि तकनीकी परिवर्तन ही सामाजिक विकास का एकमात्र कारण है।

● स्वामी विवेकानंद का तरंग-सिद्धांत :-

विवेकानंद ने विकास के रेखीय सिद्धांत को चुनौती दी थी। आधुनिक विज्ञान पर आधारित उनके तर्क अग्रलिखित हैं : (1) सारा विकास क्रम से होने वाले उत्थान एवं पतन से आगे बढ़ता है और “कोई भी विकास एक सीधी रेखा में नहीं होता है”⁴¹ (2) “अनंत की ओर प्रवर्तित एक सरल रेखा का अंत एक वृत्त में होता है”⁴² और यह अपने आरंभ बिंदु पर वापस लौट आती है। (3) “बिना संगत पतन के कोई विकास नहीं होता है”⁴³ विवेकानंद के अनुसार हम एकता की प्राप्ति तो कर सकते हैं किंतु पूर्ण विकास नहीं।

● विकास की संकल्पना :-

यहाँ सामाजिक विकास के संदर्भ में विकास की अवधारणा का अवलोकन करने के साथ विकास की सामान्य अवधारणा को समझना भी प्रासंगिक होगा।

स्वामी विवेकानंद रेखीय विकास के सिद्धांत की आलोचना करते हुए कहते हैं “आधुनिक काल के कुछ सम्प्रदायों ने विकास का ऐसा सिद्धांत प्रस्तुत किया है जिसमें मनुष्य की नियति में सदैव सुधार होता है एवं सदैव उस ओर जाने के लिए संघर्ष होता है किंतु कभी भी लक्ष्य की ओर नहीं पहुँचता। यद्यपि यह कथन दिखने में अच्छा लगता है किंतु निरर्थक है क्योंकि एक ही सरल रेखा में विकास जैसी कोई चीज नहीं है। प्रत्येक गति एक वृत्त में होती है। इसलिए यह विचार कि मनुष्य की नियति कभी न रुकने वाला एवं आगे ही आगे होने वाला विकास है; निरर्थक है”।⁴⁴ वे आगे कहते हैं – “इसके अतिरिक्त व्यवहारिक धरातल पर हम देखते हैं कि नित्य विकास का सिद्धांत अमान्य है; सारी पार्थिव वस्तुओं की नियति नष्ट होना है ... देखिए कैसे एक नेब्यूले से सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र उत्पन्न होते हैं; फिर कैसे उनका क्षय होता है एवं वे वापस नेब्यूले में चले जाते हैं। इसी प्रकार सभी जगह होता है। वनस्पति अपना भौतिक रूप पृथ्वी से लेता है और पुनः उसी में उस रूप को त्याग देता है। इस संसार की सभी चीजें अपना रूप अपने परिवेश के अणुओं से लेता है और पुनः इन्हीं अणुओं में वापस चली जाती हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि एक ही नियम दो पृथक् स्थानों पर अलग व्यवहार करे। नियम समरूप है। इससे अधिक निश्चित और कुछ नहीं है”।⁴⁵ अतएव वे निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रकृति में कोई भी समरूप, एकदेशीय प्रगति अथवा ह्रास नहीं है। यह पुनः पुनः समान रूपों को प्रदर्शित करती है। वस्तुतः ‘नियम’ शब्द का यह अभिप्राय है।

● आध्यात्मिकता एवं भौतिकता की तरंगें:—

विवेकानंद के अनुसार जैसा प्रकृति में परिवर्तन का रूप है, वैसा ही समाज के क्षेत्र में भी है। समाज में होने वाला परिवर्तन भी निरंतर तरंगों की श्रृंखला के समान है, जिसमें आध्यात्मिकता एवं भौतिकता की तरंगें क्रम से उठती हैं। विवेकानंद इस प्रक्रिया का विवेचन निम्नलिखित शब्दों में करते हैं —

“सामाजिक जीवन की प्राप्ति के लिए संसार में दो प्रयास किए गए। एक धर्म पर तो दूसरा सामाजिक आवश्यकता पर आधारित था। एक आध्यात्मिकता पर आधारित था तो दूसरा भौतिकता पर; एक अतीन्द्रियता तो दूसरा यथार्थता पर आधारित था”।⁴⁶

इसे समझाते हुए वे आगे कहते हैं —

“एक इस तुच्छ भौतिक संसार के क्षितिज से परे देखता है और इतना निर्भीक है कि जीवन की उत्पत्ति बिना दूसरे के मानता है। अन्य दूसरा, संसार की चीजों को देखकर निर्णय लेता है और वहाँ अपने दृढ़ पग जमाना चाहता है।

ऐसा है कि पहले एक समय आध्यात्मिक पक्ष आगे बढ़ता है और फिर भौतिक पक्ष और ऐसा ही क्रम से एक के बाद एक तरंगाकार गति से होता रहता है। एक ही देश में विभिन्न ज्वार आते हैं। एक समय भौतिक आदर्श का चरम उभार आता है और इस जीवन में जो कुछ भी है – समृद्धता, ऐसी शिक्षा जो अधिक सुख एवं अन्न ला सके – वही एक बार वैभवशाली बन जाता है और तत्पश्चात् उसका क्षय और पतन हो जाता है। समृद्धता के साथ मानवता की समस्त ईर्ष्याओं एवं घृणाओं का जन्म होता है। प्रतिस्पर्धा एवं दयारहित क्रूरता इन दिनों के ध्येयवाक्य बन जाते हैं। फिर लोग सोचने लगते हैं कि जीवन की सारी योजना ही निष्फल है। यदि आध्यात्मिकता रक्षा करने आगे नहीं आती और डूबते हुए विश्व के आगे हाथ नहीं बढ़ाती तो विश्व का नाश हो जाता। ... नियमानुसार, आध्यात्मिकता एक ऐसे वर्ग के लोगों को लाती है जो संसार की शक्तियों पर अपने विशेषाधिकार का दावा करते हैं। इसका त्वरित प्रभाव भौतिकता की ओर प्रतिक्रिया होती है जो कि विशेषाधिकार के दावों पर विजय प्राप्ति के लिए द्वारों को खोल देती है। ऐसा समय जब कि न केवल किसी जाति की समस्त आध्यात्मिक शक्तियाँ बल्कि इसकी सभी भौतिक शक्तियाँ और विशेषाधिकार केवल कुछ लोगों के हाथों में केंद्रित हो जाते हैं; और ये कुछ लोग जनता की गर्दन पर सवार होकर उन पर राज करना चाहते हैं। समाज को अपनी सहायता स्वयं करनी पड़ती है और भौतिकता रक्षा करने आ जाती है”।⁴⁷

तरंग के रूप में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का यह बहुत स्पष्ट विवरण है। यह भौतिकता एवं आध्यात्मिकता की प्रवृत्तियाँ कैसे आगे बढ़ती हैं, इसकी व्याख्या करता है।

● समाज में भौतिकता की भूमिका :-

स्वामी विवेकानंद ने सामाजिक शक्तियों के रूप में भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के विकास को यथार्थतः प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार आध्यात्मिकता का भी पतन हो जाता है और यह विशेषाधिकारों एवं निरंकुशता के अत्यंत

खराब रूपों के लिए अवकाश प्रदान कर देता है। ऐसे समय में शोषित जनमानस की भौतिकता रक्षा करती है। स्वामी विवेकानंद के अतिरिक्त अन्य किसी भी धार्मिक नेता ने कभी भी भौतिकता के पक्ष में ऐसे विचार नहीं प्रकट किए। इसके साथ ही उन्होंने आध्यात्मिकता के पक्ष में भी यह कहा कि उसने भौतिकता से जन्में वर्ग-संघर्ष, द्वन्द्व से लोगों की रक्षा की। कार्ल मार्क्स ने तरंग का केवल एक पक्ष देखा। जब आधुनिक समाज में आध्यात्मिकता का पतन हो गया तो भौतिकता लोगों की पुरोहित वर्ग के शोषण से रक्षा करने आई। विवेकानंद ने एक समग्र चित्र प्रस्तुत किया। उन्हें इतिहास के प्रति अंतर्दृष्टि थी और उन्होंने अतीत में हुए ध्वंस से समाज को बचाने के लिए भौतिकता एवं आध्यात्मिकता की उपयोगिता को समझा। भौतिकता की पकड़ से बचाने के लिए आध्यात्मिकता की आवश्यकता है।

● सोरोकिन का लयबद्ध विकास का सिद्धांत :-

पिछली शताब्दी में सोरोकिन ने सामाजिक-सांस्कृतिक विकास का लयबद्ध सिद्धांत प्रस्तुत किया जो विवेकानंद के तरंग सिद्धांत के समान है। उनके अनुसार सामाजिक-सांस्कृतिक विकास के तीन प्रतिरूप हैं जो एक-दूसरे को लयबद्ध तरीके से समायोजित करते हैं। ये हैं : वैचारिक, आदर्शात्मक एवं एन्द्रिय। वैचारिक प्रतिरूप में आध्यात्मिकता एवं अतीन्द्रियता की प्रभुता, एन्द्रिय में भौतिकता का प्रभुत्व तथा आदर्शात्मक में दोनों का मिश्रण रहता है।⁴⁸

विवेकानंद एवं सोरोकिन दोनों ही समाज एवं संस्कृति में भौतिकवाद या ऐन्द्रिय विकास के स्तर पर विशेषाधिकारों के लिए वर्गों के मध्य संघर्ष को अत्यंत प्रखर मानते हैं। सोरोकिन इस स्तर पर संघर्ष को समझाते हुए कहते हैं – “एन्द्रियात्मकता की वृद्धि से प्रतिदिन का आरंभ सुख एवं समृद्धि के अधिकतम उपभोग के लिए लड़ाई से होता है। इससे प्रायः सम्प्रदायों, वर्गों, राज्यों, एवं समुदायों के मध्य संघर्षों को बढ़ावा मिलता है। इसका परिणाम विद्रोहों, युद्धों एवं वर्ग-संघर्षों और अत्यधिक क्रूरता में होता है जो कि समाज में सुरक्षा को नष्ट कर देता है और अंततः आर्थिक समृद्धि को असंभव बना देता है”।⁴⁹

इसी प्रकार सोरोकिन, विवेकानंद के समान ही धर्म की वैचारिक एवं आदर्शात्मक प्रतिरूप में भूमिका को आवश्यक मानते हैं। “यदि प्रकृति की शक्तियों पर विजय एन्द्रियात्मक संस्कृति का

कार्य है तो मनुष्य का मानवीकरण, उसकी ईश्वरीय राज्य में भागीदारी सदैव वैचारिक एवं आदर्शात्मक संस्कृति का कार्य रहा है”।⁵⁰ उनके अनुसार प्रकृति की गुलामी के स्थान पर प्रकृति की प्रभुता एन्द्रिय संस्कृति में जा जाती है एवं इसका स्थान मानव के नियंत्रण पर वैचारिक संस्कृति ले लेती है।

इस प्रकार विवेकानंद एवं सोरोकिन दोनों के अनुसार आध्यात्मिकता, समाज की मुख्य शक्ति है जैसे ही समाज इससे दूर होता है, उसकी ओर पुनः मुड़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

विकास या परिवर्तन को समझते समय विवेकानंद कमविकास के साथ कमसंकोच को भी आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार परिवर्तन की दो प्रक्रियाएं हैं। प्रथम है कमविकास जो कि वस्तुओं एवं घटनाओं का आंतरिक गुणधर्म है। दूसरा है कमसंकोच अर्थात् कार्यों का अपने कारणों में वापस लौटना।

● आंतरिक परिवर्तन :—

विवेकानंद के अनुसार प्रत्येक परिवर्तन आंतरिक होता है। आंतरिक शक्तियों के द्वारा नियंत्रित होता है। विवेकानंद के कथन द्रष्टव्य हैं — “वस्तुओं का स्वभाव है कि वे अपने से विकसित होती हैं। गति बाहर से नहीं बल्कि अंदर से आती है”।⁵¹ उनके विकास सिद्धांत का दूसरा मुख्य बिंदु कमसंकोच है।

● कमसंकोच :—

इसे समझाते हुए स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि “प्रत्येक कमविकास के पूर्व कमसंकोच होता है। हम जानते हैं कि ब्रह्माण्ड में सब समय कुल ऊर्जाओं का योग एक समान रहता है और वह पदार्थ अनश्वर है”।⁵² वे आगे कहते हैं कि “सबकुछ विषेश बीज से, किसी विषेश अवषेश से, किसी सूक्ष्म रूप से, आरंभ होता है; और विकसित होते हुए स्थूल से स्थूलतर होता जाता है; और फिर पुनः उसी सूक्ष्म रूप में लौटकर स्थित हो जाता है”।⁵³ सारी प्रक्रिया एक तरंग के समान है। इसे समझाते हुए विवेकानंद कहते हैं— “सृष्टि में सबकुछ इसी रूप में चलता है, एक तरंग उठती है, दूसरी गिरती है, फिर उठती है पुनः गिरती है ... ब्रह्माण्ड को एक मानकर यही नियम लागू करना चाहिए क्योंकि यह समरूप है”।⁵⁴ वे आगे

कहते हैं – “यह ब्रह्माण्ड पहले के चक्र के कमसंकोच का कमविकास है और चक्र भी पुनः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हुए पुनः संकुचित हो जाएगा और फिर इससे नया चक्र उत्पन्न होगा”।⁵⁵

सोरोकिन ने भी आंतरिक परिवर्तन को आवश्यक माना है। कोई भी बाह्य परिवर्तन केवल एक और स्तर टालना मात्र है। बाह्य कारकों से विकास की व्याख्या करना उचित न होगा क्योंकि यह अतार्किक एवं अनुभव विरुद्ध है। बाह्य परिवर्तन को परिवर्तन के लिए जिम्मेदार मानने से एक समस्या उत्पन्न होगी। यदि सभी बाह्य परिस्थितियां स्थिर हो जाएं तो परिवर्तन नहीं होगा। तब परिवर्तन की व्याख्या कैसे होगी ? अतः आंतरिक परिवर्तन को स्वीकार करना होगा। सोरोकिन कहते हैं— “किसी सामाजिक-सांस्कृतिक निकाय में आंतरिक परिवर्तन को मानना आवश्यक है क्योंकि यह यह आनुभविक रूप से समर्थित है। हम किसी भी ऐसे सामाजिक-सांस्कृतिक निकाय या घटना को नहीं जानते जो अपने अस्तित्व काल में या समय के साथ नहीं बदलता हो”।⁵⁶ अंततः वे कहते हैं – “जीवन कभी भी साम्य में रहता है। एक जीवित निकाय में पूर्ण साम्य कभी भी नहीं आता क्योंकि यदि आता है तो यह विध्वंसकारी होगा और इसका अर्थ होगा अवरुद्धता एवं मृत्यु”।⁵⁷

किंतु सोरोकिन इस तरह के तर्क की चरम परिणति तक पहुंचने में असमर्थ रहे जो कि कमसंकोच का सिद्धांत है। कमविकास के पूर्व कमसंकोच की अवस्था मानना चाहिए। बीज में वृक्ष विद्यमान है। विवेकानंद अपना निष्कर्ष निकालते हुए कहते हैं कि कुछ की भी उत्पत्ति शून्य से नहीं हो सकती। सबकुछ अनंत काल से विद्यमान है और अनंतकाल तक विद्यमान रहेगा”।⁵⁸

आंतरिक परिवर्तन संभव है क्योंकि कमसंकोच होता है। कमसंकोच के कारण ही समान सामाजिक-सांस्कृतिक रूप पुनः इतिहास में प्रकट होते हैं।

सोरोकिन के अनुसार सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया में रूपों की अनंत सम्भावनाएं नहीं हैं, क्योंकि अनंत सम्भावनाओं में लयबद्धता या पुनरावृत्ति नहीं है। सोरोकिन के अनुसार “पुनरावृत्ति न होने वाली लय वस्तुतः लय ही नहीं है। एक सीमित निकाय में परिवर्तन की अनंत सम्भावनाएं नहीं हो सकती हैं क्योंकि इसका अर्थ होगा कि सांत अपने में अनंत को समाहित किए हुए है जो कि तार्किक दृष्टि से असंगत है”।⁵⁹

सोरोकिन भी यह तो मानते ही हैं कि भौतिकता के समय भी आध्यात्मिकता कुछ लोगों में विद्यमान रहती है, बस उनकी बहुलता या प्रभुत्व नहीं होता है। इसका अर्थ है कि कुछ भी नष्ट नहीं होता है बस सूक्ष्म अवस्था में चला जाता है। यही कमसंकोच की अवस्था है। इसके विपरीत कमविकास होता है।

- **भिन्न राष्ट्रों के सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिरूप :-**

आंतरिक रूप से आगामी परिणाम उत्पन्न होते हैं। इसका अर्थ यह है कि किसी राष्ट्र में विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक प्रारूप होते हैं जिनसे ही आगामी परिणाम उत्पन्न होते हैं। बाह्य प्रभावों से ये परिणाम उत्पन्न नहीं होते हैं। विवेकानंद प्रत्येक राष्ट्र के भिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिरूपों को स्वीकार करते हैं। इनसे ही आने वाले दूसरे परिणाम उत्पन्न होते हैं। विवेकानंद को इसकी अवगति थी और उन्होंने इनको इंगित भी किया था। उनके अनुसार “यूरोप सदैव से सामाजिक शक्ति का केंद्र रहा है और एशिया आध्यात्मिक शक्ति का। यूनानी लोगों ने सदैव राजनैतिक स्वतंत्रता तो हिंदुओं ने आध्यात्मिक स्वतंत्रता की इच्छा की”⁶⁰ प्रत्येक सामाजिक-सांस्कृतिक निकाय का अपना एक विकास का मार्ग होता है। विवेकानंद के अनुसार राष्ट्रीय जीवन का संबंध चेतन शक्तियों से है न कि जड़ शक्तियों से। उनके अनुसार “हमें राष्ट्रीय जीवन की धारा को दृढ़ करना चाहिए और शेष सब इस पर छोड़ देना चाहिए”⁶¹

- **आनुभविक आधार :-**

विवेकानंद ने अपने सांस्कृतिक अध्ययन के ये निष्कर्ष भिन्न राष्ट्रों के भ्रमण के उपरांत बनाए इसलिए उनके इस चिंतन का आधार आनुभविक कहा जा सकता है। उनके अनुसार प्रत्येक राष्ट्र का अपना जीवन आदर्श होता है जो कि उसकी जीवनी शक्ति, उसका मेरुदण्ड होता है। भारत का मेरुदण्ड धर्म या आध्यात्मिकता है।⁶² यदि एक राष्ट्र दूसरे के जीवन आदर्श का अनुसरण करे तो वह राष्ट्र नष्ट हो जाएगा। भारतीय यदि यूरोप का अनुसरण करें तो वे नष्ट हो जाएंगे।⁶³ सोरोकिन इसे ही आंतरिक स्व-निश्चितीकरण कहते हैं। इसके अनुसार बाह्य शक्तियां किसी निकाय की आंतरिक सम्भावनाओं और इसकी सहज

नियति को बदल नहीं सकती हैं। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कोई परिवर्तन होता ही नहीं है। यह बाह्य प्रभावों को मूल धारा के अनुकूल आत्मसात कर लेती है।

● समाज एवं संस्कृति में बाह्य प्रभावों का आत्मसात किया जाना :—

जब कभी भी विदेशी आक्रमण या दूसरी संस्कृतियों से आर्थिक सम्बंध स्थापित होता है, तब विचारों का आदान-प्रदान होता है एवं बाह्य प्रभाव को आत्मसात कर लिया जाता है। विवेकानंद के अनुसार जब कभी भी किसी शक्तिशाली बाहरी शक्ति के द्वारा सैन्य आक्रमण होता है या आर्थिक सम्बंध बनता है तो शेष सारी जातियाँ उसके समक्ष नतमस्तक हो जाती हैं एवं एक संस्कृति के निर्माण की दिशा में लग जाती हैं। तब प्रत्येक जाति को अपने हिस्से का योगदान देना होता है फिर वह चाहे राजनैतिक, सामाजिक या आध्यात्मिक ही क्यों न हो। समग्र मानवीय ज्ञान में भारतीयों का योगदान आध्यात्मिक एवं दार्शनिक रहा है। यह योगदान फारसियों के साम्राज्य से भी पहले एवं उनके साम्राज्य के समय रहा; यूनानियों के उद्भव के समय रहा; एवं अंग्रेजों के उत्कर्ष के समय भी यही नियति दोहराई जाने वाली है। जैसे पश्चिम के संगठनात्मक एवं बाह्य सभ्यता के विचार हमारे राष्ट्र में उड़ले जा रहे हैं, चाहे हम उन्हें रखें या न रखें, वैसे ही भारतीय आध्यात्मिकता एवं दर्शन भी पश्चिम की जमीन में रोपे जा रहे हैं। कोई भी इन्हें नहीं रोक सकता, और हम भी पश्चिम से आयी हुई भौतिक सभ्यता को फैलने से नहीं रोक सकते। थोड़ी भौतिक सभ्यता हमारे लिए अच्छी है एवं पश्चिम के लिए थोड़ा आध्यात्मिकीकरण अच्छा है। इस प्रकार से दोनों में संतुलन बनेगा। यदि यूरोपियों के लिए अपनी शताब्दियों की संस्कृति को छोड़ना असंभव है तो भारतीयों के लिए भी ऐसा करना संभव नहीं है।⁶⁴

एकसमान पुनरावृत्ति असंभव है :—

यदि किसी समाज या संस्कृति के लिए अपने मूल स्वभाव को त्यागना असंभव है तो बिल्कुल एकसमान पुनरावृत्ति भी असंभव है। विवेकानंद के अनुसार धर्म भारत का मेरुदण्ड है, उसका मूल स्वभाव है। लेकिन इतिहास के भिन्न चरणों में धर्म के भिन्न रूप हमें देखने को मिलते हैं। जैसे प्राचीन काल में वैदिक यज्ञ-बलि का धर्म था जिसमें

दार्शनिक अद्वैतवाद का पुट भी शामिल था। बाद में इसका स्थान उपनिषदों का शुद्ध अद्वैतवाद ले लेता है। इसके बाद बौद्ध एवं जैन लोगों का उद्भव हुआ जिन्होंने वैदिक प्रमाण को अस्वीकार किया। फिर इसके बाद शंकराचार्य के द्वारा उपदेशित अद्वैतवादी धर्म के भिन्न रूप उत्कर्ष हुआ जिसमें दर्शन पर अधिक बल दिया। फिर इसके बाद नानक, कबीर एवं चैतन्य आदि के द्वारा विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों का सूत्रपात हुआ।⁶⁵ इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म की मूल प्रवृत्ति में भी कई सम्भावनाएँ विद्यमान हैं।

अतएव कहा जा सकता है कि समाज-संस्कृति के विकास का यह तरंग या चक्रीय सिद्धांत अपने में रेखीय सिद्धांत की विशेषता को भी शामिल किए रहता है। रेखीय सिद्धांत नवीनता पर जोर देता है। तरंग सिद्धांत मूल प्रवृत्ति एवं पुनरावृत्ति पर जोर देता है। लेकिन इस मूल प्रवृत्ति के अंदर नवीनता को भी यह स्थान देता है। विवेकानंद के अनुसार भारतीय समाज-संस्कृति के विकास में धर्म ही मूल प्रवृत्ति या स्वभाव है। इतिहास के विभिन्न चरणों में धर्म के विकास में हमें भिन्न भिन्न आयाम जुड़ते हुए दिखाई देते हैं, साथ ही मूल स्वभाव सुरक्षित रहता दिखाई देता है। यदि किसी भी बाह्य परिवर्तन को आत्मसात किया जाना है तो यह परिवर्तन इस मूल स्वभाव को अक्षुण्ण रखते हुए ही किया जाना है, अन्यथा वह बाह्य प्रभाव भी अंकुरित नहीं हो सकेगा। मूल राष्ट्रीय धारा के अनुकूल ही शेष दूसरे प्रभावों को आत्मसात करना उचित है। धर्म को अक्षुण्ण रखते हुए राजनीति, आर्थिक क्रियाकलाप एवं संगठनात्मक षक्ति को विकसित किया जाना उचित है, अन्यथा यह प्रयास फलदायी नहीं होगा। विवेकानंद के अनुसार विकास या परिवर्तन की यही सही व्याख्या है।

● सामाजिक प्रगति का आधुनिक दृष्टिकोण :-

मैकायवर के अनुसार आधुनिक काल में प्रगति की संकल्पना का आधार किसी निश्चित दिशा में परिवर्तन के द्वारा निर्णीत होता है, न कि वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा।⁶⁶ पूर्व उल्लेखित सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के सम्बंध में प्रगति की इस संकल्पना को विवेकानंद स्वीकार नहीं करते हैं। विवेकानंद किसी भी ऐसी संकल्पना को स्वीकार नहीं करते हैं जो वैज्ञानिक न हो; जिसका आनुभविक आधार न हो। विवेकानंद केवल एक देशीय विकास को स्वीकार नहीं करते हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि कुछ

समय के बाद आध्यात्मिक प्रवृत्ति का स्थान भी भौतिकवादी प्रवृत्ति ले लेती है। फिर कुछ काल के बाद भौतिकवादी प्रवृत्ति के स्थान पर आध्यात्मिक प्रवृत्ति का प्रभुत्व हो जाता है।

ये चक्र क्यों आते हैं ? विवेकानंद ने इसका संतोषजनक उत्तर कमविकास एवं कमसंकोच के सिद्धांतों द्वारा दिया है। यह उल्लेखनीय है कि विवेकानंद के ये सिद्धांत तब प्रतिपादित किए जब रेखीय सिद्धांत को व्यापक समर्थन प्राप्त था। विवेकानंद के द्वारा विकास का जो सिद्धांत उन्नीसवीं शताब्दी में दिया गया, वह बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक विकास एवं सामाजिक अध्ययन से पुष्ट हुआ। उनका तरंग सिद्धांत एवं कमसंकोच का सिद्धांत समाजशास्त्र के क्षेत्र में उनका उल्लेखनीय योगदान है।

• आरोपित सुधार नहीं बल्कि स्वाभाविक विकास :—

आंतरिक परिवर्तन एवं कमसंकोच के सिद्धांत पर अत्यधिक जोर दिया है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं कि सामाजिक परिवर्तन चेतन परिवर्तन है, यांत्रिक नहीं। अतएव किसी समाज के लिए आरोपित किए गए सुधारों से परिवर्तन नहीं आता है। प्रत्येक परिवर्तन अंदर से आता है। बाहर से किया गया परिवर्तन दीर्घ काल तक नहीं कायम रहता है। यही कारण है कि विवेकानंद सुधारों में विश्वास नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि “मैं सुधारों में विश्वास नहीं करता हूँ, मैं विकास में विश्वास करता हूँ”।⁶⁷ विकास की प्रक्रिया क्रमिक होती है। यह स्वाभाविक प्रवृत्ति या आंतरिक संभावना का प्रकटन है। समाज गतिशील है इसलिए यह अपने आप को अभिव्यक्त करता है एवं विकसित होता है। इन नैसर्गिक नियमों के आधार पर समाज काम करता है।

प्रसिद्ध इतिहासकार स्पेंग्लर एवं टॉयनबी भी ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया में चक्रीय सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। टॉयनबी के अनुसार किसी सभ्यता के जन्म या उत्पत्ति का निर्धारण विपरीत परिस्थितियों में मिली चुनौतियों में किए कर्मों से होता है। किसी सभ्यता के जन्म के बाद उसकी प्रगति समाज में कम संख्या में मौजूद सृजनात्मक व्यक्तियों के द्वारा होती है। समाज भी जीवित व्यक्तियों के समान उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय को प्राप्त करता है। अतएव सामाजिक विकास भी एक चेतन प्रक्रिया है। टॉयनबी यह मानते हैं कि मानवता का विकास मानव के आध्यत्मीकरण में सन्निहित है।⁶⁸

विवेकानंद के सामाजिक विकास के सिद्धांत एवं स्पेंग्लर, टॉयनबी एवं सोरोकिन के विचारों में पर्याप्त समानता है। यद्यपि विवेकानंद के ये विचार मौलिक एवं भारतीय दर्शन, सांख्य एवं स्वयं के अनुभव पर आधारित हैं।

5.4: आदर्श समाज व्यवस्था :—

स्वामीजी ने अपने चेन्नई के प्रसिद्ध व्याख्यान में कहा था — इस देश को आर्थिक और राजनैतिक विचारों से आप्लावित करने के पूर्व आध्यात्मिक तथा धार्मिक विचारों से आप्लावित करना होगा। इसके लिए आवश्यकता है कि सर्वप्रथम ऋषियों द्वारा जो आदर्श समाज के सामने रखा गया, उसे प्रत्येक मनुष्य को अपने व्यक्तिगत जीवन तथा राष्ट्र के समक्ष रखना होगा। किन्तु अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस देश का आदर्श क्या है? जिससे एक आदर्श समाज व्यवस्था की स्थापना की जाए। स्वामीजी रामकृष्ण संघ की स्थापना करते समय उस वैदिक आदर्श को बड़े सरल संस्कृत शब्दों में इस प्रकार से व्यक्त किया — ‘आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च’ अर्थात् अपनी मुक्ति और जगत् का हित। भारतवर्ष में जन्म लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति, जो वैदिक संस्कृति में विश्वास करता है, वेदान्त में विश्वास करता है, भारतीय संस्कृति में विश्वास करता है, उसके जीवन का यही लक्ष्य है, यही कर्तव्य है — आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय। यही इस देश का आदर्श है। मानव जीवन का आदर्श भोग नहीं, बल्कि योग है। वह योग क्या है? इसी जीवन, मृत्यु के पूर्व ही अपनी आत्मा की अनुभूति कर लेना, ईश्वर का दर्शन पा लेना — यही भारतीय राष्ट्र का आदर्श है। मोक्ष का यह आदर्श जब तक हर भारतीय के सामने नहीं रखा जाएगा, तब तक आप इस देश से भ्रष्टाचार दूर नहीं कर सकते, अनाचार दूर नहीं कर सकते, अव्यवस्था को दूर नहीं कर सकते। यदि व्यक्ति के सामने मोक्ष का आदर्श न रखा जाय, तो पृथ्वी के किसी भी देश के सामने, चाहे या अनचाहे, भोग का आदर्श ही प्रकट होगा। मोक्ष का आदर्श यदि नहीं है, तो मानव-प्रकृति निश्चित रूप से उसे भोग की ओर ले जाएगी।

● भारत के राष्ट्रीय आदर्श : त्याग एवं सेवा :—

स्वामी विवेकानंद के अनुसार, त्याग और सेवा — ये ही भारत के आदर्श हैं। स्वामीजी ने बताया कि सर्वप्रथम हमें अपने समक्ष मोक्ष का आदर्श रखना पड़ेगा और उसके बाद जगत् हिताय च — जगत् का हित। मोक्ष का आदर्श अनादि काल से इस देश में है और उसकी प्राप्ति के विभिन्न मार्ग हैं। एक समय था जब लोग अपनी मुक्ति के लिए समाज से अलग होकर हिमालय में किसी गुफा या वन-कन्दराओं में जाकर साधना करके मुक्ति पाते थे। एक समय था जब लोग ऐसा करते थे। आज भी कुछ लोग ऐसा करते हैं, पर करोड़ों में कदाचित ही कोई एक इसके योग्य हो। पर स्वामीजी जी ने अपने गुरुदेव से सीखा हुआ एक नवीन मार्ग विश्व व्यवस्था के समक्ष रखते हैं। कंदराओं के वेदान्त को घरों में नगरों में लाने का विचार उन्होंने अपने गुरुदेव से सीखा था। गुरुदेव ने कहा था— शिवज्ञान से जीवसेवा करो। हर प्राणी शिव का रूप है। हमारे समक्ष जो जीव चल-फिर रहें हैं, उनकी सेवा के द्वारा ही हम मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। स्वामीजी ने कहा कि यह मानव-देह ही ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है। इस मनुष्य में विराजमान ईश्वर की सेवा द्वारा अपनी मुक्ति का सन्धान करो, अपनी मुक्ति का मार्ग साधे। आज सेवा का यह आदर्श हमारे सामने नहीं है, इसी कारण इतना भ्रष्टाचार, इतना भेगवाद प्रबल हो रहा है। अपने ही राष्ट्र को क्षति पहुँचाकर, उसकी पीठ में छूरा भोंककर हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि के लिए तत्पर हैं। ऐसा क्यों? इसलिए कि आज माक्ष का आदर्श नहीं है, बल्कि भोग का आदर्श हमारे सामने है और चूँकि धन ही भोग का साधन है, इसलिए येन-केन प्रकारेण धन कमाने के लिए, भोग की पूर्ति के लिए सम्पदा अर्जित करने के लिए हम गृहित-से-गृहित कर्म करने में भी संकोच नहीं करते हैं।⁶⁹

किसी राजनीति के द्वारा अथवा किसी लोकसभा या विधानसभा के कानून द्वारा मनुष्य के चरित्र का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस देश के कानून में ऐसी व्यवस्था नहीं है कि अनुचित उपाय से धन कमानेवालों को शासित किया जाय। उसका क्रियान्वयन नहीं हो पा रहा है। अब प्रश्न उठता है कि उसका क्रियान्वयन क्यों नहीं हो पा रहा है ? इसलिए कि दण्डविधान की व्यवस्था करने वाले के समक्ष मोक्ष का आदर्श नहीं है। उसके सामने भी भोग

का आदर्श है और जब ऐसा है तो भी धन—सम्पत्ति की आवश्यकता है। अब यदि धन—सम्पत्ति के अर्जन में कानून सहायता नहीं करता, तो उसकी ओर ध्यान न देने में उसे कोई संकोच नहीं होता। इसलिए स्वामी जी की यह बात महत्वपूर्ण है कि हमारा आदर्श मुक्ति या मोक्ष है और इस मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है सेवा। कैसी सेवा करे ? सेवा का एकमात्र उपाय है एकमात्र मार्ग है—दूसरों के लिए जीना। अपने लिए सभी जीते हैं, पर जो दूसरों के लिए जीता है, उसी का जीवन धन्य है। स्वामी जी ने मैसूर के महाराजा को एक पत्र लिखा था। उसके अन्तिम अंश में उन्होंने लिखा— “प्रिय महाराज, जीवन क्षणभंगुर है, जीवन के ये भोग क्षण—स्थायी हैं; वे ही धन्य है जो दूसरों के लिए जीते हैं, बाकी लोग तो जीते हुए भी मुर्दे के समान हैं”।⁷⁰ आज देश की वही जीवन्मृत अवस्था हो गयी है और इसलिए हो गयी है कि स्वार्थ के प्रबल होने के कारण हमारा ध्यान उस ओर नहीं जाता। अतः स्वामी जी ने एक राजमार्ग दिखाया और वह है कि दूसरों के लिए जीयो। समाज में जो दुःखी है, निर्धन है, उनकी सेवा करो। पहले के ऋषियों ने कहा था— मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव। स्वामी जी ऋषि थे और ऋषि—परम्परा में उन्होंने नया उपनिषद् देते हुए कहा था— दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव, रूग्णदेवो भव— गरीब को देवता समझो, मूर्ख को देवता समझो, रोगी को देवता समझो और देवता समझकर उसकी सेवा करो। आज देश में जातीयता के विरुद्ध अनेक नारे सुनाई देते हैं। जगह—जगह भावात्मक एकता के सम्मेलन किए जाते हैं और निरर्थक चर्चाएँ की जाती हैं। एक प्रचलित कहावत है — “मर्ज बढ़ता ही गया, ज्यों ज्यों दवा की”। भारत देश की ठीक यही स्थिति है। हर जिले और हर गाँव में जातीयता तथा अन्य फूट डालने वाली प्रवृत्तियाँ तीव्र हो रही हैं। व्यक्ति नहीं जानता कि उसे क्या करना है और उसका साध्य क्या है, इसलिए उसके सारे उपाय निष्फल हो रहे हैं। जैसे एक प्रवीण चिकित्सक रोग के मूल कारण को बड़ी कुशलता से ढूँढ निकालता है, वैसे ही स्वामीजी ने हमारी वर्तमान स्थिति के कारणों की बड़ी स्पष्ट विवेचना की है।

● जातिभेद का प्राकृतिक आधार :—

जातिभेद के प्राकृतिक आधार के बारे में स्वामी विवेकानंद

कहते हैं —

“समाज में भिन्न-भिन्न अभिरुचियों के लोग रहते हैं, इसलिए जाति-भेद उत्पन्न होना स्वाभाविक है। सभी एक ही कार्य को समान कौशल से नहीं कर सकते हैं। यदि कोई समाज के नियमन की कला में पारंगत होता है, तो दूसरा जूते बनाने की कला में दक्ष होता है। किन्तु इसी आधार पर हम एक को दूसरे से श्रेष्ठ नहीं कह सकते, क्योंकि एक दूसरे की कला एक दूसरे के लिए दुःसाध्य है।.....जाति-भेद तो हमेशा रहेंगे। उन्हें तुम भी नष्ट नहीं कर सकते। जहाँ मनुष्य समाज में रहेगा, वहाँ जाति-भेद आवश्यक रूप से होगा। फिर भी, किसी विशेष जाति को किसी भी कारण से दूसरी जाति की अपेक्षा विशेष अधिकार नहीं मिलना चाहिए। हमें विशेषाधिकार के पागलपन को बिल्कुल निकाल देना होगा। प्रत्येक व्यक्ति में एक ही परमेश्वर व्याप्त है; भले ही वह कोयला बेचे या वेदान्त के तत्त्वों का ज्ञाता हो। हमें इसी बात को प्रसारित करने की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है”।⁷¹

विवेकानंद के अनुसार किसी भी अन्य देशों की अपेक्षा भारत की समस्याएँ अधिक जटिल हैं। जाति, धर्म, भाषा, शासन-प्रणाली ये सभी मिलकर ही एक राष्ट्र की निर्माण करते हैं। यदि एक एक जाति को लेकर इस राष्ट्र से तुलना की जाए तो संसार के अन्य राष्ट्र जिन उपादानों से संगठित हुए हैं, वे संख्या में यहाँ के उपादानों से कम हैं। यहाँ आर्य, द्रविड़, तातार, तुर्क, मुगल, यूरोपिय अन्य सभी प्रकार के लोग हैं, मानो संसार की समस्त जातियाँ इस भूमि में अपना अपना खून मिला रही हैं। भाषा का यहाँ एक विचित्र ढंग का जमावड़ा है, आचार-व्यवहारों के सम्बन्ध में दो भारतीयों में जितना अन्तर है, उतना पूर्वी और यूरोपिय जातियों में नहीं। इस सम्बन्ध में एक कहावत प्रचलित है, जो कि इस प्रकार से है— कोस कोस पर बदले पानी और चार कोस पर वाणी, अर्थात् भारत एक ऐसा देश है जहाँ हर कोस पर पानी का स्वाद बदल जाता है और चार कोस पर भाषा।

भारतीय जाति समस्या की मीमांसा इसी प्रकार होती है कि उच्च वर्णों को गिराना नहीं होगा, ब्राह्मणों का अस्तित्व लोप करना नहीं होगा। भारत में ब्राह्मणत्व ही मनुष्यत्व का चरम आदर्श है। इसे शंकराचार्य ने गीता के भाष्यारम्भ में बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है, जहाँ कि उन्होंने ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिए प्रचारक के रूप में कृष्ण के आने का कारण बतलाया है। यही उनके अवतरण का महान् उद्देश्य था। इस ब्राह्मण का, इस ब्रह्मज्ञ पुरुष का,

इस आदर्श और सिद्ध पुरुष का रहना परमावश्यक है, इसका लोप कदापि नहीं होना चाहिए। और इस समय इस जाति-भेद की प्रथा में जितने दोष हैं, उनके रहते हुए भी, हम जानते हैं कि हमें ब्राह्मणों को यह श्रेय देने के लिए तैयार रहना होगा कि दूसरी जातियों की अपेक्षा उन्हीं में से अधिसंख्यक मनुष्य यथार्थ ब्राह्मणत्व को लेकर आये हैं।⁷²

गुण तथा वर्णों में सार्वदेशिक सम्बंध :-

तीन गुणों एवं वर्णों के मध्य सार्वदेशिक सम्बंध की ओर विवेकानंद ने ध्यान दिलाया है। सत्व, रज, तम इन तीन गुणों के तारतम्य से चार वर्ण उत्पन्न होते हैं और ये चार वर्ण अनादि काल से हैं। काल के प्रभाव से और देश भेद से किसी विशेष वर्ण की शक्ति या संख्या दूसरों की अपेक्षा बढ़ या घट सकती है, परन्तु संसार के इतिहास का अनुशीलन करने से प्रतीत होता है कि प्राकृतिक नियमों के वश चारों वर्ण क्रम से पृथ्वी का भोग करेंगे।⁷³

विवेकानंद ने वर्णों के प्रभुत्व को युगों में विभाजित किया है।

प्रथम युग में सभी जातियों के समाज की बागडोर ब्राह्मण या पुरोहित के हाथ में हुआ करती थी। दूसरे युग में क्षत्रियों का अर्थात् राजकुल या एकाधिकारी राजाओं का अभ्युत्थान हुआ। वैश्यों के या वाणिज्य से धनवान होनेवाले सम्प्रदाय के हाथों में समाज का शासन-सूत्र पहले-पहल इंग्लैण्ड-प्रमुख पाश्चात्य देशों में आया है।

वैदिक पुरोहित मन्त्रबल से बलवान् थे। उनके मन्त्रबल से देवता आहूत होकर भोज्य और पेय ग्रहण करते और यजमानों को वांछित फल प्रदान करते थे। इससे राजा और प्रजा दोनों ही अपने सांसारिक सुख के लिए इन पुरोहितों का मुँह जोहा करते थे। राजा सोम पुरोहित का उपास्य था। इसलिए सोमाहुति चाहनेवाले देवता जो मन्त्र से ही पुष्ट होते और वर देते थे, पुरोहितों पर प्रसन्न थे। दैव-बल के ऊपर मनुष्य-बल कर ही क्या सकता है ? मनुष्य-बल के केन्द्र राजा लोग भी तो उन्हीं पुरोहितों की कृपा के भिखारी थे। उनकी कृपादृष्टि ही राजाओं के लिए काफी सहायता थी और उनका आशिर्वाद ही सर्वश्रेष्ठ राजकर था। पुरोहित लोग राजाओं को कभी डर दिखा आज़ाएँ देते, कभी मित्र बन सलाहें देते और

कभी चतुर नीति के 'जाल बिछा उन्हें फँसाते थे। इस प्रकार उन लोगों ने राजकुल को अनेक बार अपने वश में किया। राजाओं को पुरोहितों से डरने का सबसे मुख्य कारण यह था कि उनका यश और उनके पूर्वजों की कीर्ति पुरोहितों की ही लेखनी के अधीन थी। राजा अपनी जिन्दगी में कितना ही तेजस्वी और कीर्तिमान क्यों न हो, अपनी प्रजा का माँ-बाप ही क्यों न हो, पर उसकी वह अत्युज्ज्वल कीर्ति समुद्र में गिरी हुई ओस की बूँदों की तरह काल-समुद्र में सदा के लिए विलीन हो जाती थी। केवल अश्वमेधादि बड़े-बड़े याग-यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले तथा बरसात के बादलों की तरह ब्राह्मणों के ऊपर घन की झड़ी लगाने वाले राजाओं के ही नाम इतिहास के पृष्ठों में पुरोहित-प्रसाद से जगमगा रहे हैं। आज ब्राह्मण्य जगत् में देवताओं के प्रिय 'प्रियदर्शी धर्माशोक' का केवल नाम भर रह गया है, पर परिक्षित जनमेजय से बालक, युवा, वृद्ध— सभी भाँति परिचित हैं।

क्या यह नियमों के अभाव के कारण था? नहीं। कर-संग्रह, सैन्य-प्रबन्ध, विचार-सम्पादन, दण्ड-पुरस्कार आदि सब विषयों के लिए सैंकड़ों नियम थे, पर सबकी जड़ में वही ऋषि-वाक्य, दैव-शक्ति अथवा ईश्वर की प्रेरणा थी। न उन नियमों में जरा भी हेरफेर हो सकता था, और न प्रजा के लिए यही सम्भव था कि वह ऐसी शिक्षा प्राप्त करती, जिससे आपस में मिलकर लोकहित के काम कर सकती, अथवा राज-कर के रूप में लिए हुए अपने धन पर अपना सत्त्व रखने की बुद्धि उसमें उत्पन्न होती, या यही कि उसके आय-व्यय के नियमन करने का अधिकार प्राप्त करने की इच्छा उसमें होती।

चीनी, सुमेरी, बेबिलोनी, मिस्त्र, कैल्डियानिवासी, आर्य, ईरानी, यहूदी और अरबी आदि जातियों में समाज की बागडोर प्रथम युग में ब्राह्मण या पुरोहित के हाथ में थी। दूसरे युग में क्षत्रियों का अर्थात् राजकुल या एकाधिकारी राजाओं का अभ्युत्थान हुआ।

वैश्यों के या वाणिज्य से धनवान होने वाले सम्प्रदाय के हाथों में समाज का शासन-सूत्र पहले-पहल इंग्लैण्ड-प्रमुख पाश्चात्य देशों में आया है।

पुराने समय में राजघराने के लोग ही नौकरों और अन्य साधारण लोगों द्वारा व्यापार कराते थे और उसका लाभ स्वयं प्राप्त करते थे। इन इने-गिने मनुष्यों को छोड़कर

दूसरे किसी को देश-शासन आदि के कामों में मुँह खोलने का अधिकार नहीं था। मिस्त्र आदि प्राचीन देशों में ब्राह्मण-शक्ति थोड़ा ही समय तक प्रधान शक्ति रही। उसके बाद वह राज-शक्ति के अधिन और उसकी सहकारी बनकर रहने लगी। चीन में कन्फ्यूशस की प्रतिभा द्वारा गठी हुई राज-शक्ति ढाई हजार वर्षों से भी अधिक काल से पुरोहित-शक्ति को अपनी इच्छानुसार चलती आ रही है। गत दो सौ वर्षों से तिब्बत के सर्वग्रासी लामा लोग राजगुरु होकर भी सब प्रकार से चीनी सम्राट के अधीन होकर दिन काट रहे हैं।⁷⁴

भारत में राज-शक्ति की जय और उन्नति दूसरे पुराने सभ्य देशों से बहुत दिनों बाद हुई। इसलिए मिस्त्री, बेबिलोनी और चीनी साम्राज्यों के बहुत दिनों बाद भारत साम्राज्य स्थापित हुआ। एक यहूदी जाति में राज-शक्ति अनेक प्रयत्न करने पर भी पुरोहित-शक्ति पर अपना अधिकार बिल्कुल न जमा सकी। वैश्यों ने भी उस देश में कभी प्राधान्य नहीं पाया। प्रजा ने पुरोहितों के बन्धनों से छुटने की चेष्टा की थी। परन्तु भीतर ईसाई आदि धर्म-सम्प्रदायों के संघर्ष से और बाहर बलवान राम साम्राज्य के दबाव से वह मृतप्राय हो गयी।

जिस प्रकार पुराने युग में राज-शक्ति के सामने ब्राह्मण-शक्ति को बहुत प्रयत्न करने पर भी हार माननी पड़ी, उसी प्रकार वर्तमान युग में हुआ। इस नयी वैश्य-शक्ति के प्रबल आघात से कितने ही राजमुकुट धूल में जा मिले और कितने ही राजदण्ड सदा के लिए टूट गये। जो कोई सिंहासन सभ्य देशों में किसी तरह बच गया, वह इसलिए कि इससे इन्हीं नमक, तेल, चीनी या सुरा बेचनेवालों को अपने कमाये प्रचुर धन से अमीर और सरदार बनकर अपना गौरव दिखाने का मौका मिला।

वह नयी महाशक्ति जिसका राजपथ पहाड़ों जैसी ऊँची तरंगोंवाला समुद्र है, जिसके प्रभाव से बिजली बात की बात में एक मेरु से दूसरे मेरु तक खबर ले जाती है, जिसके प्रबन्ध से एक देश का समान दूसरे देश में अनायास ही पहुँच जाता है और जिसके आदेश से सम्राट तक थरथर काँपते हैं, संसार समुद्र के उसी सर्वजयी वैश्य-शक्ति के अभ्युत्थानरूपी महातरंग की चोटीवाले सफेद झागों में इंग्लैण्ड का सिंहासन विराजमान है।⁷⁵

इसलिए भारत पर इंग्लैण्ड की विजय— जैसा हम लोग बचपन में सुना करते थे, ईसा मसीह या बाइबिल की विजय नहीं है, और न पठान—मुगल आदि बादशाहों की विजय की भाँति ही है। ईसा मसीह, बाइबिल, राजप्रसाद, अनेक प्रकार से सजी सजायी बड़ी—बड़ी सेनाओं का सगर्व कूच तथा सिंहासन का विशेष आडम्बर आदि इन सबके पीछे असली इंग्लैण्ड विद्यमान है। इसलिए ऊपर कहा है कि भारत पर इंग्लैण्ड का अधिकार एक बड़ी ही अपूर्व घटना है। इस नयी महाशक्ति के संघर्ष से भारत में कौन—कौन विप्लव और उसके फलस्वरूप क्या—क्या नये परिवर्तन होंगे, इसका भारत के पूर्वकालिक इतिहास से अनुमान करना भी कठिन है।

यह पूर्व उद्धृत है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों ही वर्ण यथाक्रम पृथ्वी का भोग करते हैं। प्रत्येक वर्ण के प्रभुत्व काल में कुछ हितकर और कुछ अहितकर काम हो जाया करते हैं।

पुरोहित—शक्ति बुद्धिबल पर ही खड़ी है, न कि बाहुबल पर। इसलिए पुरोहितों के प्राधान्य के साथ साथ विद्या का प्रचार होता है। इन्द्रियों की जहाँ गति नहीं, उस आध्यात्मिक जगत् की बात जानने और वहाँ की सहायता पाने के लिए मनुष्य सदा व्याकुल रहते हैं। साधारण लोगों का वहाँ प्रवेश नहीं। संयमी, इन्द्रियों के पार देखने वाले और सत्त्वगुणी पुरुष ही उस राज्य में जाते हैं, वहाँ का समाचार लाते हैं और दूसरों को मार्ग दिखाते हैं। ये ही लोग पुरोहित हैं और मनुष्य समाज के प्रथम गुरु, नेता और परिचालक हैं।⁷⁶

देवज्ञ पुरोहित देवता के समान पूजे जाते हैं। एड़ी चोटी का पसीना एक कर उन्हें जीविका नहीं प्राप्त करनी पड़ती। सब भोगों में अग्र भाग देवताओं को प्राप्य है, और देवताओं के मुख पुरोहित हैं। समाज उन्हें जाने अनजाने प्रचुर अवकाश देता है और इससे वे लोग चिन्ताशील हुआ करते हैं। इसी कारण पहले पहल विद्या की उननति पुरोहितों के प्राधान्य काल में होती है। दुर्धर्ष क्षत्रियसिंह और भयकम्पित प्रजा—अजा—यूथ के बीच में पुरोहित दंडायमान रहते हैं। सिंह की सब कुछ नाश करने की इच्छा पुरोहितों के हाथ के अध्यात्म बल रूपी कशाघात से रोकी जाती है। धन—जन के मद से मत्त राजाओं की यथेच्छाचार रूपी आग

की लपट सब किसी को जला सकती है, परन्तु धन—जनविहीन, तपोबल मात्र का भरोसा रखने वाले पुरोहितों के वचन रूपी पानी से वह आग बुझ जाती है। इनके प्रभुत्व काल में सभ्यता का प्रथम आविर्भाव, पशुत्व के ऊपर देवत्व की प्रथम विजय, जड़ के ऊपर चैतन्य का प्रथम अधिकार और प्रकृति के खिलौने, मिट्टी के लोंदे जैसे मनुष्य शरीर में छिपे हुए ईश्वरत्व का प्रथम विकास होता है। जड़ और चैतन्य को पहले पहल अलग करने वाले, इहलोक और परलोक को मिलाने वाले, देव और मनुष्य के दूत, एवं राजा और प्रजा के बीच के पुल यही पुरोहित है। कितने ही कल्याणों के अंकुर इन्हीं के तपोबल, इन्हीं के विद्या—प्रेम, इन्हीं के त्याग और इन्हीं के प्राण—सिचन से पनपते हैं। इसलिए सब देशों में पहली पूजा इन्हींने पायी है और इसलिए इनकी स्मृति भी हमलोगों के लिए पवित्र है।⁷⁷

पर साथ ही दोष भी हैं। प्राण स्फूर्ति के साथ ही साथ मृत्युबीज भी बोया जाता है। अन्धकार और प्रकाश साथ ही साथ चलते हैं। बहुत से ऐसे प्रबल दोष हैं, जो उचित समय पर यदि दूर न किये जायँ तो, समाज के विनाश के कारण हो जाते हैं। स्थूल पदार्थों द्वारा शक्ति का विकास सब कोई देखते हैं। अस्त्र—शस्त्र का छेदना, अग्नि आदि का जलाना या दूसरी क्रिया — ये सब बातें स्थूल प्रकृति के प्रबल संघर्ष में आकर सब कोई देखते और समझते हैं। इनमें किसी को कोई सन्देह नहीं होता है, मन में दुविधा तक नहीं रहती है। परन्तु जहाँ शक्ति का आधार या विकास—स्थान केवल मानसिक है, जहाँ बल किसी शब्द में या उसके विशेष उच्चारण या जप में है अथवा किसी दूसरे मानसिक प्रयोग में है, वहाँ प्रकाश अन्धकार के साथ मिला रहता है। वहाँ विश्वास का घटना और बढ़ना स्वाभाविक है। प्रत्यक्ष में भी कभी कभी वहाँ सन्देह हो जाता है। जहाँ रोग, शोक और भय को दूर करने या वैर साधने के लिए साधारण प्रत्यक्ष स्थूल उपायों को छोड़कर केवल स्तम्भन, उच्चाटन, वशीकरण या मारण आदि का आश्रय लिया जाता है, वहाँ स्थूल और सूक्ष्म के बीच के इस कुहरे से ढके रहस्यमय जगत् में वास करने वालों के मन में भी मानो आप से धुंध छा जाती है। ऐसे मन के सामने सरल रेखा प्रायः पड़ती ही नहीं। यदि पड़ती भी है, तो मन उसे टेढ़ी कर लेता है। इसका फल यह होता है कि कपटता, हृदय की घोर संकीर्णता, अनुदारता और सबसे अधिक हानिकारक प्रचण्ड ईर्ष्या से पैदा हुई असहिष्णुता उनमें आ जाती है। पुरोहित के मन में यह

विचार स्वाभाविक उठता है कि जिस बल से देवता मेरे वश में हैं, रोग आदि के ऊपर मेरा अधिकार है, भूत-प्रेतादि के ऊपर मेरी विजय है, और जिसके बदले मुझे संसार की सुख – स्वच्छन्दता और ऐश्वर्य प्राप्त हैं, उसे मैं दूसरे को क्यों दूँ ? फिर यह बल बिल्कुल मानसिक है। इसे छिपाने में सुविधा कितनी है ! इस घटना चक्र में पड़कर मनुष्य का स्वभाव जैसा हो सकता है, वैसा ही हो जाता है; सदा आत्म-गोपन का अभ्यास करते करते स्वार्थपरता और कपटता आ जाती है और फिर, उनके विषैले फल। कुछ समय बाद इस आत्म-गोपन की प्रतिक्रिया भी उन पर आ पड़ती है। बिना अभ्यास और वितरण के प्रायः सभी विद्याएँ नष्ट हो जाती हैं और जो बच भी जाती हैं, वे अलौकिक दैवी उपाय से प्राप्त समझी जाने के कारण उनके सुधारने का प्रयत्न भी व्यर्थ समझा जाता है, नयी विद्या सीखना तो अलग रहा। उसके बाद वह विद्याहीन, पुरुषार्थहीन और अपने पूर्वजों का नाम मात्र रखनेवाला पुरोहित-कुल अपने पैतृक अधिकार, पैतृक सम्मान और पैतृक आधित्यपत्य को बचाये रखने के लिए जिस-जिस उपाय से प्रयत्न करता है। इसलिए उसका अन्य जातियों के साथ बड़ा विरोध होता है।⁷⁸

प्राकृतिक नियमानुसार, जराजीर्ण की स्थान-पूर्ति करने के लिए नव जाग्रत शक्ति स्वाभाविक प्रचेष्टा के फलस्वरूप यह संग्राम आ उपस्थित होता है। इस संग्राम का फल ऊपर बताया जा चुका है।

उन्नति के समय में पुरोहित का जो संयम, तप और त्याग सत्य की खोज में पूरा पूरा लगा था, वही अवनति के पूर्व काल में केवल भोग्य के संग्रह करने एवं अधिकार के फैलाने में व्यय होने लगा। जिस शक्ति का आधार होने के कारण उनकी पूजा होती थी, वही शक्ति अब स्वर्ग से नरक की ओर जा गिरी। अपने उद्देश्य को भूलकर पुरोहित-शक्ति रेशम की कीड़ों की तरह अपने ही जाल में आप फँस गयी। जो बेड़ी दूसरों के पैरों के लिए अनेक पीढ़ियों से बड़े यत्न से गढ़ी जा रही थी, वही अब पुरोहितों की ही गति को सैंकड़ों फेरों से रोकने लगी। बाह्य शुद्धि के लिए छोटे-छोटे आचारों का जो जाल समाज को बुरी तरह फँसा रखने के लिए चारों ओर फैलाया गया था, उसी की रस्सियों में सिर से पैर तक फँसकर पुरोहित-शक्ति हताश सी हो गयी है। उससे निकलने का कोई उपाय भी नहीं दिखता है। इस जाल को काटने से पुरोहितों की पुरोहिताई बचती नहीं। जो पुरोहित इस कठोर बन्धन में अपनी

स्वाभाविक उन्नति की इच्छा को बहुत दबी हुई देखते हैं, और इसलिए इस जाल को काटकर अन्य जातियों की वृत्ति का अवलम्बन कर धन उपार्जन करते हैं, उनकी पुरहिताई के अधिकार को समाज तुरन्त छीन लेता है। आधी यूरोपिय पोशाक और रहन-सहन, तथा सँवारे हुए बाल रखने वाले ब्राह्मणों के ब्राह्मणत्व में समाज को विश्वास नहीं है। फिर भारत में यह नवागत पाश्चात्य राज्य-शिक्षा और धनार्जन की विभिन्न प्रणालियाँ जहा-जहाँ फैल रही हैं, वहीं अपने वंशगत पुरोहित व्यवसाय को छोड़कर हजारों ब्राह्मण युवक अन्य जातियों की वृत्ति का अवलम्बन कर धनवान हो रहे हैं।⁷⁹

शक्ति-संचय जितना आवश्यक है, शक्ति-प्रसार भी उतना ही उससे भी अधिक आवश्यक है। हृत्पिण्ड में रक्त का एकत्र होना तो आवश्यक है ही, पर उसका यदि सारे शरीर में संचालन न हुआ तो मृत्यु निश्चित है। दूसरी ओर, राजा में पशुराज के सब गुण-दोष विद्यमान है। क्षुधा तृप्ति के लिए सिंह के विकराल नख आदि घास-पात खाने वाले पशुओं के कलेजों को फाड़ने में तनिक भी देर नहीं करते; फिर कवि कहता है कि भूखा और बूढ़ा होने पर भी सिंह अपने चरणों पर गिरे हुए सियार को कभी नहीं खाता। राजा के भोगेच्छा में बाधा डालने से ही प्रजा का सत्यानाश होता है। यदि वह विनीत हो, राजा की आज्ञा शिरोधार्य करे, तो वह सकुशल है। केवल यही नहीं, समस्त समाज के एक ही अभिप्राय और प्रयत्न होने का अथवा सार्वजनिक अधिकारों के रक्षार्थ व्यक्तिगत स्वार्थत्याग का भाव किसी देश में, प्राचीन समय में तो क्या, आज भी पूरी तरह उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिए समाज ने राजा रूपी शक्ति-केन्द्र की सृष्टि की। समाज की शक्ति उसी केन्द्र में एकत्र होती और वहीं से चारों ओर सारे समाज में फैलती है। जिस प्रकार ब्राह्मणों के प्राधान्य काल में ज्ञानेच्छा का पहला उन्मेष और बचपन में उसका यत्नपूर्वक पालन हुआ, उसी प्रकार क्षत्रियों के प्रभुत्व काल में भोगेच्छा की पुष्टि और उसकी सहायता करने वाली शिल्प-कलाओं की सृष्टि तथा उन्नति हुई।⁸⁰

जिस प्रकार पुरोहित लोग सारी विद्याओं को अपने में ही एकत्र करना चाहते हैं, उसी प्रकार राजा लोग भी समस्त पार्थिव शक्तियों को अपने में ही केन्द्रित करने का यत्न करते हैं। इन दोनों ही से लाभ है। दोनों यथासमय समाज के कल्याण के लिए आवश्यक हैं; पर वह

केवल समाज के बचपन में। जवानी के शरीर में समाज को बलपूर्वक लड़कपन के पहनाने से वह या तो अपने तेजबल से उसे फाड़कर आगे बढ़ता है, अथवा उसमें यदि असमर्थ हुआ तो, फिर धीरे-धीरे असभ्य अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

राजा अपनी प्रजा का माता-पिता है। प्रजा उसकी सन्तान है। प्रजा को पूरी तरह राजाश्रित रहना चाहिए और राजा को भी पक्षातीत भाव से प्रजा का अपनी सन्तान की तरह पालजन करना चाहिए। परन्तु जो नीति घर-घर के लिए उपयुक्त है, वही सारे समाज पर भी लागू है। समाज घरों की समष्टि मात्र है। जब पुत्र सोलह वर्ष का हो जाय, तब यदि पिता को उसके साथ मित्र की भाँति बर्ताव करना चाहिए, तो फिर समाजरूपी बच्चा क्या सोलह वर्ष की अवस्था कभी प्राप्त ही नहीं करता ? इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रत्येक समाज किसी समय उस जवानी को अवश्य प्राप्त करता है, और सभी समाजों में शक्तिमान शासकों और जनता में कलह उपस्थित होता है। इसी युद्ध के परिणाम पर समाज का जीवन, उसका विकास और उसकी सभ्यता निर्भर है।⁸¹

यह विप्लव भारत में भी बार-बार हुआ करता है पर धर्म के नाम से, क्योंकि यह देश धर्मप्राण है; धर्म ही इसकी भाषा और सब उद्योगों का चिह्न है। चार्वाक, जैन और बौद्ध, शंकर, रामानुज और चैतन्य के पन्थ, तथा कबीर, नानक, ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि सभी सम्प्रदायों में धर्म की फेनमय, वज्र की भाँति गरजने वाली तरंगे सामने हैं, और सामाजिक आभावों की पूर्ति उनके पीछे है। यदि कुछ अर्थहीन शब्दों के उच्चारण से ही सारी कामनाएँ सिद्ध होती हैं, तो फिर अपनी इष्ट सिद्धि के लिए कौन कष्टसाध्य पुरुषकार का सहारा लेगा? और यदि यह रोग सारे समाज-शरीर में प्रवेश कर जाय, तो समाज बिल्कुल उद्यमहीन होकर विनष्ट हो जायगा। इसलिए प्रत्यक्षवादी चार्वाकों की चुभनेवाली चुटकियाँ शुरू हुईं। पशुमेघ, नरमेघ, अश्वमेघ आदि विस्तृत कर्मकाण्ड के दम घोटने वाले भार से समाज का उद्धार सदाचारी और ज्ञानाश्रयी जैनों के अतिरिक्त और कौन कर सकता था? उसी तरह, बलवान अधिकारी जातियों के दारुण अत्याचार से निम्न श्रेणियों के मनुष्यों को बौद्ध विप्लव के अतिरिक्त और कौन बचा सकता था? कुछसमय के बाद बौद्ध धर्म का महान् सदाचार घोर अनाचार में परिणत हुआ और साम्यवाद की अधिकता से उस सम्प्रदाय में आये हुए विविध

बर्बर जातियों के पैशाचिक नृत्य से समाज काँपने लगा, तब पूर्व भाव को यथासम्भव पुनः स्थापित करने के लिए शंकर और रामानुज ने प्रयत्न किया। फिर कबीर, चैतन्य, ब्रह्म समाज और आर्य समाज का यदि जन्म न होता, तो आज भारत में हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान और ईसाइयों की संख्या निःसन्देह बहुत अधिक होती है।

अनेक धातुओं द्वारा बने हुए इस शरीर तथा अनन्त भाव तरंग वाले मन को बलिष्ठ बनाने के लिए पौष्टिक खाद्य पदार्थ के समान और दूसरी अच्छी चीज कौन सी है? पर जो खाद्य शरीर-रक्षा और मन की बल-वृद्धि के लिए इतना आवश्यक है, उसका शेषांश यदि उचित समय पर शरीर से बाहर न निकाल दिया जाय, तो वही सब अनर्थों का कारण हो जाता है।⁸²

समष्टि (समाज) के जीवन में व्यष्टि (व्यक्ति) का जीवन है; समष्टि के सुख में व्यष्टि का सुख है; समष्टि के बिना व्यष्टि का अस्तित्व ही असंभव है, यही अनन्त सत्य जगत् का मूल आधार है। अनन्त समष्टि के साथ सहानुभूति रखते हुए उसके सुख में सुख और उसके दुःख में दुःख मानकर धीरे-धीरे आगे बढ़ना ही व्यष्टि का एकमात्र कर्तव्य है। और कर्तव्य ही क्यों? इस नियम का उल्लंघन करने से उसकी मृत्यु होती है और उसका पालन करने से वह अमर होता है। प्रकृति की आँखों में धूल डालने का सामर्थ्य किसे है? समाज की आँखों पर बहुत दिनों तक पट्टी नहीं बाँधी जा सकती। समाज के ऊपरी हिस्से में कितना ही कूड़ा करकट क्यों न इकट्ठा हो गया हो, परन्तु उस ढेर के नीचे प्रेमरूप निःस्वार्थ सामाजिक जीवन का प्राण-स्पंदन होता ही रहता है। सब कुछ सहने वाली पृथ्वी की भाँति समाज भी बहुत सहता है। परन्तु एक न एक दिन वह जागता ही है, और तब उस जागृति के वेग से युगों की एकत्र मलिनता तथा स्वार्थपरता दूर जा गिरती है।

अज्ञानी, पाशाविक प्रकृति के हम मनुष्य हजारों बार उगे जाकर भी इस महान् सत्य में विश्वास नहीं रखते। हजारों बार उगे जाकर भी हम महान् लोग फिर उगने की चेष्टा करते हैं। पागलों की तरह हम लोग सोचते हैं कि प्रकृति को हम धोखा दे सकते हैं। हम लोग अत्यन्त अल्पदर्शी हैं—समझते हैं कि स्वार्थ—साधन ही जीवन का चरम उद्देश्य है।⁸³

विद्या, बुद्धि, धन, जन, बल, वीर्य जो कुछ प्रकृति हम लोगों के पास एकत्र करती है, वह फिर बाँटने के लिए है; हमें यह बात स्मरण नहीं रहती; सौंपे हुए धन में आत्म-बुद्धि हो जाती है, बस इसी प्रकार विनाश का सूत्रपात होता है।

राजा जो प्रजा-समष्टि का शक्ति-केन्द्र है, वह बहुत जल्दी भूल जाता है कि शक्ति इसलिए उसमें संचित हुई है कि वह फिर लोगों में हजार गुनी बँट जाय। राजा वेण की तरह वह सब देवत्व अपने में ही आरोपित कर दूसरों को हीन मनुष्य समझने लगता है। उसकी इच्छा का, चाहे वह भली हो या बुरी, विरोध करना ही महापाप है। इसलिए पालन की जगह पीड़न और रक्षण की जगह भक्षण आप ही आ जाता है। यदि समाज बलहीन रहा तो वह सब कुछ चुपचाप सह लेता है, और राजा-प्रजा दोनों ही हीन से हीनतर अवस्था को प्राप्त होकर शीघ्र ही किसी दूसरी बलवान जाति के शिकार बन जाते हैं। पर यदि समाज-शरीर बलवान रहा, तो शीघ्र ही अत्यन्त प्रबल प्रतिक्रिया उपस्थित होती है—जिसकी चोट से छत्र, दण्ड, चँवर आदि बड़ी दूर जा गिरते हैं, और सिंहासन अजायबघर में रखी हुई पुरानी अनूठी वस्तुओं के सदृश हो जाता है। जिस शक्ति की भौंहें टेढ़ी होने पर महाराजा भी थरथर काँपाते हैं, जिसके हाथ के सोने की थैली की आशा से राजा से रंक तक बगुलों की तरह पाँति बाँधे सिर झुकाये पीछे-पीछे चलते हैं, उसी वैश्य शक्ति का विकास पूर्वोक्त प्रतिक्रिया का फल है।⁸⁴

ब्राह्मण ने कहा, 'सब बलों का बल विद्या है, और वह विद्या मेरे अधीन है, इसलिए समाज मेरे शासन में रहेगा'। कुछ दिन ऐसा ही रहा। फिर क्षत्रिय ने कहा, 'यदि मेरा अस्त्र-बल न रहे, तो तुम अपने विद्या-बल सहित न जाने कहाँ चले जाओगे। मैं ही श्रेष्ठ हूँ'। म्यान में तलवार झनझना उठी, और समाज ने उसके सामने सिर झुका दिया। विद्योपासक ब्राह्मण सबसे पहले राजोपासक बने। वैश्य कहता है, 'पागल, जिसको तुम अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् कहते हो, वही सर्वशक्तिमान मुद्रा रूप है, और वह मेरे ही हाथों में है। देखो इसकी बदौलत मैं भी सर्वशक्तिमान हूँ। ब्राह्मण, तुम्हारा तप-जप, विद्या-बुद्धि मैं इसके प्रभाव से अभी मोल ले लेता हूँ। और महाराज, तुम्हारा अस्त्र-शस्त्र, तेज, वीर्य इसकी कृपा से काम सिद्धि के लिए बरता जायगा। ये जो बड़े-बड़े पुतलीघर और कारखाने तुम देखते हो, वह मेरे मधु के छत्ते हैं। वह देखो, असंख्य शूद्ररूपी मक्खियाँ उसमें रात-दिन मधु एकत्र करती

हैं। परन्तु वह मधु कौन पियेगा? — मैं। ठीक समय पर उसकी एक-एक बूँद मैं निचोड़ लूँगा।

जिस प्रकार ब्राह्मणों और क्षत्रियों के उदय-काल में विद्या और सभ्यता का संचय हुआ था, उसी प्रकार वैश्यों के प्रभुत्व काल में धन का संचय हुआ। जिस रुपये की झनक चारों वर्णों का मन हरण कर सकती है, वही रुपया वैश्यों का बल है। वैश्यों को सदा इस बात का डर लगा रहता है कि कहीं उस धन को ब्राह्मण ठग न ले और क्षत्रिय जबरदस्ती डीन न ले। इसी कारण अपनी रक्षा के लिए वैश्य लोग सदा एकमत रहते हैं। सूद रूपी कोड़ा हाथ में लिए वैश्य सबके हृदय में धड़कन उत्पन्न करता है। अपने रुपये के बल से राज-शक्ति को दबाये रखने के लिए वह सदा व्यस्त है। वह इस बात से सदा सचेत रहता है कि राज-शक्ति उसे धन-धान्य संचय करने में बाधा न डाले। परन्तु उसकी यह इच्छा बिल्कुल नहीं होती कि यह राज-शक्ति क्षत्रियकुल से शूद्रकुल में चली जाय।⁸⁵

वणिक किस देश में नहीं जाता ? स्वयं अज्ञ होकर भी वह व्यापार के अनुरोध से एक देश की विद्या, बुद्धि और कला-कौशल दूसरे देश में ले जाता है। जो विद्या, सभ्यता और कला-कौशलरूपी रक्त ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अधिकार में समाज के हृत्पिण्ड में जमा हुआ था, वही अब वैश्यों के बाजार की ओर जानेवाले राजपथ रूपी नसों द्वारा सर्वत्र फैल रहा है। वैश्यों का यह उत्थान यदि न होता तो आज एक देश का भोज्य पदार्थ, सभ्यता, विलास और विद्या दूसरे देशों में कौन ले जाता ?

फिर जिनके शारीरिक परिश्रम पर ही ब्राह्मणों का आधिपत्य, क्षत्रियों का ऐश्वर्य और वैश्यों का धन-धान्य निर्भर है, वे कहाँ हैं? समाज का मुख्य अंग होकर भी जो लोग सदा सब देशों में जघन्यप्रभवो हि सः कहकर पुकारे जाते हैं, उनका क्या हाल है? जिनके विद्यालाभ जैसे महान् अपराध के लिए भारत में 'जिह्वाच्छेद, शरीर-भेद, आदि अनेक दण्ड प्रचलित थे, वे ही भारत के 'चलमान श्मशान' (चलते फिरते मुरदे) और दूसरे देशों के 'भारवाही पशु' शूद्र किस दशा में हैं ?

इस देश का हाल क्या कहा जाय ? शूद्रों की बात तो अलग रही, भारत का ब्राह्मणत्व अभी गोरे अध्यापकों में है, और उसका क्षत्रियत्व चक्रवर्ती अंग्रेजों में। उसका वैश्वत्व भी अंग्रेजों के नस नस में है। भारतवासियों के लिए तो केवल भारवाही पशुत्व अर्थात् शुद्रत्व ही रह गया। घोर अन्धकार ने भी सबको समान भाव से ढँक लिया है। अभी चेष्टा में दृढ़ता नहीं है, उद्योग में साहस नहीं है, मन में बल नहीं है, अपमान से घृणा नहीं है, दासत्व से अरुचि नहीं है, हृदय में प्रीति नहीं है और प्राण में आशा नहीं है। और है क्या, केवल प्रबल ईर्ष्या, स्वजाति-द्वेष, दुर्बलों का जैसे तैसे करके नाश करने और कुत्तों की तरह बलवानों के चरण चाटने की विशेष इच्छा। इस समय तृप्ति, धन और ऐश्वर्य दिखाने में है, भक्ति स्वार्थ-साधन में है, ज्ञान अनित्य वस्तुओं के संग्रह में है, योग पैशाचिक आचार में है, कर्म दूसरों के दासत्व में है, सभ्यता विदेशियों की नकल करने में है, वक्तृत्व कटु भाषण में है और भाषा की उन्नति धनिकों की बेढंगी खुशामद में या जघन्य अशिललता के प्रचार में है। जब सारे देश में शुद्रत्व भरा हुआ है, तो शूद्रों के विषय में अलग से क्या कहा जाय। अन्य देशों के शूद्र-कुल की नींद कुछ टूटी सी है, पर उनमें विद्या नहीं है। उसके बदले है उनका साधारण जाति-गुण-स्वजाति द्वेष। उनकी संख्या यदि अधिक ही है, तो क्या? जिस एकता के बल से दस मनुष्य लाख मनुष्यों की शक्ति संग्रह करते हैं, वह एकता अभी शूद्रों से कोसों दूर है। इसलिए सारी शूद्र जाति प्राकृतिक नियमों के अनुसार पराधीन है।⁸⁶

परन्तु फिर भी आशा है। काल के प्रभाव से ब्राह्मण आदि वर्ण भी शूद्रों का नीच स्थान प्राप्त कर रहे हैं, और शूद्र जाति ऊँचा स्थान पा रही है। शूद्रों से भरे, रोम के दास यूरोप ने क्षत्रियों का बल प्राप्त किया है महा बलवान चीन हम लोगों के सामने ही बड़ी शीघ्रता से शूद्रत्व प्राप्त कर रहा है, और नगण्य जापान हवा की तरह शूद्रत्व को झाड़ता हुआ ऊँची जातियों का अधिकार ले रहा है। यहाँ पर आजकल के यूनान और इटली के क्षत्रिय पद पर उत्थान का और तुर्क, स्पेन आदि के पतन का कारण भी सोचने का विषय है।

पाश्चात्य जगत् में विद्या का प्रचार होने पर भी वहाँ शूद्रों के उत्थान में एक बड़ी अड़चन रह गयी है। इसका कारण यह है कि वहाँ लोग गुणगत जाति मानते हैं। ऐसी ही गुणानुसार वर्ण व्यवस्था इस देश में भी प्राचीन काल में प्रचलित थी, जिसके कारण शूद्र जाति

की उन्नति कभी हो ही नहीं सकती थी। एक तो शूद्रों को विद्या प्राप्त करने तथा धन संग्रह करने का सुभीता बहुत कम था। दूसरे, यदि एक-दो असाधारण मनुष्य शूद्रकुल में कभी उत्पन्न भी होते, तो उच्च वर्ण तुरन्त उन्हें उपाधियाँ देकर अपनी मण्डली में खींच लेता था। उनकी विद्या का प्रभाव और धन का हिस्सा दूसरी जातियों के काम आता था। उनके सजातीय उनकी विद्या, बुद्धि और धन से कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते थे। इतना ही नहीं वरन् कुलीनों के निकम्मे मनुष्य कूड़ा-कर्कट की तरह निकाल कर शूद्र-कुल में मिला दिये जाते थे।

आजकल के भारत में शूद्र-कुलमें उत्पन्न बड़े से बड़ा या करोड़पति को भी अपना समाज छोड़ने का अधिकार नहीं है। इसका फल यह होता है कि उसकी विद्या-बुद्धि और धन का प्रभाव उसी जाति में रह जाता है तथा उसी समाज का कल्याण करने में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार इस जन्मगत जाति की व्यवस्था से प्रत्येक जाति अपनी सीमा के बाहर जाने में असमर्थ होकर अपनी ही मण्डली के लोगों की धीरे-धीरे उन्नति कर रही है। जब तक भारत में बिना जाति की परवाह किये दण्ड-पुरस्कार देने वाला राजशासन रहेगा, तब तक नीच जातियों की इसी प्रकार उन्नति होती रहेगी।⁸⁷

इसलिए स्वामीजी ने विचार किया कि हमें केवल याचक बनकर उनसे खैरात बनकर लेने की जरूरत नहीं है, बल्कि हमारे पास भी उन्हें देने के लिए बहुत कुछ है। पश्चिम से हम भौतिकता का दान लेंगे और बदले में उन्हें आध्यात्मिकता का दान देंगे। इस लेन-देन की प्रक्रिया से ही समूचे विश्व और पूरी मानवता का कल्याण हो सकता है। इसलिए उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा— “क्या यह अच्छा होगा कि हम सदैव पश्चिम वालों के चरणों के पास बैठकर सब-कुछ यहाँ तक कि धर्म भी सीखते रहें। क्या हम केवल लेते ही रहेंगे ? देना हमें कुछ भी नहीं है ? पश्चिम से हम यंत्रवाद की शिक्षा ले सकते हैं और भी कई बातें अच्छी हैं, जिन्हें पश्चिम से ग्रहण करना आवश्यक दीखता है। किन्तु, हमें उन्हें कुछ सीखाना भी है। हम उन्हें धर्म और आध्यात्मिकता की शिक्षा दे सकते हैं। विश्व-सभ्यता अभी अधूरी है। पूर्ण होने के लिए वह भारत की राह देख रही है। वह भारत की उस संपत्ति की प्रतिक्षा में है, जो पतन, गंदगी और भ्रष्टाचार के होते हुए भी भारत के हृदय में जीवित और अक्षुण्ण है। इसलिए,

संकीर्णता को छोड़कर हमें बाहर निकलना है। पश्चिम वालों से हमें एक विनिमय करना है। धर्म और आध्यात्मिकता के स्तर की चीजें हम उन्हें देंगे और बदले में, भौतिक साधनों का दान हम सहर्ष स्वीकार करेंगे। समानता के बिना मैत्री संभव नहीं होती और समानता वहां आयेगी कहाँ से, जहाँ एक तो बराबर गुरु बना रहना चाहता है, और दूसरा उसका सनातन शिष्य"? विवेकानंद का यही कथन धर्म और विज्ञान के समन्वय विषयक विचार का आधार बना।⁸⁸

स्वामीजी स्वयं को अन्य सुधारकों से भिन्न माना है, उन्होंने सिर्फ समाज के सुधार में विश्वास नहीं किया अपितु स्वाभाविक उन्नति में विश्वास किया, उन्होंने अपने एवं अन्य सुधारकों में भेद करते हुए कहा है कि—

“सुधारकों से मैं कहूँगा कि मैं स्वयं उनसे कहीं बढ़ कर सुधारक हूँ। वे लोग केवल इधर—उधर थोड़ा सुधार करना चाहते हैं। और मैं चाहता हूँ आमूल सुधार। हम लोगों का मतभेद है केवल सुधार की प्रणाली में। उनकी प्रणाली विनाशात्मक है और मेरी संघटनात्मक। मैं सुधार में विश्वास नहीं करता, मैं विश्वास करता हूँ स्वाभाविक उन्नति में। मैं अपने को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित कर अपने समाज के लोगों के सिर पर यह उपदेश मढ़ने का साहस नहीं कर सकता कि ‘तुम्हें इसी भाँति चलना होगा, दूसरी तरह नहीं’। मैं तो सिर्फ उस गिलहरी की भाँति होना चाहता हूँ, जो राम के सेतु बाँधने के समय अपने योगदानस्वरूप थोड़ा बालू लाकर सन्तुष्ट हो गयी थी। यही मेरा भाव है”।⁸⁹

समाज में यदि किसी प्रकार का सुधार लाना है तो सर्वप्रथम अपने मन मस्तिष्क को शान्त रखना होगा, क्योंकि मन की उत्तेजना द्वारा किये गये कार्य का परिणाम अनुचित फल प्रदान करता है। स्वामीजी का मानना है कि सामाजिक दोषों के निराकरण का कार्य उतना वस्तुनिष्ठ नहीं है, जितना आत्मनिष्ठ। व्यक्ति चाहे कितनी भी लम्बी चौड़ी डींग क्यों न हाँके समाज के दोषों को दूर करने का कार्य जितना स्वयं के लिए शिक्षात्मक है, उतना समाज के लिए वास्तविक नहीं। समाज के दोष दूर करने के सम्बन्ध में सबसे पहले इस तत्व को समझ लेना होगा, और इसे समझकर अपने मन को शान्त करना होगा, अपने खून की चढ़ती गर्मी को रोकना होगा, अपनी उत्तेजना को दूर करना होगा। संसार का इतिहास भी यह बताता है

कि जहाँ कहीं इस प्रकार की उत्तेजना से समाज के सुधार का प्रयत्न हुआ है, वहाँ केवल यही फल हुआ कि जिस उद्देश्य से वह किया गया हो तो उस उद्देश्य को ही विफलकर दिया।

गत शताब्दीयों में सामाजिक सुधार के लिए जो भी आन्दोलन हुए हैं, उनमें से अधिकांश केवल ऊपरी दिखावा मात्र रहे हैं। उनमें से प्रत्येक ने केवल प्रथम दो वर्णों से ही सम्बन्ध रखे, शेष दो से नहीं। इस प्रकार के सभी आन्दोलनों का सम्बन्ध भारत के केवल उच्च वर्णों से ही रहा है, जो जनसाधारण का तिरस्कार करके स्वयं शिक्षित हुए। इन लोगों ने अपने-अपने घर को साफ रखने एवं अंग्रेजों के सम्मुख अपने को सुन्दर दिखाने में कोई कमी बाकी नहीं रखी। किन्तु इसे सुधार नहीं कहा जा सकता। सुधार करने में हमें चीज के भीतर, उसकी जड़ तक पहुँचना होता है। इसे ही स्वामीजी ने आमूल सुधार के रूप में स्वीकार किया है।⁹⁰

निष्कर्षतः स्वामीजी इस बात से भलीभाँति अवगत थे कि सामाजिक जीवन पर धर्म एवं धार्मिक आन्दोलनों का कैसा प्रभाव रहा है, इसलिए सर्वप्रथम उन्होंने समाज के लोगों के सम्मुख इसे दिखाना उचित समझा, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि जब तक भारतवर्ष इस तथ्य से अवगत नहीं होगा तब तक धर्म का प्रचार-प्रसार करना असम्भव है। स्वामीजी का मानना था कि भारतवर्ष में किसी भी प्रकार का सुधार या उन्नति की चेष्टा करने से पूर्व धर्म का प्रचार आवश्यक है। भारतीयों को समाजवादी विचारों से प्लावित करने से पूर्व आवश्यक है कि उसमें आध्यात्मिक विचारों की प्रगति ला दी जाय। सर्वप्रथम उपनिषदों, पुराणों और अन्य सभी शास्त्रों में जो अपूर्व सत्य छिपे हुए हैं, उन्हें इन सब ग्रन्थों के पन्नों से बाहर निकालकर, समस्त संसार में बिखेर देना होगा। सभी को इन सब शास्त्रों में निहित उपदेशों को सुनाना होगा जिससे मनुष्य का झुकाव आध्यात्मिक जीवन की ओर अग्रसर हो सके। लौकिक-समाज सम्बन्धी विद्या का विस्तार आग और तलवार के बल पर हो सकता है। परन्तु आध्यात्मिक विद्या का विस्तार तो शान्ति द्वारा ही सम्भव है। इसलिए स्वामीजी भारत में कुछ ऐसे शिक्षालय स्थापित करना चाहते थे, जहाँ पर नवयुवक शास्त्रों के ज्ञान में शिक्षित होकर भारत तथा इसके बाहर अपने धर्म का प्रचार-प्रसार कर सकें।

उद्धरण एवं संदर्भ

1. गुरुदत्त, *धर्म तथा समाजवाद*. नई दिल्ली: भारती साहित्य सदन, 1988, पृ. 88
2. भटनागर सुनीता, *स्वामी विवेकानंद का समाज दर्शन*. दिल्ली: प्रतिभा प्रकाशन, 2013, पृ. 177
3. एच. पेज चार्ल्स एण्ड मैकाइवर आर. एम. *सोसायटी एन इंट्रोडक्टरी एनॉलेसिस*. दिल्ली: सुरजीत प्रकाशन, 2018, पृ. 8
4. पूर्वोक्त, पृ. 138
5. व्यास डॉ. रामनारायन, *समाज दर्शन*. दिल्ली विश्वविद्यालय: हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, 2013, पृ. 16
6. पूर्वोक्त
7. दासगुप्ता, सान्त्वना. *सोशल फिलॉसफी आफ स्वामी विवेकानंद*. कोलकाता: रामकृष्ण मिशन इन्स्टिट्यूट ऑफ कल्चर, 2005, पृ. 188
8. डॉ. सहाय, जगदीश, *समाज-दर्शन की भूमिका*. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1999, पृ. 274
9. पूर्वोक्त, पृ. 275
10. पूर्वोक्त
11. पूर्वोक्त
12. पूर्वोक्त
13. पूर्वोक्त, पृ. 278—279
14. पूर्वोक्त, पृ. 280—283
15. पूर्वोक्त, पृ. 284
16. पूर्वोक्त, पृ. 285
17. पूर्वोक्त, पृ. 309
18. पूर्वोक्त
19. स्वामी विवेकानंद. *विवेकानंद साहित्य द्वितीय खण्ड*. कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 1993, पृ.196

20. पूर्वोक्त
21. पूर्वोक्त, पंचम् खण्ड. पृ. 322
22. पूर्वोक्त, द्वितीय खण्ड. पृ. 17
23. डॉ. सिंह, शिव भानु, *समाज-दर्शन का सर्वक्षेण*. इलाहाबाद: शारदा पुस्तक भवन, 2013, पृ. 1
24. पूर्वोक्त, पंचम् खण्ड. पृ. 108
25. डॉ. जटाशंकर. शर्मा, डॉ. अम्बिकादत्त. डॉ. सक्सेना, कंचन. डॉ. सिंह कुमार, शैलेश. डॉ. चारण, दिलीप. (सम्पादक) *अनुप्रयुक्त दर्शन तथा नीतिशास्त्र के आयाम*. मुकेश विभा: 'भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में मानवतावाद' दिल्ली: न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन 2013, पृ. 47
26. दिनकर, रामधारी सिंह. *संस्कृति के चार अध्याय*. दिल्ली: कल्पना प्रकाशन, 2014, पृ. 427
27. स्वामी विदेहात्मानन्द. (सम्पादक) *स्वामी विवेकानंद और उनका अवदान*. स्वामी अशोकानन्द: 'स्वामी विवेकानन्द के सेवायोग का उद्गम' कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 2018, पृ. 442-443
28. पूर्वोक्त, पृ. 443-444
29. पूर्वोक्त, पृ. 444-445
30. पूर्वोक्त, पृ. 445-447
31. पूर्वोक्त, पृ. 447-448
32. पूर्वोक्त, पृ. 448-449
33. पूर्वोक्त, पृ. 450-451
34. पूर्वोक्त, पृ. 451-452
35. पूर्वोक्त, पृ. 453-454
36. पूर्वोक्त, पृ. 454-455
37. पूर्वोक्त, पृ. 455-456
38. पूर्वोक्त, पृ. 456-457
39. पूर्वोक्त, पृ. 457

40. दासगुप्ता, सान्त्वना. *सोशल फिलॉसफी आफ स्वामी विवेकानंद*. कोलकाता: रामकृष्ण मिशन इन्स्टिट्यूट ऑफ कल्चर, 2005, पृ. 195
41. विवेकानंद. *द कम्प्लीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानंद वॉल्यूम 5*. कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 2001, पृ. 271
42. पूर्वोक्त
43. पूर्वोक्त, वॉल्यूम 8. पृ. 383
44. पूर्वोक्त, वॉल्यूम 1. पृ. 195–96
45. पूर्वोक्त, पृ. 196–197
46. पूर्वोक्त, वॉल्यूम 3. पृ. 157
47. पूर्वोक्त
48. पूर्वोक्त, दास गुप्ता, पृ. 198
49. पूर्वोक्त, दास गुप्ता, पृ. 199
50. पूर्वोक्त
51. पूर्वोक्त, कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानंद वॉल्यूम 5. पृ. 277–78
52. पूर्वोक्त, कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानंद वॉल्यूम 2. पृ. 427
53. पूर्वोक्त, कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानंद वॉल्यूम 2. पृ. 426
54. पूर्वोक्त, कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानंद वॉल्यूम 2. पृ. 206
55. पूर्वोक्त, कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानंद वॉल्यूम 2. पृ. 427
56. पूर्वोक्त, दास गुप्ता, पृ.200
57. पूर्वोक्त
58. पूर्वोक्त, कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानंद वॉल्यूम 2. पृ. 208
59. पूर्वोक्त, दास गुप्ता, पृ. 201
60. पूर्वोक्त, कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानंद वॉल्यूम 2. पृ. 208
61. पूर्वोक्त, कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानंद वॉल्यूम 9. पृ. 381
62. पूर्वोक्त, कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानंद वॉल्यूम 3. पृ. 137
63. पूर्वोक्त

64. पूर्वोक्त, कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानंद वैल्यूम 3. पृ. 171—72
65. पूर्वोक्त, कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानंद वैल्यूम 3. पृ. 172
66. पूर्वोक्त, दास गुप्ता, पृ. 205
67. पूर्वोक्त, कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानंद वैल्यूम 3. पृ. 213
68. पूर्वोक्त, सांत्वना दास गुप्ता, पृ. 207
69. स्वामी विदेहात्मानन्द. (सम्पादक) *स्वामी विवेकानंद और उनका अवदान*. स्वामी सत्यरूपानन्द: 'हमारी समस्याएँ और स्वामी जी द्वारा निर्दिष्ट समाधान' कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 2018, पृ. 391—392
70. पूर्वोक्त, पृ. 392—394
71. स्वामी विदेहात्मानन्द. (सम्पादक) *स्वामी विवेकानंद और उनका अवदान*. प्रा. प्र. ग. सहस्रबुद्धे: 'वह महान् द्रष्टा' कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 2018, पृ. 126
72. पूर्वोक्त, विवेकानन्द साहित्य खण्ड 5. पृ. 186—87
73. पूर्वोक्त, खण्ड 9. पृ. 208
74. पूर्वोक्त, पृ. 208—209
75. पूर्वोक्त, पृ. 209
76. पूर्वोक्त, पृ. 209—210
77. पूर्वोक्त, पृ. 210—211
78. पूर्वोक्त, पृ. 211—212
79. पूर्वोक्त, पृ. 212
80. पूर्वोक्त, पृ. 213—214
81. पूर्वोक्त, पृ. 214—215
82. पूर्वोक्त, पृ. 215—216
83. पूर्वोक्त, पृ. 216
84. पूर्वोक्त, पृ. 216—217
85. पूर्वोक्त, पृ. 217—218
86. पूर्वोक्त, पृ. 218—219

87. पूर्वोक्त, पृ. 220–221

88. शर्मा, अम्बिकादत्त. पाण्डेय, श्रीप्रकाश. शुक्ल, संजय कुमार. सुशील, मैत्रेय. (सम्पादक)
वेदान्त दर्शन के आयाम. वर्मा, सरोज कुमार: 'विवेकानंद का नव्यवेदान्त' दिल्ली: न्यू
भारतीय बुक कॉरपोरेशन 2013, पृ. 483

89. पूर्वोक्त, विवेकानन्द साहित्य खण्ड 5 पृ. 108

90. पूर्वोक्त, पृ. 111

षष्ठम् अध्यायः
विवेकानंद के समाज—दर्शन के
मुख्य अभिलक्षण

षष्ठम् अध्यायः विवेकानंद के समाज-दर्शन के मुख्य अभिलक्षण

स्वामी विवेकानंद के समाज दर्शन से भारत की परम्परागत विचारधारा को नवीन गति प्राप्त हुई। स्वामीजी ने समाज में व्याप्त धर्म, पाप, पुण्य सम्बन्धी रूढ़िवादी मान्यताओं का स्पष्ट रूप से खंडन किया है। उनके शब्दों में हमारे सिद्धान्त कितने ही गौरवपूर्ण क्यों न हों, हमारा सांख्य कितने ही सुन्दर सूत्रों से क्यों न बंधा हो, हम उसे धर्म नहीं कह सकते जब तक कि वह पुस्तकों और निर्धारित सिद्धान्तों तक ही सीमित हो। यह आधुनिक समाज का संयोग ही है कि स्वामी विवेकानंद जी आध्यात्मिक ज्ञान के व्यक्ति होते हुए भी भारतीय समाज की संरचना और उसके दायित्व के प्रति एक समाज सेवी के प्रति सजग थे। कहा जा सकता है कि जैसे हिन्दी युग के कवियों ने आध्यात्मिक विचारों को आत्मसात् करते हुए समाज को सही दिशा की ओर अग्रसर करने वाले तथ्यों के प्रति जागरूकता दिखलाई ? वैसे ही विवेकानंद जी ने भी आध्यात्मिकता की खोज में सामाजिक चिन्तन को ढूँढने का प्रयत्न किया।

6.1: सामाजिक अखंडता, समता, न्याय एवं बंधुता :—

देश की प्रगति में सबसे बड़ी समस्या जो है वह जाति, सम्प्रदाय और अन्य भेदों के मतवादों की अनेकता है, जिसके द्वारा देश में सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक विच्छिन्नता आज भी बनी हुई है। इस समस्या को स्वामीजी के वेदान्तिक सन्देश यथा सामाजिक अखंडता, समता, न्याय एवं बंधुता के द्वारा दूर किया जा सकता है। इसके साथ ही स्वामीजी ने सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विरासत पर आधारित एक मंत्र दिया है, एक नवीन मार्ग बताया है, एक नया धर्म दिया है और वह है — सहिष्णुता, विश्वबन्धुत्व और मानवजाति के समत्व का धर्म।

6.1.1: शोषणमुक्त एवं विशेषाधिकार :—

स्वामी विवेकानंद जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन दीन दुखियों एवं अपने देश की सेवा में व्यतीत किया। स्वामीजी सेवा एवं त्याग को भारतीय राष्ट्र का तात्त्विक आधार बनाना चाहते थे। उन्होंने आध्यात्मिकता का सम्बन्ध सामाजिक धरातल से

जोड़ा और नर में नारायण को देखने का आग्रह किया इसके साथ ही उन्होंने दरिद्र नारायण की पूजा को सर्वोत्तम पूजा कहा। इसलिए यह कहा जा सकता है कि स्वामीजी आध्यात्मिक से अधिक सामाजिक थे। चूंकि स्वामीजी के जन्म के समय समाज में नाना प्रकार की बुराईयाँ व्याप्त थी। स्वामीजी ने इन सामाजिक बुराईयों की जड़ अधिकारों के भेदभावपूर्ण वर्गीकरण को माना हैं। किसी वर्ग को विशेषाधिकार देने और किसी को अधिकारों से वंचित कर देने से ही अस्पृश्यता जैसी सामाजिक बुराईयों का जन्म हुआ है। मानवतावादी विवेकानंद के अनुसार समाज में किसी भी वर्ग को विशेषाधिकार नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग होने के कारण महत्वपूर्ण है। जाति-जाति में भेद का बीज अंकुरित करने वाली व्यवस्था, हर हाल में निन्दनीय और कड़वी होती है। विश्वबन्धुत्व की भावना करुणा, दया, क्षमा, और अहिंसात्मक विचारों के आधार पर होती है।¹

स्वामी विवेकानंद एक ऐसा समाज एवं धर्म चाहते थे, जो मनुष्य में आत्मविश्वास, राष्ट्रीय प्रेम तथा स्वाभीमान की भावना जाग्रत कर सके, इसके साथ ही दीन दुखियों के कष्टों को दूर करने की प्रेरणा जाग्रत करे। यदि मनुष्य ईश्वर की प्राप्ति करना चाहता है, तो उसे पहले मनुष्य की सेवा करनी चाहिए। मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से देखना होगा। मानव-मानव के बीच भेद को समाप्त करना होगा, तभी मानव जाति का कल्याण सम्भव है, तभी एक नये युग का निर्माण सम्भव है।

व्यावहारिक जीवन में विवेकानंद जी के इस सन्देश को क्रियान्वित करने में ही विश्व-एकत्व एवं विश्व-बन्धुत्व के आदर्श प्राप्त किये जा सकते हैं। इस दृष्टि से विवेकानंद ने किस प्रकार वेदान्त को व्यावहारिक दर्शन के रूप में समझने एवं प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, यह जानने के लिए उनके व्यावहारिक दर्शन के स्वरूप को जानना परमावश्यक है।

6.1.2: व्यावहारिक वेदान्त :-

भारतीय समाज की व्यावहारिक एवं पारमार्थिक स्तर की पूर्ण एवं सम्यक दिशा की प्रगति के लिए प्राचीनतम ग्रन्थ वेद, उपनिषद इत्यादि का मानव जीवन में प्रमुख एवं सर्वोच्च स्थान रहा है। इसके साथ ही समय-समय पर भारत के प्रबुद्ध दार्शनिकों ने

भी इन ग्रन्थों में वर्णित उपदेशों को सरल—सुबोध बनाकर भारतीय समाज को मार्गदर्शन दिया है।

स्वामी विवेकानंद समकालीन भारतीय दार्शनिकों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उन्होंने वेदान्त के शाश्वत मूल्यों एवं दर्शन के गम्भीर तत्वों को व्यावहारिक रूप देने एवं उन्हें जन सामान्य तक पहुँचाने का अथक एवं सरल प्रयास किया। उनका अभिमत था कि वेदान्त के सिद्धान्त अपने आप में सत्य होने पर भी उन्हें कार्यरूप में परिणत करने में मनुष्य को कठिनाई का अनुभव होता है। दूसरी ओर यदि इन्हें कार्य रूप में परिणित नहीं किया जाता है, तो ये सिद्धान्त बौद्धिक व्यायाम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह जाते हैं। वेदान्त सिद्धान्त यदि मानव समाज में धर्म का स्थान लेना चाहता है, तो उसे अनिवार्यतः व्यावहारिक होना ही पड़ेगा। उसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कार्यरूप में परिणित करने योग्य बनाना होगा जिससे आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक खाई को भरा जा सके।

विवेकानंद ने यही प्रयास किया और वेदान्त के सिद्धान्तों की समयानुकूल व्याख्या कर, उसे जन—जन का जीवन दर्शन बनाने के लिए जीवन पर्यन्त सचेष्ट रहें।²

स्वामी जी के अनुसार हम अकर्म का अर्थ निष्क्रियता लगा लेते हैं, जबकि मनुष्य जीवन का यह आदर्श कभी हो ही नहीं सकता, “यदि होता तो हमारे चारों ओर की दिवाले भी परमज्ञानी होती, वे भी तो निश्चेष्ट हैं। मिट्टी के ढेले और पेड़ों के तने भी जगत् के महानप्रस्थी गिने जाते, क्योंकि वे भी तो निश्चेष्ट हैं”।³ वेदान्त का आदर्श जो प्रकृत कर्म है, वह अनन्त शान्ति के साथ संयुक्त है। किसी भी प्रकार की परिस्थिति में वह स्थिरता कभी नष्ट नहीं होती, चित्त का साम्याभाव नष्ट नहीं होता, इस प्रकार की मनोवृत्ति ही कार्य के लिए आवश्यक है।

वेदान्त आदर्श का उपदेश देता है, और आदर्श वास्तविक या तथ्य की अपेक्षा सदैव अधिक उच्च होता है, तथापि वेदान्त पूर्णरूप से व्यवहार्य है। वस्तुतः वह आदर्शात्मक व्यावहार्य का उपदेश देता है। इसलिए विवेकानंद कहते हैं कि “वेदान्त का आदर्श कितना ही उच्च क्यों

न हो, वह किसी असम्भव आदर्श को हमारे सामने नहीं रखता, और वास्तव में यही आदर्श ठीक आदर्श है”।⁴

वेदान्त के आदर्श को व्यावहारिक तौर पर क्रियान्वित करके समाज में सामाजिक अखंडता, समता, न्याय एवं बंधुता को स्थापित किया जा सकता है।

6.2: आदर्श मानव समाज की स्थापना में मानव-निर्माण शिक्षा का योगदान :-

हमारी उन्नति के मार्ग में कुछ विघ्न हैं और उनमें प्रधान है, हमारी यह धारणा कि संसार में हम प्रमुख जाति के हैं। मैं हृदय से भारत को प्यार करता हूँ, स्वदेश के हितार्थ मैं सदा कमर कसे तैयार रहता हूँ, पूर्वजों पर मेरी आन्तरिक श्रद्धा और भक्ति है, फिर भी मैं अपना विचार त्याग नहीं सकता कि संसार से हमें भी बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त करनी है, शिक्षा ग्रहणार्थ हमें सबके पैरों तले बैठना चाहिए, क्योंकि ध्यान इस बात पर देना चाहिए कि सभी हमें महान् शिक्षा दे सकते हैं।⁵

शिक्षा का भारतीय आदर्श मन का वह नियंत्रण है, जिससे हम उसे जहाँ चाहें ठीक वहीं लगा सकें। एकाग्रता की प्राप्ति उत्तम तो है, पर जब तक उसके साथ हममें अनासक्ति की भी शक्ति नहीं आती, तब तक सम्भव है कि वह हमें कठिनाइयों के आवर्त में डाल दे। स्वामीजी कहते हैं, “तथ्यों के संग्रह को नहीं अपितु एकाग्रता को ही मैं शिक्षा का मूल समझता हूँ। यदि मुझे पुनः शिक्षा प्राप्त करनी होती, तो मैं एकाग्रता और अनासक्ति, दोनों की शक्तियों को विकसित करता और तब उस मन रूपी निर्दोष यंत्र की सहायता से इच्छामात्र से ही तथ्यों का संग्रह कर लेता”। यहाँ पर पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली द्वारा योग-मनोविज्ञान के अनुशासनों का लाभदायक उपयोग किया है।⁶

राष्ट्र के निर्माण के लिए शिक्षा सर्वश्रेष्ठ साधनों में से एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता है। भारत का भविष्य भी काफी कुछ इसी बात पर निर्भर करता है कि उसकी वर्तमान पीढ़ी इस समस्या का हल किस प्रकार प्रस्तुत करती है। स्वामीजी से कभी पूछा गया था कि, ‘आज की विश्वविद्यालयी शिक्षा-प्रणाली में क्या दोष है?’ उन्होंने उत्तर दिया, “क्यों वह आदि से अन्त तक दोषों से भरी हुई है,” – और अपनी बात पर जोर देते हुए वे बोले, ‘यह बाबुओं का

उत्पादन करने में सक्षम एक कुशल यंत्र के अतिरिक्त और क्या है? यदि इतना ही होता तो भी मैं प्रभु को धन्यवाद देता। पर कहाँ ! देखो न लोग किस प्रकार श्रद्धा और विश्वास से हीन होते जा रहे हैं। वे घोषणा करते हैं कि गीता भ्रमात्मक है — एक क्षेपक मात्र है, और वेद ग्राम्य लोकगीतों से अधिक महत्व नहीं रखते” ! एक अन्य अवसर पर उन्होंने आधुनिक शिक्षा की उपमा एक ऐसे व्यक्ति से दी थी, जिसे यह बताया गया था कि गधे को पीटने से वह घोड़ा बन जाता है और उसने अपने गधे को घोड़ा बनाने के लिए पीट-पीटकर अधमरा कर डाला था।⁷

6.2.1: स्वामी विवेकानंद के अनुसार शिक्षा का अभिप्राय :—

यद्यपि स्वामीजी की शिक्षा की परिभाषा बहुतों को मालूम है, तथापि प्रस्तुत सन्दर्भ में उसकी पुनरावृत्ति वांछनीय है। स्वामीजी ने कहा है, “शिक्षा मनुष्य के भीतर निहित पूर्णता का विकास है”। यद्यपि यह परिभाषा एक सार्वकालिक सत्य है और सभी लोगों के लिए प्रयोजनीय हैं, तथापि इस आधुनिक युग के लिए, जो अलगाव की वृत्ति, संकीर्णता और दलगत भावनाओं को मानवीय चिन्तन के विश्वास के पथ में व्यवधान स्वरूप समझता है, वह विशेष रूप से प्रयोज्य है। स्वामी जी पुनः कहते हैं, “शिक्षा है क्या ? क्या वह किताबी ज्ञान है ? नहीं ! — तो क्या वह बहुमुखी ज्ञान है ? — वह भी नहीं। शिक्षा वास्तव में एक ऐसा प्रशिक्षण है, जिसके द्वारा संकल्प शक्ति की अभिव्यक्ति को और उसके प्रवेग को सन्तुलित एवं लाभप्रद बनाया जाता है”।⁸

भारत में अँगरेजों के समय से जिस शिक्षा-प्रणाली का प्रवर्तन हुआ था वही प्रणाली स्वाधीनता के बाद भी अविकल रूप से प्रचलित है। अनेक विद्वानों ने इस शिक्षा-प्रणाली के दोषों को देखकर इसकी कड़ी भर्त्सना की है। कोई इस शिक्षा-प्रणाली को ‘लिपिक बनाने के कारखाने’ के रूप में देखता है, तो दूसरा इसे ‘स्वामिभक्त गुलाम बनाने का कारखाना’ कहता है। इन सब कमजोरियों के होते हुए भी स्वदेश में इस शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन नहीं हुआ, जबकि हमें स्वाधीनता प्राप्त किए एक अरसा गुजर चुका है। थोड़ा-बहुत परिवर्तन इसमें अवश्य हुआ है, किन्तु इसका मूल स्वरूप पहले जैसा ही है।⁹

स्वामीजी के शिक्षा-विषयक विचार जितने स्पष्ट हैं, उतने ही उपयोगी भी। स्वामीजी के विपुल साहित्य-कोश में सभी प्रकार के विचार-कण हैं। वह एक महान् भण्डार है। आज किसी भी कार्य की योजना बनाने के लिए पहले समितियों-उपसमितियों का निर्माण करना पड़ता है। फिर विदेशों के अनुकरण पर एक लम्बी योजना बनती है। इस प्रकार का निरर्थक परिश्रम करने के स्थान पर यदि हम स्वामीजी की कल्पनाओं को ही व्यवहार में अनूदित करने का प्रयास करें, तो उससे राष्ट्र का महान् कल्याण सध सकता है।

स्वामी जी एक महान् द्रष्टा थे। उन्होंने अपने समय में ही ऐसी योजनाएँ तैयार की थीं, जो आज के युग में हमें बहुत उपयोगी प्रतीत हो रही हैं। यदि हम इनकी उपेक्षा करेंगे तो हमारा यह कार्य उस अज्ञानी व्यक्ति के समान होगा, जो 'चिंतामणि' के होते हुए भी भिक्षा माँगता है। जीवन के सभी पक्षों को — संगीत से लेकर आत्मसंस्कार एवं व्यायाम से लेकर उद्योग-धन्धों तक को ध्यान में रखते हुए उन्होंने हमारा मार्ग निर्धारित किया है। यदि हम उनके द्वारा दिखाये गए मार्ग पर नहीं चलेंगे, तो अपने ही पैरों पर आप ही कुल्हाड़ी चलाएँगे।¹⁰

प्रत्येक मनुष्य जब जन्म लेता है, तो किसी विकृति के साथ जन्म नहीं लेता। उसमें अनन्त सम्भवनाएँ होती हैं, अनन्त प्रतिभाएँ होती हैं। किस प्रकार उसे एक दिशा दी जाय, किस प्रकार से उसे सकारात्मक दिशा की ओर ले जाया जाय— इसका उत्तरदायित्व शिक्षा पर होता है। आज जो समाज और व्यक्ति की स्थिति है, इसलिए आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व इस देश को युगान्तकारी चिन्तन के द्वारा दिशा प्रदान करने वाले स्वामी विवेकानन्द के विचारों पर हम एक बार पुनः चिन्तन करें और यथासम्भव उनसे लाभ उठाएँ।

स्वामीजी की शिक्षा विषयक जो अवधारणा है, उस पर कई दृष्टि से विचार किया जाए, तो उसका सैद्धान्तिक और भावनात्मक पक्ष है और उसका एक व्यावहारिक पक्ष भी है। दोनों ही दृष्टियों से विचार करने पर उनकी धारणा सुस्पष्ट रूप से हमारे सामने आती है। उनकी शिक्षा नीति पर विचार करते समय इस बात को यदि हम तीन वर्गों के अन्तर्गत बाँटकर विचार

करें, तो सहूलियत होगी — 1. शिक्षा का प्रयोजन क्या है? 2. शिक्षा का स्वरूप क्या है? 3. शिक्षा का विषय क्या है ?

सबसे पहली बात है कि शिक्षा के प्रयोजन पर विचार करना आवश्यक है। स्वामीजी की दृष्टि में शिक्षा का प्रयोजन है — मनुष्य के पूर्णता की अभिव्यक्ति। वे कहते हैं— व्यक्ति के भीतर उदात्तता निहित है, जो पूर्णता निहित है, उसे प्रकट करने में जो सहायक हो, वही शिक्षा है। अब प्रश्न उठता है कि यह पूर्णता क्या है ? यह पूर्णता किसी प्रकार की प्रतिभा नहीं है, न ही यह किसी प्रकार की दक्षता है। यह पूर्णता व्यक्ति का अपना स्वभाव है, अपना स्वरूप है। वह स्वभाव में ईश्वर जैसा ही है। उसकी यह जो दिव्यता है, इस दिव्यता का, इस आत्मरूपता का प्रकाशन ही शिक्षा का उद्देश्य है। मनुष्य का व्यक्तित्व चेतना के प्रत्येक स्तर पर विकसित हो सके, चाहे वो शारीरिक स्तर पर हो, या बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक स्तर पर। इन तीनों स्तरों पर उसके व्यक्तित्व में कहीं कोई गॉठ न हो। उसके व्यक्तित्व में एकरूपता हो, समरसता हो और वह अपने व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों से किए जाने वाले विभिन्न कार्यों को कुशलता से कर सके, यही शिक्षा का प्रयोजन है। इसलिए स्वामी जी कहते हैं कि मनुष्य की दिव्यता या पूर्णता या आत्मरूपता के प्रकाशन का यह अर्थ नहीं कि उसके व्यक्तित्व के जो अन्य भौतिक पक्ष हैं, उनकी उपेक्षा की जाए। इसी कारण स्वामी जी शारीरिक स्वास्थ्य—रक्षण के प्रति भी बड़े सजग थे। वे प्रायः ही कहते थे — नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः — जो शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ है, बलशाली है वही साधना करने में समर्थ हो सकता है। चाहे वह साधना आध्यात्म की हो या फिर जीवन के विभिन्न पक्षों में विभिन्न उपलब्धियों के लिए किया जाने वाला संघर्ष हो। शारीरिक स्वास्थ्य के बाद आता है बुद्धि का विकास। बुद्धि का विकास सही दिशा में हो, जिससे व्यक्ति अपनी प्रतिभा तथा सामर्थ्य का पूर्णतया उपयोग कर सके और उसके बाद व्यक्ति की अपनी आध्यात्मिक पहचान — मैं शरीर नहीं हूँ, मैं इन्द्रिय नहीं हूँ, मैं बुद्धि नहीं हूँ, मैं मन और अहंकार नहीं हूँ, मैं इन सबके परे शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मतत्त्व हूँ — हर व्यक्ति को इस आध्यात्मिकता का अनुभव होना चाहिए, ऐसा स्वामीजी मानते थे। जब इस प्रकार की आध्यात्मिकता का अनुभव होता है, तो व्यक्ति के भीतर एक ऊर्जा उत्पन्न होती है, उसमें एक अद्भुत सामर्थ्य उत्पन्न होती है, उसे अपनी शक्ति का अनुभव होता है, उसके

भीतर से दैन्य और कायरता जैसे दोष दूर हो जाते हैं और वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अप्रतिहत गति से, अबाध गति से आगे बढ़ सकता है। इस प्रकार शिक्षा का प्रयोजन अपने जीवन में चारों पुरुषार्थों का भलिभाँति रूपायन कर सके। चाहे वह अर्थ हो, या धर्म हो, या काम हो, या मोक्ष हो। अतः इस पूर्णता की अभिव्यक्ति के लिए जमीन तैयार करना, भूमिका प्रस्तुत करना, यही शिक्षा का प्रयोजन है — ऐसा स्वामीजी मानते हैं।¹¹

वे शिक्षा की जिन पद्धतियों को भारत के लिए उपयुक्त समझते थे, उन्हें यदि हम विश्लेषित करें, तो फिर कई बातें हमारे सामने आती हैं। (क) उस शिक्षा का आधार क्या हो? (ख) उस शिक्षा की संरचना क्या हो? स्वामीजी ने शिक्षा को धर्म से जोड़कर देखा। इसलिए उनकी दृष्टि में धर्म और शिक्षा दो भिन्न चीजें नहीं हैं और जो उद्देश्य धर्म का है, वही उद्देश्य शिक्षा का भी होना चाहिए। धर्म से स्वामीजी का तात्पर्य नहीं था कि किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के मतानुसार शिक्षा दी जाए, किसी विशेष पूजन पद्धति के द्वारा, किसी विशेष उपासना के द्वारा या चिन्तन के किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के द्वारा शिक्षा दी जाय — ऐसा उनका भाव नहीं था। धर्म का जो वास्तविक अर्थ है वह यह नहीं है, क्योंकि यह सारा अभिचार या कर्मकाण्ड, ये सारे मत मतान्तर, ये तो धर्म के एक अंग मात्र हैं, धर्म के अंश मात्र हैं। यह धर्म का कलेवर है, धर्म की आत्मा नहीं है। धर्म की आत्मा तो वे शाश्वत जीवन-मूल्य हैं, जो व्यक्ति के आत्मा को सार्थकता प्रदान करते हैं और उसे अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा के समायोजन में शक्ति देते हैं, दिशा देते हैं, मार्ग निर्देशन करते हैं, धर्म के कुछ ऐसे नियम हैं, जिनका पालन करके व्यक्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने उत्कर्ष की सम्पूर्ण सम्भावनाओं को उपस्थित कर सकता है, उनका रूपायन कर सकता है। इसलिए हमारे यहाँ जब चार पुरुषार्थों की बात की जाती है, तो सर्वप्रथम उनमें धर्म आता है। धर्मपूर्वक अर्थ, धर्मपूर्वक काम — इस प्रकार आचरण होना चाहिए। अर्थ यदि धर्म से रहित हो गया, तो उस प्रकार की डकैतियाँ और लूट पाट होने लगती हैं, जैसी आज हमारे समाज में हो रही हैं। काम अगर धर्म से रहित हो जाय, तो उस तरह का अनाचार या भ्रष्टाचार दिखने लगता है, जैसा आज हमारे यहाँ हो रहा है। तो धर्म का बहुत अधिक महत्व है। स्वामीजी की दृष्टि में धर्म का अर्थ है आध्यात्मिकता। धर्म का अर्थ है वेदान्त। उपनिषदों में प्रतिपादित जो एक तत्त्व है, वह आत्मतत्त्व ही इस सम्पूर्ण सृष्टि के

रूप में व्यक्त हो रहा है, वही मैं हूँ, वही आप हैं, यह सारी सृष्टि भी वही है — इस तत्व की अनुभूति ही धर्म है।¹²

यह जो आध्यात्मिक प्रवणता है, यह जो आध्यात्मिकता है — यही धर्म है। इस आध्यात्मिकता की अनुभूति ही धर्म का प्रयोजन है, धर्म का लक्ष्य है। इसलिए स्वामीजी ने शिक्षा को धर्म में रोपा, शिक्षा की जो प्रेरणा है, वह धर्मपूर्वक होनी चाहिए। धर्म का कार्य है — चरित्र—निर्माण। इसलिए स्वामीजी की जो शिक्षा पद्धति है, वह कहलाती है — मनुष्य निर्मात्री और राष्ट्र निर्मात्री शिक्षा। शिक्षा उसमें सद्गुणों का, सकारात्मक मूल्यों का आधान करे; उसे नैतिक मूल्य दे, उसे सामाजिक मूल्य दे, उसे धार्मिक मूल्य दे, उसे आध्यात्मिक मूल्य दे; उसके चरित्र में जितनी कमियाँ हैं, उन्हें दूर करके, उसे परिष्कृत करने का कार्य करे — धर्म का यही कार्य है और यही शिक्षा का भी है। अतः स्वामीजी ने शिक्षा और धर्म — इन दोनों को विपरीत ध्रुव नहीं माना, जैसा कि आज समझा जा रहा है, धर्म के इस स्वरूप को ही अप—व्याख्यायित किया गया है और इसकी वजह से समाज में कई विकृतियाँ आ रही हैं। परन्तु स्वामीजी ने यह अनुभव किया कि धर्म से विरहित शिक्षा का व्यक्ति के ऊपर सकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए स्वामीजी ने अपने विद्यार्थियों के लिए जिन मूल्यों की, जिस चरित्र की आवश्यकता बताई, वे हैं — श्रद्धा, विश्वास, साहस, सत्य के प्रति निष्ठा और ब्रह्मचर्य। ये सारे जो जीवन—मूल्य हैं, उनमें से ब्रह्मचर्य का अर्थ है कामनाओं, वासनाओं तथा इच्छाओं का संयम। और इस ब्रह्मचर्य—पालन के फलस्वरूप ही चित्त का एकाग्रीकरण या उसे किसी विषय में लगाना सम्भव हो सकता है। और श्रद्धा ! श्रद्धा वह मूलभूत पाथेय है, जिसको लेकर व्यक्ति अपने जीवन में चलता है। गुरु के वाक्यों में श्रद्धा, शास्त्र के वाक्यों में श्रद्धा, सत्पुरुषों के वाक्य में श्रद्धा; यह श्रद्धा व्यक्ति को एक सम्बल देती है। उसमें साहस को जन्म देती है। साहस एक अद्भुत नैतिक गुण होने के साथ ही एक मानसिक धर्म भी है, जो न केवल व्यक्ति को बाहरी विषम परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने में सहायक होता है, अपितु स्वयं अपनी कमियों और अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने में सहायक होता है। यह श्रद्धा, यह साहस, सत्य के प्रति एकनिष्ठा, आत्मसंयम — ये सारे गुण यदि व्यक्ति के अन्दर शिक्षा विकसित नहीं

करती, तो वह शिक्षा व्यर्थ है। जीवन के भीतर किसी भी सार्थकता को लाना, उसका प्रयोजन कदापि नहीं हो सकता।¹³

एक बात और स्वामीजी ने कही, जो शायद सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात है और उसके बड़े दूरगामी गहरे मनोवैज्ञानिक अर्थ हैं। उन्होंने कहा कि शिक्षा दी नहीं जा सकती। जानने की प्रक्रिया में व्यक्ति कोई नई चीज नहीं जानता, बल्कि वह आविष्कार करता है। सारा ज्ञान व्यक्ति के अपने भीतर स्थित होता है। अध्यापक पुस्तक और विषय उसका आलम्बन बनते हैं यानि इनकी सहायता से वह उस ज्ञान को अपने भीतर अनुभव कर पाता है। एक छोटा सा उदाहरण लें – किसी व्यक्ति को देखकर अपने मन में स्नेह उमड़ता है, किसी को देखकर आपके मन में श्रद्धा जागती है और किसी को देखकर आपके मन में द्वेष भी उत्पन्न होता है। अब यह स्नेह, श्रद्धा तथा द्वेष आपकी अपनी संरचना का विषय है, ये आपके भीतर हैं, ये आपके बाहर कभी नहीं हैं। लेकिन सामने उपस्थित व्यक्ति इसका उद्दीपक बन जाता है। इनका आलम्बन बन जाता है और उसके सहारे ये मनोभाव आपके भीतर व्यक्त हो जाते हैं, जो आपके भीतर सुप्त रूप से मौजूद थे, विद्यमान थे। स्वामीजी कहते हैं कि ठीक वैसे ही सारा ज्ञान आपके अपने भीतर हैं, वह केवल व्यक्त होता है और शिक्षा उसी को अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया है, जो वह चरित्र निर्माण के द्वारा सम्पन्न करती है। इसलिए स्वामीजी ने गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को जो व्याख्यायित किया, वह कुछ इस प्रकार से किया। जैसे हम किसी पौधे को रोपते हैं, उसमें पानी देते हैं, खाद देते हैं। यदि वह ज्यादा सुकोमल है, तो उसके ऊपर छाया कर देते हैं। कोई उसे चोट न पहुँचाए, इसलिए हम उसके चारों ओर एक बाड़ बना देते हैं। लेकिन उस पौधे का विकास उसकी अपनी आन्तरिक शक्ति संरचना और प्रकृति के अनुसार ही होता है। उसे जितना बढ़ना होगा, जैसा बढ़ना होगा, वह वैसा ही बढ़ेगा। इस प्रकार हम किसी भी विद्यार्थी को इस प्रकार का चरित्र दे सकते हैं, इस तरह का वातावरण दे सकते हैं कि वह अपनी विकास यात्रा जल्दी से जल्दी और सरलतापूर्वक पूरी कर ले। हम केवल उस विद्या की अभिव्यक्ति के लिए परिवेश तैयार कर सकते हैं। इससे अधिक हमारा कोई उत्तरदायित्व नहीं है। यदि हमने वह वातावरण अपने बच्चों को दिया, अपने

छात्रों को दिया, तो वह स्वयं अपने भीतर के ज्ञान का आविष्कार कर लेगा। यह बात सुनने में थोड़ी-सी अव्यावहारिक लग सकती है, पर यह एक सच्ची बात है।¹⁴

स्वामीजी जब कहते हैं कि शिक्षण पद्धति एक सहायिका है, अनुकूल वातावरण दिए जाने पर व्यक्ति अपने भीतर के ज्ञान को आविष्कृत करता है, तो इससे यह सिद्ध होता है कि शिक्षा एक आन्तरिक, एक अन्तरंग प्रक्रिया है। वह शिक्षार्थी के अन्दर घटित होती है, वह उसके अपने स्वरूप का एक हिस्सा होती है। आज शिक्षण पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह पूरी तौर से एक ऐसी व्यवस्था है, जिसकी व्यक्ति के अन्तःकरण से कुछ भी लेना देना नहीं है। हम इसे एक कोट की तरह पहन सकते हैं और एक कोट की तरह उतारकर रख सकते हैं। यह हमारे जीवन में, हमारे भीतर हमारे मन में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन और कोई सुधार नहीं ला सकती, क्योंकि यह हमारी मानसिक प्रक्रिया का अंग नहीं है। यह शिक्षा हमारे भीतर घटती नहीं है, यह हमारे स्वरूप का हिस्सा नहीं बनती। स्वामी जी के शब्दों में — वह केवल जानकारियों के स्तर पर आकर रुक जाती है। इसलिए इतना पढ़-लिखकर भी, शिक्षा के इतने अवसर लेकर भी, यदि व्यक्ति और समाज के भीतर कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हो रहा है, तो इसका कारण केवल यह है कि आज शिक्षा बाहरी व्यवस्था हो गयी है। वह आन्तरिक प्रक्रिया नहीं है। इसलिए इसके द्वारा व्यक्ति के चरित्र में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हो पाता। शिक्षा के लिए हमारी अर्हता इतनी है कि हमने आठवीं की परीक्षा पास कर ली है। किसी भी तरह चाहे नकल करके किया हो, या रटकर किया हो, हमें नवीं में प्रवेश मिल जाएगा। यदि हमने बी.ए. कर लिया, तो हम एम.ए. करेंगे ही और यदि एम.ए. कर लिया है, तो रिसर्च करेंगे ही। क्यों करेंगे ? कभी भी कोई व्यक्ति रुककर यह सवाल नहीं करता कि हम जिस दिशा में जा रहे हैं, क्या यह दिशा हमारी है ?¹⁵

6.2.2: शिक्षा में अधिकारी भेद :-

हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति में अधिकारी-भेद का बहुत अधिक महत्व था। हर व्यक्ति हर तरह की शिक्षा के अनुकूल नहीं होता। सम्भव है कोई व्यक्ति बहुत अच्छा चित्रकार हो सकता है, अध्यापक हो सकता है, गायक हो सकता है, हो सकता है कोई व्यक्ति

सैनिक बन सकता है, परन्तु हमने उस अधिकारी भेद की सर्वथा उपेक्षा कर दी। आज हमने 'सब धान बाइस पसेरी' की तरह एक पाठ्यक्रम बना दिया है और हर व्यक्ति आज उसके अनुसार पढ़ रहा है। वह शिक्षा उसके आन्तरिक वातावरण के अनुकूल है या नहीं, इस पर कोई विचार नहीं करता।

आखिरी बात जो मुझे कहनी है वह यह कि स्वामीजी की शिक्षण पद्धति का कई प्रकार से विश्लेषण किया जा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से यह विश्लेषण एक प्रकार का होगा और तात्त्विक दृष्टि से वह बिल्कुल अलग प्रकार का। तात्त्विक दृष्टि से वे केवल अद्वैत और आध्यात्म की शिक्षा देते हैं। व्यावहारिक स्तर पर, सामाजिक जीवन के स्तर पर भी स्वामीजी ने बड़ी विस्तृत योजना दी है। व्यक्ति को क्या पढ़ना चाहिए, क्या नहीं पढ़ना चाहिए और अन्त में उन्होंने कहा कि यदि व्यक्ति सर्वांग सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना है, तो इसके लिए जरूरी है कि उसके विषयों को इस तरह से बाँटा जाय कि मनुष्य की बुद्धि द्वारा स्पर्श किए जाने वाले जीवन के सारे पक्ष उसमें आ जाएँ। साहित्य के एक वर्ग को वे अँग्रेजी में क्लासिक कहते हैं, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति को भारत के शाश्वत चिन्तन मूल्यों का परिचय कराने वाले वेद, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थ आते हैं। दूसरे वर्ग में विज्ञान आता है। तीसरा वर्ग तकनीकी का है, चौथे वर्ग में साहित्यिक विषय है और पाँचवा वर्ग ललित कलाओं का है, क्योंकि स्वामीजी मानते हैं कि ललित कलाओं के बिना व्यक्ति में कोमलता तथा संवेदना के स्तर पर, वह परिष्कृत तथा सुश्रुति उत्पन्न नहीं हो पाती, जो उसे एक अच्छा इंसान बना दे।¹⁶

6.2.3: स्वामीजी की शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष :-

सामान्यतः आज कल के लोगों को यह बात बड़ी विचित्र लगती है कि शिक्षा का आध्यात्म से भी कुछ लेना देना है। सामाजिक विज्ञानों को पढ़ने के लिए क्या आवश्यक है कि हमें अपनी आत्मरूपता का ज्ञान हो ? जब स्वामीजी कहते हैं कि व्यक्ति में अन्तर्निहित दिव्यता और पूर्णता का प्रकाशन ही शिक्षा का उद्देश्य है, उस समय वे इतनी गहरी बात कह रहे होते हैं जिसके सामाजिक प्रभाव अद्भुत रूप से दूरगामी

हैं। जिस समय व्यक्ति को अनुभव होता है कि मैं केवल शरीर, केवल मन, केवल इन्द्रिय, केवल बुद्धि नहीं हूँ, मेरा संसार केवल सम्बन्धों का संसार नहीं है, मैं इन सभी मर्यादाओं के बाहर, इन सीमाओं के परे, एक शुद्ध सच्चिदानन्द आत्मतत्त्व तब दो क्रान्तियाँ घटती हैं। एक वैचारिक क्रान्ति जो व्यष्टि के स्तर पर घटती है और दूसरी वैचारिक क्रान्ति जो समष्टि के स्तर पर घटती है, यानि व्यक्ति के स्तर पर भी कुछ परिवर्तन होता है और समाज के स्तर पर भी परिवर्तन होता है। जब व्यक्ति अपनी दिव्यता का अनुभव करता है, जब वह अपने भौतिक व्यक्तित्व के सीमाओं से आजाद होता है, तब उसके अन्दर जो क्रान्ति घटती है, वह उसे अनासक्त तथा अपराजेय बना देती है। व्यक्ति जब भी हारता है, आसक्ति के कारण हारता है, व्यक्ति सदैव अपने कारण हारता है, क्योंकि पराजय एक मनःस्थिति है,, इसकी कोई अपनी स्थिति नहीं है। सम्पूर्णगीता का सारांश केवल इतना ही है कि अनासक्त व्यक्ति ही विजयी होता है। वह व्यक्ति के स्तर पर अनासक्त होता है और समाज के स्तर पर शिव-स्वरूप हो जाता है। हमारी सारी कामनाएँ, सारी इच्छाएँ और स्वार्थ कहाँ से उत्पन्न होते हैं ? ये हमारे इस भौतिक व्यक्तित्व की देन हैं और इसी के क्षेत्र में रहते हैं। जब हम यह अनुभव कर लेते हैं कि मैं कोई भौतिक पदार्थ नहीं हूँ, मैं सम्बन्धातीत हूँ, मैं दिव्य हूँ, तब हमारी भौतिक इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और वासनाएँ बहुत संयमित और नियंत्रित हो जाती हैं, बहुत कम हो जाती हैं। तब हम दूसरों के लिए जीना शुरू कर देते हैं, क्योंकि हमें यह बोध हो जाता है कि जो मैं हूँ, वही ईश्वर है और वही विश्व है। जो मैं हूँ, वही तुम हो।¹⁷

क्यों हम इतने अपने पराये में बँट गए ? दरअसल तो तुम जो हो वही मैं भी हूँ। जब व्यक्ति संवेदना के स्तर पर ऐसा अनुभव कर लेता है, तो उसके द्वारा किसी का अहित सम्भव नहीं है। फिर समाज में जो हिंसा है, जो भ्रष्टाचार है, जो अपराध है, जो उत्पीड़न है, ये सब स्वतः समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भावनात्मक स्तर पर वैश्विक एकता का अनुभव कर लेता है। इसलिए स्वामीजी ने कहा कि यदि शिक्षा व्यक्ति की अपनी आध्यात्मिकता का अनुभव नहीं दे रही है, यदि इसका पर्यवसान अपनी पूर्णता की पहचान में नहीं है, तो वह शिक्षा व्यर्थ है।

6.3 स्त्री शिक्षा एवं नारी सशक्तिकरण :-

स्त्री स्वातंत्र्य एवं नारी-जाति की उन्नति अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु देश में आज भी स्त्रियों की स्थिति दयनीय नजर आती है। कहने को तो यह कहा जाता है कि स्त्रियों को पूरी स्वतंत्रता दी गई है, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो वह आज भी पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं है। स्त्री स्वातंत्र्य हेतु सर्वप्रथम आवश्यक है कि हिन्दू नारी सतीत्व के आदर्श को पृथ्वी की सम्पूर्ण सम्पत्तियों से भी उच्च स्थान दिया जाय। फिर उन्हें इतिहास, पुराण, धर्म, कला, विज्ञान, गृहस्थी, पाककला, स्वास्थ्य-विज्ञान की शिक्षा दिया जाये। अन्यान्य विषयों के साथ ही स्त्रियों के स्वातंत्र्य के लिए साहस और वीरता का भी अर्जन करने एवं आत्मरक्षा का कौशल सीखने की भी आवश्यकता है।

स्वामी विवेकानंद निर्भीक वेदान्ती थे और उन्होंने महिलाओं की स्वाधीनता एवं अधिकार का खुले तौर पर समर्थन किया। स्वामीजी अपने समय की नारी समस्याओं पर चर्चा करते हुए कहा— “परतत्त्व ब्रह्म में लिंगभेद नहीं। हमें ‘मैं-तुम’ की भूमि में लिंगभेद दिखाई देता है”। उन्होंने और भी कहा — “इस देश में पुरुष और स्त्रियों में इतना अन्तर क्यों समझा जाता है, यह समझना कठिन है। वेदान्त शास्त्र में तो कहा है, एक ही चित् सत्ता सर्वभूतों में विद्यमान है”।¹⁸

“इस देश की नारियों को ही क्यों, मैं उनसे भी वही बात कहूँगा, जो पुरुषों से कहता हूँ। भारत में विश्वास करो और भारतीय धर्म में विश्वास करो। शक्तिशाली बनो, आशावान् बनो और संकोच छोड़ो; और याद रखो कि यदि हम बाहर से कोई वस्तु लेते हैं, तो संसार की किसी अन्य जाति की तुलना में हिन्दू के पास उसके बदले में देने को अनन्त गुना अधिक है”।¹⁹

● नारी का सम्मान :-

नारी को उसके प्राप्त अधिकारों से वंचित न रखना। नारी के प्रति समादर और पूजा का भाव जाग्रत करना। स्वामीजी ने बताया कि पाश्चात्य देश आज जो इतने उन्नत

हुए है; वह केवल उनकी नारी के प्रति समादर की भावना का फल है। नारी पाश्चात्य देशों में हेय नहीं है, उपेक्षता और परित्यक्ता नहीं है, वह स्वतंत्र है, उसे समान अधिकार प्राप्त हैं, पुरुष नारी के प्रति आदर का भाव व्यक्त करता है। यही कारण है कि उन देशों में इतनी प्रगति हुई है। पर यहाँ भारत में नारी पुरुष की दासी है, उपभोग्या है, बच्चा पैदा करने वाली मशीन है। इसलिए भारत अधःपतित हुआ है। स्वामीजी कहते थे कि वेद-काल में नारी स्वतंत्र थी, उसे पुरुष के समान ही अधिकार प्राप्त थे। वह वेदों का अध्ययन करती थी, शास्त्रार्थ करती थी उसका उपनयन संस्कार होता था। वह भारत का स्वर्णयुग था। धीरे-धीरे नारी को बाँधने के प्रयत्न हुए और आज वह श्रृंखलाओं में एकदम जकड़ी हुई, नितान्त असहाय, पुरुषमुखापेक्षी, भीरु भामिनी बनकर रह गयी है। स्वामीजी ने कहा था कि जब तक भारत में नारी का उत्थान नहीं होता, तब तक देश की दुर्दशा दूर न होगी। इसलिए वे देश के नवजागरण के लिए यह अनिवार्य समझते थे कि नारी जाग्रत हो, वह अपनी समस्याओं को पहचाने और स्वयं उनका हल ढूँढ निकाले।

● जनसेवा :—

स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने अपने आलेख “हमारी समस्याएँ और स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट समाधान” में स्वामी विवेकानंद जी के सेवा कर्म को इस प्रकार से व्यक्त किया है, स्वामी विवेकानंद जी की यह बात महत्वपूर्ण है कि मनुष्य का आदर्श मुक्ति या मोक्ष है और इस मोक्ष प्राप्ति का मार्ग सेवा है। किन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि कैसी सेवा करे ? सेवा का एकमात्र उपाय है, एकमात्र मार्ग है — दूसरों के लिए जीना। अपने लिए सभी जीते हैं, पर जो दूसरों के लिए जीता है, उसी का जीवन धन्य है। स्वामीजी ने मैसूर के महाराजा को एक पत्र लिखा था। उसके अंतिम अंश में उन्होंने लिखा — “प्रिय महाराज, जीवन क्षणभंगुर है, जीवन के ये भोग क्षण-स्थायी हैं; वे ही धन्य हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं, बाकी लोग तो जीते हुए भी मूर्ख के समान हैं”। आज देश की वही जीवन्मृत अवस्था हो गयी है और यह अवस्था इसलिए हो गई है क्योंकि स्वार्थ के प्रबल होने के कारण व्यक्ति का ध्यान उस ओर नहीं जाता। अतः स्वामीजी ने देश के लिए जो राजमार्ग दिखाया और वह यह है कि दूसरों के लिए जियो। समाज में जो दुःखी हैं, निर्धन हैं, उनकी सेवा करो। पहले के ऋषियों ने कहा था —

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव। स्वामीजी ऋषि थे और ऋषि-परम्परा में उन्होंने नया उपनिषद् देते हुए कहा — दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव, रुग्णदेवो भव — गरीब को देवता समझो, मूर्ख को देवता समझो, रोगी को देवता समझो और देवता समझकर उनकी सेवा करो, उनकी उन्नति का उपाय करो।

● वेदांत एवं राष्ट्रवाद :—

अद्वैत-वेदान्त के दर्शन को सक्रिय राष्ट्रवाद का रूप देते हुए स्वामी विवेकानंद ने कहा कि हमें ईश्वर को ढूँढ़ना होगा — आकाश में नहीं, वरन् प्रत्येक जीव के हृदय में और विशेषकर निर्धनों-पीड़ितों के हृदय में। “हमारा देश ही हमारा जाग्रत् देवता है। सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके कान हैं। समझ लो कि दूसरे देवी-देवता सो रहे हैं। जिन व्यर्थ के देवी-देवताओं को हम देख नहीं पाते, उनके पीछे तो हम बेकार दौड़ें और जिस विराट् देवता को हम अपने चारों ओर देख रहे हैं, उसकी पूजा ही न करें ?

वेदान्त का आध्यात्मिक आलोक ही भारत की बहुमूल्य धरोहर है। वेदान्त में संकीर्णता के लिए कोई जगह नहीं। स्वामी जी पूछते हैं — “मानवात्मा की इस परम अद्भुत रचना, ईश्वर की इस अद्भुत वाणी — वेदान्त के अति अद्भुत, युक्तिसम्मत, उदार एवं उदात्त विचारों को छोड़ और ऐसा क्या है जो सभ्य मानव की निष्ठा को आकृष्ट करे” ? वेदान्त हमारा राष्ट्रीय दर्शन है, पर विषयवस्तु की दृष्टि से यह अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वभौमिक है। उन्हीं के शब्दों में “उपनिषदों का दर्शन — वेदान्त — मानव को अनादि काल से प्राप्त हुए आध्यात्मिक विचारों में प्रथम और अन्तिम बात है”।²⁰

6.4: आत्म-कल्याण एवं योग चतुष्टय :—

स्वामी विवेकानंद के आत्म-कल्याण सम्बन्धी विचारों को समकालीन भारतीय दर्शन नामक पुस्तक में बसन्त कुमार लाल ने निम्न प्रकार से बतलाया है—

विवेकानंद के अनुसार 'स्वतंत्रता' आत्मा की मूल विशिष्टता है अर्थात् आत्म वस्तुतः कभी बन्ध हुआ ही नहीं, वह कभी भी बन्धनग्रस्त नहीं होता। उसका बन्धनग्रस्त होना भी एक प्रतीति है, एक भ्रान्ति है। किन्तु विवेकानंद को यह अवगति है कि आत्म का विवरण तात्त्विक दृष्टि से चाहे जितना भी सारगर्भित प्रतीत हो, अपने साधारण जीवन में, व्यवहार में, मनुष्य को कष्ट अथवा दुःख की स्पष्ट अनुभूति है। उसे हर पल अपनी सीमितता का आभास मिलता रहता है, तथा जीवन भर वह कष्ट झेलता ही है। विवेकानंद को यह भी चेतना है कि इसी दुःख तथा कष्ट की अनुभूति व्यक्ति को विचार करने के तथा इससे अन्तिम त्राण पाने का मार्ग ढूँढने के लिए बाध्य करती है।

विवेकानंद का विश्वास है कि इन दोनों प्रकार की दृष्टि अपने-अपने स्थान पर उपयुक्त है। उनकी यह भी मान्यता है कि इन दोनों दृष्टियों में वस्तुतः कोई मौलिक विरोध भी नहीं है। 'जीवन में दुःख की स्पष्ट अनुभूति' तथा 'यह तात्त्विक सत्य कि आत्म कभी बन्धनग्रस्त नहीं होता' एक दूसरे के विरोधी या एक दूसरे से असंगत उक्तियाँ नहीं हैं। अपने इस विचार का स्पष्ट विवेचन उन्होंने 'आत्म के अमरत्व' — विचार के अन्तर्गत किया है। उनके विचार में मनुष्य का चरम भाग्य 'अमरता की अनुभूति' ही है। इसके स्पष्टीकरण से स्पष्ट हो जाता है कि कैसे ऊपर दी गई दो उक्तियाँ परस्पर विरोधी नहीं हैं।²¹

स्वामीजी बार-बार कहा करते थे कि भारत का कल्याण शक्ति साधना में है। जन-जन में जो शक्ति छिपी हुई है, उसे साकार करना है। जन-जन में जो साहस और जो विवेक प्रच्छन्न है, उसे बाहर लाना है। जिसके लिए योग एक उचित माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाता है।

● आत्म कल्याण हेतु योग की अनिवार्यता :—

सामान्यतः 'योग' शब्द के साथ दो अर्थ जुड़े रहते हैं। एक का अर्थ 'मिलन' तथा दूसरे का अर्थ में यह एक 'विशेष प्रकार की साधना' सूचित करता है। विवेकानंद ने योग शब्द को बड़ा व्यापक अर्थ दिया है, अतः उनके अर्थ में दोनों प्रकार के अर्थ समाविष्ट हैं। अतः कहा जा सकता है कि 'योग', जिसके द्वारा अमरत्व की अनुभूति या

आत्म-कल्याण सम्भव है, एक ऐसा मार्ग है जो 'साधना' का मार्ग है तथा जो मिलन का मार्ग है। इसके अन्तर्गत ऐसे अनुशासन आते हैं, जिनके द्वारा मिलन की अनुभूति सम्भव है। प्रो. रमेश चन्द्र सिन्हा योग के अर्थ को स्पष्ट करते हुए अपनी पुस्तक समकालीन भारतीय चिन्तक में कहते हैं— "योग" का शाब्दिक अर्थ है— संयुक्त करना। आत्मा को परमात्मा के साथ संयुक्त करना ही "योगी" का अर्थ है। "योग" का अर्थ है "समत्व"। "योग" का अर्थ है निष्काम कर्म करना। वहीं यदि वेदान्त दर्शन में योग का अर्थ देख जाय तो वेदान्त दर्शन में योग का अर्थ आत्मा का ब्रह्म से मिलन समझा गया है। इसी प्रकार से गीता ने योग का अर्थ एक ऐसी मनःस्थिति एवं संयमित चित्तवृत्ति से समझा है जहाँ लाभ-हानि, जय-पराजय, सुख-दुःख का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।²²

विवेकानंद ने धर्म के परम लक्ष्य के साधनों को "योग" कहा है। विभिन्न प्रवृत्तियों एवं स्वभाव के अनुसार "योग" भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। कर्म करने वालों के लिए "योग" का अर्थ है— निष्काम भाव से कर्म करना। भक्त के लिए प्रेम के द्वारा ईश्वर के साथ संबन्ध स्थापित करना ही "योग" है। ज्ञानी के लिए "योग" का अर्थ है— ईश्वर के स्वरूप की अनुभूति ज्ञान के द्वारा होना। राज-योग में मनुष्य ईश्वर के साथ संबन्ध अपने मन संयम के द्वारा करता है। इस तरह विवेकानंद का विचार है कि कर्म-योग के द्वारा मानव ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति करता है। भक्ति-योग का तात्पर्य है मानव भक्ति या प्रेम के द्वारा ईश्वरीय अनुभूति करना। भक्ति या प्रेम के द्वारा ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति होती है। मानव को ज्ञान के द्वारा ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति होती है। राज-योग में मनुष्य ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति मन-संयम के द्वारा करता है। ये सभी "योग" अपनी-अपनी दृष्टि से उचित हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि सभी एक ही केन्द्र —ईश्वर की ओर जाते हैं।

मानव विवेक, संकल्प, भावना एवं चंचल इन्द्रियों का संयुक्त रूप है। मानव एक ऐसा जीव है जो सोचता है, संकल्प करता, अनुभव करता है तथा जिसकी इन्द्रियाँ चंचल रहती है। विवेक ने ज्ञान योग को उत्पन्न किया। संकल्प ने कर्मयोग को उत्पन्न किया। भावना ने भक्तियोग को उत्पन्न किया। चंचल इन्द्रियों पर नियंत्रण के लिए "राज योग" उत्पन्न हुआ।

मनःसंयम ने राजयोग को उत्पन्न किया। वस्तुतः ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग एवं राजयोग का लक्ष्य एक है और उनको एक-दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते।²³

स्वामी विवेकानंद ने इन चारों योगों का पृथक्-पृथक् वर्णन अवश्य किया है, किन्तु इसे एक दूसरे से भिन्न नहीं माना। स्वामी जी का मानना है कि ये सभी योगों के माध्यम से एक ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म — ये चार मार्ग मुक्ति की ओर ले जाने वाले हैं। हर एक को उसका अनुसरण करना चाहिए, जिसके लिए वह योग्य है; लेकिन इस युग में कर्मयोग पर विशेष बल देना चाहिए।²⁴

ये चारों योग इसलिए बतलाए गये हैं क्योंकि सभी मनुष्य की मानसिकता एक समान नहीं है। कुछ लोग ज्ञानयोग का अनुसरण नहीं कर सकते। उनके लिए भक्तियोग सरल लगता है। कुछ कर्मयोग का अनुसरण करते हैं तथा कुछ राजयोग का। विवेकानंद का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता एवं मानसिक योग्यता के अनुसार ही किसी भी मार्ग का अनुसरण कर सकता है। किसी भी माध्यम से लक्ष्य की प्राप्ति आसानी से की जा सकती है।

ये सभी मार्ग एक दूसरे से विरीत नहीं हैं। यह कहना उचित नहीं कि ज्ञानमार्ग का शोधक कर्ममार्ग या भक्तिमार्ग से बिल्कुल कटा रहता है। चारों मार्गों को एक दूसरे से पृथक् मानना ठीक नहीं है। विवेकानंद व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से अपनी मानसिकता एवं योग्यता के अनुरूप किसी मार्ग का अनुसरण कर ईश्वर के साथ संबंध स्थापित करने की बात करते हैं।

एक कर्मयोगी के ईश्वर की प्राप्ति का साधन कर्म है और एक भक्त के लिए भक्ति। कर्म के माध्यम से जो परमतत्त्व तक पहुँचना चाहता है उसे “कर्मयोगी” कहते हैं। भक्ति के माध्यम से ब्रह्म तक पहुँचने वाले को भक्तिमार्गी कहते हैं। जो मनः नियंत्रण के माध्यम से परमसत्ता के साथ रहस्यात्मक संबंध स्थापित करता है, उसे “राजयोगी” कहते हैं। जो ज्ञान के माध्यम से परम सत्ता के साथ संबंध स्थापित करता है उसे “ज्ञानयोगी” कहते हैं। योगी चारों को कहा जाता है।²⁵

स्वामी विवेकानंद के द्वारा बताए गये इन चारों योगों का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से है।

1. ज्ञानयोग :-

स्वामी विवेकानंद ने चार प्रकार के योगों का अनुष्ठान किया है, किन्तु ज्ञानयोग में उनकी विशेष निष्ठा थी। वे योग को एक विज्ञान मानते हैं। योग के विषय में कोई रहस्यमय बात नहीं करना चाहते हैं। स्वामी जी ज्ञानयोग में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार बुद्धि के द्वारा प्राप्त ज्ञान सदा सैद्धान्तिक होता है और वास्तविक साक्षात्कार को ही वास्तविक ज्ञान कहा जा सकता है, जिस प्रकार कि एक मानचित्र हमें किसी स्थान के विषय में विशद ज्ञान दे सकता है। परन्तु वह ज्ञान अवास्तविक होगा। उस स्थान के वास्तविक रूप के लिए निरीक्षण आवश्यक है। इस प्रकार सैद्धान्तिक ज्ञान की अपेक्षा वास्तविक साक्षात्कार का महत्व है।

ज्ञानयोग मुख्यतः ज्ञान का मार्ग प्रतिपादित करता है। योगी का परम लक्ष्य है— आत्म अनुभूति जो कि बिना ज्ञान के संभव नहीं है। योग बिना ज्ञान के संभव नहीं है। जब तक हम मनोवैज्ञानिक स्तर पर लोभ, मोह, काम, क्रोध से ऊपर नहीं उठते तब तक ज्ञान का कोई अर्थ नहीं है। जिस प्रकार से अग्नि लकड़ी को राख में बदल देती है, उसी प्रकार से ज्ञान की अग्नि चीजों को राख में बदल देती है। ज्ञान रूपी अग्नि से ही सभी कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं। पुनः गीता में कहा गया है कि सभी कर्मों का अन्त ज्ञान में ही होता है।²⁶

● ज्ञान का अर्थ :-

बंधन के कारणों का बोध होना, अज्ञानता का बोध होना ही ज्ञान का अर्थ है। अज्ञानता का अर्थ है किसी वस्तु के सही रूप को नहीं समझना। “नित्या—नित्य वस्तु विवेक” का अभाव ही अज्ञान कहलाता है। ज्ञान का अर्थ है “नित्या—नित्य वस्तु विवेक” का होना। आत्म ज्ञान के उपरांत ही “नित्या—नित्य वस्तु विवेक” उत्पन्न होता है। आत्म ज्ञान को ही विवेकानंद सही अर्थ में ज्ञान मानते हैं।

ज्ञानयोग सद-असद वस्तु विवेक की बात करता है। विवेक के द्वारा सत्य और असत्य का भेद करना ज्ञानयोग का मुख्य उद्देश्य है। ज्ञानयोग के लिए परिष्कृत विवेक आवश्यक है। शंकर ने विवेकचूडामणि में कहा है कि ज्ञान की अग्नि अज्ञान को भस्म कर देती है। ज्ञान मानव को बन्धन मुक्त करता है। जन्म-मरण के भवचक्र से मुक्ति दिलाता है। नामरूप के विश्व-बन्धन को ज्ञान के माध्यम से तोड़ा जा सकता है। विवेकशील व्यक्ति अन्धविश्वास जीवन के प्रति मोह से ऊपर उठकर सत्य का अन्वेषक हो जाता है। 'तत्त्वमसि' ज्ञानयोगी का लक्ष्य है। ज्ञान मानव का सत्य से साक्षात्कार कराता है। ज्ञानयोग के दो आयाम हैं- भौतिक तथा सांसारिक वस्तुओं से अपने को विरक्त करना तथा आत्मा का ध्यान करना। बाह्य वस्तुओं से मोह त्याग तभी होता है जब ज्ञान का उदय होता है।²⁷

ज्ञानयोग अन्ततः इस बात को बतलाता है कि मानव वस्तुतः दैविक है। मानव को जब आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब वह परम तत्व के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। गीता में कहा गया है कि ज्ञाता भी एक भक्त है और सब में श्रेष्ठ है। जो ईश्वर को जानता है, वह सबसे अच्छी पूजा करता है।

2. भक्तियोग :-

भक्तियोग ईश्वर के साथ निःस्पृह प्रेम को कहते हैं। इसमें रागात्मक पक्ष प्रधान रहता है। भक्तियोग का भी वही लक्ष्य है जो ज्ञानयोग का लक्ष्य है- ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करना। श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को उपदेश दिया कि ईश्वर के भक्त का नाश कभी नहीं होता। भक्ति सगुण ईश्वर की होती है, जिसे नारायण या पुरुषोत्तम कहते हैं। भक्तियोग के लिए मानव का ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण आवश्यक है। भक्त सिर्फ एक ही बात जानता है "वासुदेव सर्वम्"। सब प्रकार के धर्मों को छोड़कर भगवान की शरण में जाने की बात गीता में कही गई है। ईश्वर प्राप्ति के सभी साधनों को छोड़कर ईश्वर शरण में जाने की बात की गई है। वैसी स्थिति में ईश्वर मानव को सब पापों से मुक्त कर देगा।

भक्तियोग में किसी भी प्रकार की हिंसा का समावेश नहीं रहता। भक्ति एक सहज और प्राकृतिक मार्ग है। भक्त मोह माया को त्यागकर ईश्वर प्रेम में लीन रहता है। भक्त अपनी

भावना को दमित नहीं करता, बल्कि भावना को एक उदात्त धरातल देता है। भक्तियोग में मानव को ईश्वर की आराधना कर उसकी शरण में जाना पड़ता है। जो व्यक्ति ईश्वर भक्ति में लीन हो जाता है, वह नाम रूप से ऊपर उठ जाता है। भक्तियोग को मानने वाले व्यक्ति सही अर्थ में भ्रातृत्व भावना से प्रेरित रहते हैं। वे मानव को मानव के रूप में न लेकर ईश्वर को सभी मानव में व्याप्त मानते हैं। भक्त को सभी मानव ईश्वर के प्रतीत दिखते हैं।²⁸

भक्तियोग आरंभिक अवस्था में भजन, कीर्तन, सत्संग, पूजा एवं प्रार्थना से आरम्भ होता है। भक्त दूसरे धर्मावलंबियों से घृणा नहीं करता। सभी धर्मों को समान भाव से देखता है। भक्तियोग उन व्यक्तियों के लिए उपयुक्त मार्ग है जो भावना प्रधान है। सभी व्यक्ति वेद, उपनिषद तथा गीता का मनन नहीं कर सकते। सभी के लिए ज्ञान मार्ग उपयुक्त नहीं है। भक्तियोग को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

1. गौण या साधारण भक्ति
2. परा या उदात्त भक्ति

प्रथम भक्ति मार्ग मानव को उदात्त भक्ति के लिए तैयार करता है। साधारण स्तर पर भक्त भजन, पूजन आदि के द्वारा अपने को उदात्त भक्ति के लिए तैयार करता है। गौण भक्ति की अवस्था में भक्त भोजन की शुद्धता, विमोह, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनावसाद के माध्यम से अपने को तैयार करता है। साधारण भक्ति के लिए मूर्ति पूजा की भी आवश्यकता पड़ती है। चर्च या मंदिर उदात्त भक्त या परा भक्ति के स्तर पर भक्त चर्च या मंदिर नहीं जाता है। वह सभी जगह ईश्वर की अनुभूति करता है। वह पापी के पाप कर्म और पुण्यात्मा के पुण्य कर्म में भी भगवान वास मानता है। साधारण भक्ति से ऊपर उठकर परा भक्ति तक जाना आवश्यक है। साधारण भक्ति आत्मा को शुद्ध करती है और परा भक्ति ईश्वर के साथ सानिध्य स्थापित करता है। परा भक्ति के स्तर पर मानव सभी चीजों से विरक्त हो जाता है। वह सार्वभौम में प्रेम की लौ जगाता है। ईश्वर के प्रति समर्पित रहता है। चरम तत्व के साथ तादात्म्य स्थापित करता है।

भक्तियोग की मान्यता है कि ईश्वर और भक्त के बीच एक द्वैत की कल्पना करें। आलोचकों का कहना है कि भक्तियोग मानव और ईश्वर के बीच एक प्रकार के द्वैत की कल्पना करता है। परन्तु विवेकानंद एकवादी दर्शन में विश्वास करते हैं। उन्होंने बतलाया कि भक्त और ईश्वर में परा भक्ति के स्तर पर तादात्म्य हो जाता है। मानव द्वैत से प्रारंभ करता है। गौण भक्ति के स्तर पर द्वैत वर्तमान रहता है। किन्तु परा भक्ति के स्तर पर ईश्वर और मानव के बीच द्वैत नहीं रहता। जब भक्ति पूर्णता की अवस्था में नहीं पहुँच जाती है, जब भक्त की आत्मा और उसका ईश्वर एक दूसरे के अंदर घुल मिलकर परमानंद प्राप्त कर लेते हैं वही “परा भक्ति” है।²⁹

3. कर्मयोग :-

कर्मयोग को ज्ञानयोग का विपरीत या विरोधात्मक नहीं समझा जाना चाहिए। कर्मयोग तभी संभव है जब ज्ञानयोग संभव है। कोई व्यक्ति कर्म को नहीं त्याग सकता। गीता में कर्म को कुशलतापूर्वक करने को योग की श्रेणी में रखा गया है— “योगः कर्मसु कोशलम्”। इस जगत का आधार कर्म है। अकर्मण्यता का आधार बंधन है, कर्म का आधार स्वतंत्रता। अकर्मण्यता मृत्यु है। कर्म जीवन है। इस जगत् की चक्की को कर्म ही चालू रखता है। जो व्यक्ति कर्म नहीं करता वह इन्द्रिय जाल में फँसा रहता है। उसका जीवन निरर्थक है।

● कर्मयोग का प्रथम लक्ष्य है :-

स्वतंत्रता। कर्मयोग निःस्वार्थ भाव से कर्म के माध्यम से स्वतंत्रता की प्राप्ति है। मोहयुक्त कर्म बंधन का कारण है। मोहयुक्त कर्म स्वतंत्रता का द्योतक है। प्रकृति का उद्देश्य है स्वतंत्रता। निःस्वार्थ कर्म स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है। कर्मयोग को विवेकानंद ने एक नैतिक एवं धार्मिक सिद्धांत माना है, जिसके माध्यम से स्वतंत्रता प्राप्त की जा सकती है। विवेकानंद ने कर्मयोग को आचारशास्त्र या धर्मशास्त्र का मूल मंत्र माना है तथा मोह मुक्त कर्म के माध्यम से मुक्ति की कल्पना की है। कर्मयोगी किसी दार्शनिक अवधारणा का कायल नहीं रहता। वह ईश्वर में विश्वास कर भी सकता है और नहीं भी। वह आस्तिक भी हो सकता है और नास्तिक भी। किसी तत्वमीमांसीय चिंतन की आवश्यकता कर्मयोगी को नहीं

होती। कर्मयोगी का एकमात्र लक्ष्य होता है निःस्पृह भावना से कर्म करना। ज्ञानयोगी ज्ञान का शोधक होता है, कर्मयोगी कर्म में विश्वास करता है।³⁰

● कर्मयोगी का दूसरा लक्ष्य है :—

समानता। समानता का विचार कर्म के लिए प्रेरणादायक है। यद्यपि पूर्ण समानता संभव नहीं है, कर्मयोगी यथासंभव समानता का प्रयास करता है। विवेकानंद कहते हैं कि इस धरती पर पूर्ण समानता कैसे हो सकती है ? सभी व्यक्ति समान मस्तिष्क तथा समान संस्कार लेकर पैदा नहीं होते। पूर्ण समानता तो एक ही अवस्था में संभव है— वह है मृत्यु की अवस्था। मानव और मानव में अंतर है। कर्मयोगी का लक्ष्य है — समानता की प्राप्ति। जिस तरह से विषमता सृष्टि के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार इस विषमता पर अंकुश लगाना भी आवश्यक है। कर्मयोगी इस विषमता को दूर करने में संलग्न रहता है।

जीवन एक चक्र है। कर्म करते रहने से संतोष प्राप्त होता है। हम सभी इस जीवन चक्र में लगे रहते हैं। इस जीवन चक्र से मुक्ति के दो मार्ग हैं— एक है निवृत्ति मार्ग और दूसरा है प्रवृत्ति मार्ग। निवृत्ति मार्ग में सभी कर्मों का परित्याग करने को कहा गया है। परन्तु यह संभव नहीं है कि हम सभी कर्मों से निवृत्त हो जाएं। दूसरा मार्ग है कि हम कार्य में लग जाएं। जगत् में कार्यरत होकर कर्म के रहस्य को समझें। कर्मयोगी का यह उद्देश्य है कि वह जीवन और जगत् में कर्म करें। कर्मयोगी को जीवन की यथार्थता से भागना नहीं है, बल्कि इस यथार्थता का सामना करना है।

कर्मयोगी निष्काम कर्म करता है। सकाम कर्म बंधन पैदा करता है। “कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन मां कर्मफल हेतुर्भुःमा—ते संगोऽस्त्व कर्मणि”। विवेकानंद भी कहते हैं कि कर्म करने का अधिकार मानव को है। परन्तु उसके फल की कामना नहीं करनी चाहिए। विवेकानंद ने कर्मयोग को नैतिक एवं धार्मिक सिद्धांत के रूप में माना है तथा इसका उद्देश्य बंधन से मुक्ति बतलाया है।³¹

4. राजयोग :—

पतंजलि योग को राजयोग भी कहते हैं। चित्तवृत्तियों का निरोध ही राजयोग है। चित्तवृत्ति निरोध समाधि के द्वारा संभव है। चित्त का अर्थ है — बुद्धि, अहंकार तथा मनस के संयुक्त प्रकृति से जो सर्वप्रथम उत्पन्न होता है वह चित्त ही है। जब वह वस्तु के संयोग में आता है तो वृत्ति या आकार ग्रहण करता है। पतंजलि का योगमार्ग “राजयोग” कहा जाता है क्योंकि वह सभी योगमार्गों में श्रेष्ठ है, सबका राजा है। पतंजलि के अनुसार मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ ही उसके समस्त दुःखों का कारण है। इन्हीं वृत्तियों के निरोध से आत्मा कैवल्य प्राप्त करती है। चित्तवृत्तियों की अवस्था के अनुसार मनुष्य क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध पाँच प्रकार के होते हैं। सामान्यतः चित्त की वृत्तियाँ विक्षिप्त होती हैं। विवेकानंद ने भी स्पष्ट कहा है कि इन्द्रियाँ चंचल हैं, मानसिक वृत्तियाँ विक्षिप्त हैं। इसका “राजयोग” के द्वारा ही नियंत्रण किया जा सकता है। जब चित्त की वृत्तियाँ चंचल और रजोगुण रहते हैं तो उन्हें क्षिप्त कहा जाता है। जब वे तमोगुणी और विवेकशून्य होते हैं। तो उन्हें मूढ़ कहा जाता है। जब सत्त्वगुणी रहती है तो उन्हें विक्षिप्त कहा जाता है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (योगसूत्र 2)

क्षिप्त चित्त सुख दुःख की ओर स्वयं प्रवृत्त होता है। मूढ़ चित्त कृत्य अकृत्य का विवेक नहीं करता, ऐसे कर्म की ओर प्रवृत्त होता है जो उसको कष्ट देता है। विक्षिप्त चित्त सुख की ओर प्रवृत्त तथा दुःख से निवृत्त होता है। इनसे भिन्न एकाग्रचित्त और निरुद्धचित्त है। एकाग्रचित्त में बहिवृत्तियों का निरोध हो जाता है। एकाग्रचित्त आंतरिक भावना है और बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्त नहीं होतौ। निरुद्धचित्त आंतरिक भावना से भी निवृत्त हो जाता है। निरुद्धचित्त जो कर्म करता है उसके पुण्य और पाप से वह अछूता रहता है, क्योंकि वह बिना किसी इच्छा के कर्म करता है। सामान्य जनों के लिए शुभ अशुभ मिश्रित होते हैं। किन्तु निरुद्धचित्त के लिए सामान्य है।³²

इस निरोध को प्राप्त करने के लिए आठ सोपान (अष्टांग मार्ग) है, जिन्हें योग के आठ अंग कहते हैं। **यम** :— यम पाँच हैं, जिन्हें क्रमशः सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह कह जाता है।

अहिंसा का अर्थ सर्वथा सभी प्राणियों से अभिद्रोह न करना है। सत्य, मनसा, वाचा और कर्मणा एकरूप रहना है। सत्य के पालन से बिना कर्म किए हुए भी कर्म का फल योगी को मिल जाता है।

ब्रह्मचर्य इंद्रियों का निग्रह है। अस्तेय का अर्थ चोरी न करना है। अस्तेय के पालनकर्ता के पास सभी धन अपने आप चले आते हैं। अपरिग्रह से स्वतंत्रता की प्राप्ति होती है। इन पाँच यमों को सार्वभौम महाव्रत कहा जाता है क्योंकि इनका पालन देश, काल, जाति और परिस्थिति से निरपेक्ष है।

- **नियम** :— नियम भी पाँच है। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। शौच का अर्थ पवित्रता है। पवित्र व्यक्ति ही योगी हो सकता है। गंदा व्यक्ति कदापि योगी नहीं हो सकता है। आंतरिक पवित्रता पाँच प्रकार के यमों के पालन से आती है। शौच केवल बाह्य पवित्रता है। शरीर को पवित्र रखना चाहिए। शौच से शरीर के प्रति जुगुप्सा तथा लोगों के साथ असंसर्ग की भावना उत्पन्न होती है। शरीर स्वतः गंदा है और अन्य लोगों का संसर्ग गंदगी का कारण बनता है।

फिर शौच से सत्य, शुद्धि, सौमनस्य, एकाग्रता, इंद्रिय जय और आत्म दर्शन की योग्यता उत्पन्न होती है। तप सुख—दुःख, शीत—ऊष्ण, भूख—प्यास इत्यादि शारीरिक कष्टों को सहना और उपवास करना है। तप शरीर और इंद्रियों की अशुद्धि को दूर करता है। उनको शक्ति प्रदान करता है। स्वाध्याय मोक्षपरक शास्त्रों का अध्ययन या प्रभाव का जप है। स्वाध्याय से समाधि या एकाग्रता होती है।

- **आसन** :— आसन बैठने का वह प्रकार है जो स्थिर और सुखद हो। ध्यान के लिए सुखद आसन में देर तक बैठना आवश्यक होता है। इसके लिए शरीर को शिक्षित करना पड़ता है। हठयोग प्रदीपिका में चौरासी आसन बताए गए हैं, जिसमें कमलासन, सिद्धासन, शीर्षासन प्रमुख है।
- **प्राणायाम** :— प्राणायाम श्वास और प्रश्वास को नियंत्रित करता है। यह रेचक, पूरक, कुम्भक, प्रत्याहार चार प्रकार का होता है। भीतर की वायु को बाहर निकालकर, बाहरी वायु

को रोक देना रेचक है। बाहरी वायु को ग्रहण कर उसे भीतर रोक देना पूरक है। एक साथ श्वास और प्रश्वास को रोक देना कुंभक है। बाह्य और अभ्यंतर विषय के चिंतन से कुंभक करना केवल कुंभक है। प्राणायाम से चित्त की एकाग्रता बढ़ती है।

- **प्रत्याहार** :— प्रत्याहार से बहिर्मुखी प्रवृत्तियाँ अंतर्मुखी प्रवृत्तियों में बदल जाती है। इससे इंद्रियों का निग्रह या संयम होता है।
- **धारणा** :— बाह्य या आंतरिक किसी भी विषय में चित्त को लगाना ही धारणा है।
- **ध्यान** :— अभी तक जितने सोपानों की चर्चा की गई वे ध्यान के बहिरंग साधन हैं। अंतिम तीन सोपान ध्यान के अंतरंग साधन हैं। धारण का अर्थ किसी देश या बाह्य पदार्थ में चित्त का लगाना है। धारणा के विषय पर निरंतर या अबोध रूप से चित्त लगाना ध्यान है।
- **समाधि** :— जब ध्यान के विषय में केवल अर्थ मात्र निकलता है तब “समाधि” होती है। वस्तुतः जब ध्येय विषय, ध्यान और ध्याता एक हो जाते हैं तब समाधि होती है। समाधि पूर्ण एकाग्रता की अवस्था है। किंतु यह प्रायः क्षणभर के लिए ही होता है। इसमें क्षणभर के लिए ही वृत्ति का निरोध होता है। अभ्यास और वैराग्य से यह निरोध स्थायी रूप से प्राप्त होता है। किंतु इसको कायम रखने के लिए दीर्घकाल तक निरंतर सत्कारपूर्वक अभ्यास और वैराग्य का सेवन करना पड़ता है। इसमें बाधा डालने वाले व्याधि, मानसिक प्रमोद या आलस्य संशय प्रभाव हैं।
- **समाधि दो प्रकार की होती है** :— 1. संप्रज्ञात समाधि और 2. असंप्रज्ञात समाधि।

^{1.} इन्हीं को क्रमशः सबीज और निर्बीज समाधि कहते हैं। संप्रज्ञात समाधि में ध्येय वस्तु का ज्ञान बना रहता है और असंप्रज्ञात समाधि में उस वस्तु का ध्याता से इतना तादात्म्य हो जाता है कि उसका बिल्कुल ध्यान नहीं रहता। असंप्रज्ञात समाधि ही राजयोग का लक्ष्य है।³³

विवेकानंद का कहना है कि प्रत्येक आत्मा दैविक अंश है। राजयोग का उद्देश्य है इस दिव्यता को प्राप्त करना। उसके लिए बाह्य एवं आंतरिक अवस्थाओं पर नियंत्रण करना।

राजयोग के द्वारा आंतरिक शक्ति का उदय संभव है। राजयोग मानव को एक व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक विधि प्रदान करता है जिससे परम तत्त्व तक पहुँचा जा सकता है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि स्वामीजी का दर्शन विभिन्न मूल्यों से परिपूर्ण है। स्वामीजी के समाज दर्शन में एक ओर मानव सेवा समाज सेवा और देश सेवा का विशद विवेचन मिलता है तो दूसरी ओर आत्म लाभ कर व्यक्तिक मोक्ष का मार्ग निर्देशन भी प्राप्त होता है।

उद्धरण एवं संदर्भ

2. भटनागर सुनीता, *स्वामी विवेकानंद का समाज दर्शन*. दिल्ली: प्रतिभा प्रकाशन, 2013, पृ. 62
3. पूर्वोक्त, पृ. 63
4. स्वामी विवेकानंद. *विवेकानंद साहित्य अष्टम् खण्ड*, कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 2014, पृ. 4
5. पूर्वोक्त, पृ. 7
6. पूर्वोक्त, खण्ड 5. पृ. 166
7. स्वामी विदेहात्मानन्द. (संपादक). *स्वामी विवेकानंद और उनका अवदान*. हण्डू, श्रीमती चन्द्रकुमारी: 'स्वामी विवेकानंद और शिक्षा' कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 2018, पृ. 209
8. पूर्वोक्त, पृ. 202–203
9. पूर्वोक्त, पृ. 203
10. स्वामी विदेहात्मानन्द. (संपादक). *स्वामी विवेकानंद और उनका अवदान*. प्रा. प्र. ग. सहस्रबुद्धे: 'वह महान् द्रष्टा' कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 2018, पृ. 127
11. पूर्वोक्त, पृ. 125
12. स्वामी विदेहात्मानन्द. (संपादक). *स्वामी विवेकानंद और उनका अवदान*. वर्मा, डॉ. राजलक्ष्मी: 'स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित मनुष्य निर्मात्री शिक्षा' कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 2018, पृ. 288–289
13. पूर्वोक्त, पृ. 289–290
14. पूर्वोक्त, पृ. 290–291
15. पूर्वोक्त, पृ. 291–292
16. पूर्वोक्त, पृ. 292–293
17. पूर्वोक्त, पृ. 293–294
18. पूर्वोक्त, पृ. 294–295
19. पूर्वोक्त, विवेकानंद साहित्य खण्ड 6. पृ. 185
20. पूर्वोक्त, खण्ड 4. पृ. 269

21. स्वामी विदेहात्मानन्द. (संपादक). *स्वामी विवेकानंद और उनका अवदान*. महादेवन, डॉ. टी. एम. पी. 'स्वामीजी वेदान्तिक राष्ट्रवाद' कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 2018, पृ. 378–379
22. लल, बसन्त कुमार. *समकालीन भारतीय दर्शन*. मोतीलाल बनारसीदास, 2013, पृ. 32–33
23. विजयश्री, रमेश चन्द्र सिन्हा. *समकालीन भारतीय चिंतक*. नयी दिल्ली: डी. के. प्रिंटवर्ल्ड (प्रा.) लि., 2013. पृ. 82
24. पूर्वोक्त, पृ. 83
25. पूर्वोक्त, विवेकानंद साहित्य खण्ड 10. पृ. 218
26. पूर्वोक्त, विजयश्री, पृ. 84
27. पूर्वोक्त, पृ. 84–85
28. विवेकानंद. *द कम्प्लीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानंद वॉल्यूम 5*. कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 2001, पृ. 4
29. पूर्वोक्त, विजयश्री, पृ. 87–88
30. पूर्वोक्त, पृ. 89–90
31. पूर्वोक्त, पृ. 90
32. पूर्वोक्त, पृ. 91
33. पूर्वोक्त, पृ. 95–96
34. पूर्वोक्त, पृ. 96–98

उपसंहार

स्वामी विवेकानंद ने एक बार कहा था कि "मैं समाजवादी हूँ, इसलिए नहीं कि मैं इसे पूर्ण रूप से निर्दोष समझता हूँ, परन्तु इसलिए कि रोटी न मिलने से आधी रोटी ही अच्छी है। अन्य सब मतवाद काम में लाये जा चुके हैं और दोषयुक्त सिद्ध हुए हैं। इसकी अब भी परीक्षा होने दो – यदि और किसी कारण से नहीं तो इसकी नवीनता के लिए ही। सर्वदा एक ही वर्ग के व्यक्तियों को सुख और दुःख मिलने की अपेक्षा सुख और दुःख का बँटवारा करना अच्छा है"। प्रस्तुत शोध-प्रबंध का प्रधान उद्देश्य स्वामी विवेकानंद के इन कथनों का ही परीक्षण करना था। इस कार्य की पूर्ति के लिए विवेकानंद-साहित्य, रामकृष्ण-विवेकानंद भावधारा के विद्वानों के संदर्भित साहित्य एवं अन्य संबंधित ग्रंथों से सहायता ली गई है। इस शोध-प्रबंध के माध्यम से यह प्रतिपादित किया गया है कि स्वामी विवेकानंद के समाजपरक विचारों से समाजवादी व्यवस्था का तो निष्कर्ष निकाला जा सकता है किंतु इसे 'वेदान्तिक' विशेषण से विशेषीकृत करना अत्यंत आवश्यक है।

ध्यातव्य है कि स्वामी विवेकानन्द के वेदान्तिक समाजवाद का स्रोत उनका वेदांत-दर्शन है। वेदांत के अनुसार सत्, ब्रह्म अथवा वास्तविकता अपरिवर्तनीय है। इसके विपरीत जगत् सापेक्षिक, परिवर्तनशील होने से मिथ्या कहा गया है। समाज भी नित्य परिवर्तित होते हुए विकसित होता है। ऐसे में वेदान्त-दर्शन एवं इससे सम्बन्धित किसी सिद्धांत जैसे वेदान्तिक समाजवाद को उस पर आधारित कैसे माना जा सकता है ? जो लोगों की भौतिक स्थिति को उन्नत बनाने में सचेष्ट है। यदि वेदांत के अनुसार जगत् मिथ्या है, तो ऐसी कौन सी नैतिक बाध्यता है, जो इसे समाज की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति को परिवर्तित करने के लिए प्रेरित करे। इस प्रकार प्रत्येक वेदांती के समक्ष वेदान्तिक समाजवाद पर विचार करने के पूर्व वेदान्तिक नीति-दर्शन की समस्या उपस्थित होती है। यदि जगत् में मानवों का सामूहिक जीवन सदैव शुभ-अशुभ मिश्रित एवं परिवर्तनीय है तो उनके कल्याण के लिए नीति-दर्शन या नैतिकता की क्या आवश्यकता है ? यह संशय वेदांत की गलत धारणा के कारण उत्पन्न होते हैं। वेदांती संसार से सन्यास पर उतना जोर नहीं देते, जितना वे आत्मत्याग पर देते हैं। स्वामी विवेकानंद के अनुसार अद्वैत वेदांत वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार की नैतिकता

का सुदृढ़ आधार है। केवल अद्वैत वेदांत ही नैतिकता की सही व्याख्या करता है। अस्तित्व की एकता का अद्वैतवादी सिद्धांत ही यह बताता है कि 'किसी को कष्ट देकर तुम स्वयं को ही कष्ट देते हो'। विवेकानंद के अनुसार 'जितना हम पूर्ण से अपने को अलग करते हैं, उतना ही ज्यादा दुःखी होते हैं'। इसी अद्वैती सिद्धांत से हम नैतिकता का आधार प्राप्त करते हैं।

अद्वैत वेदांत पर आधारित नैतिकता संभव है, यह सामाजिक एवं समाज से पृथक् दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों के आचार का नियमन कर सकती है। मानव जीवन में उसकी यही उपयोगिता उसकी सार्थकता का मापदण्ड है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार कोई भी दर्शन चाहे कितना ही उच्च क्यों न हो, यदि उसे व्यवहार में न उतारा जा सके, यदि वह विभिन्न योग्यता तथा स्वभाव वाले व्यक्तियों को सहायता न पहुंचा सके तो उसका मूल्य बहुत कम है। अद्वैत वेदांत पर आधारित यही नैतिकता स्वामी विवेकानंद के समाज-दर्शन का आधार है।

स्वामी विवेकानंद के पूर्व अद्वैत वेदांत के मूल तत्त्वों के आधार पर समाज-दर्शन का विकास नहीं किया गया। अपनी भारत परिवर्तन के दौरान स्वामी विवेकानंद ने भारतीय समाज की स्थिति को बहुत करीब से देखा एवं समझा था। किन्तु उन्होंने अन्य समाज सुधारकों की भांति धर्म को इस स्थिति के लिए जिम्मेदार नहीं माना, बल्कि वे तो अद्वैत वेदान्त के सभी आत्माओं की एकता के तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत द्वारा समाज में समता स्थापित किये जाने पर जोर देते रहें। समाज-परिवर्तन में धर्म की इस व्यावहारिक भूमिका के लिए धर्म को केवल सैद्धान्तिक सीमाओं में आबद्ध किये जाने के वह सदा विरोधी रहें। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि— "किसी धर्म के सिद्धांत कितने ही उदात्त एवं उनका दर्शन कितना ही सुगठित क्यों न हो, जब तक वह कुछ ग्रंथों और मतों तक ही परिमित है मैं उसे नहीं मानता"। स्वामी विवेकानंद जी भारतीय समाज में प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने एक आदर्श समाज का चित्रण किया। समाज की व्याख्या करते हुए स्वामी जी कहते हैं— वही समाज सबसे श्रेष्ठ है, जहाँ सर्वोच्च सत्य को कार्य में परिणत किया जा सकता है।

उनका समाज-दर्शन विभिन्न मूल्यों से परिपूर्ण है। उनके समाज-दर्शन में जहाँ एक ओर हमें मानव-सेवा, समाज-सेवा और देश-सेवा का विशद विवेचन मिलता है, वहीं दूसरी ओर आत्म-लाभ कर वैयक्तिक मोक्ष प्राप्ति का मार्ग निर्देशन भी प्राप्त होता है।

संसार ज्यों-ज्यों आगे बढ़ रहा है त्यों-त्यों जीवन की सामाजिक समस्या गहरी और व्यापक हो रही हैं। दिन-प्रतिदिन यह और भी स्पष्ट हो रहा है कि किसी प्रश्न की मीमांसा सिर्फ जातीय, राष्ट्रीय या किन्ही संकीर्ण भूमियों पर नहीं टिक सकती। हर एक विषय को तथा हर एक भाव को तब तक बढ़ाना चाहिए, जब तक उसमें सारा संसार न आ जाये। हर एक आकांक्षा को तब तक बढ़ाते रहना चाहिए, जब तक वह समस्त मनुष्य जाति को ही नहीं वरन् समस्त प्राणी जगत् को आत्मसात् न कर लें। वेदांत दर्शन ही ऐसी समग्रता प्रदान करता है। इसका समाज में विनियोग आवश्यक है। इस सन्दर्भ में समाज-दर्शन की सामान्य अवधारणा को समझ लेना भी आवश्यक है। समाज-दर्शन दर्शनशास्त्र की एक महत्वपूर्ण शाखा है। समाज-दर्शन व्यक्ति और समाज के विभिन्न संबंधों, विविध सामाजिक क्रिया-कलापों, विविध सामाजिक-सिद्धांतों और विविध सामाजिक-गतिविधियों का सम्यक-रूपेण अध्ययन करता है। समाज सतत् परिवर्तनशील मानव समाज का सम्यक-रूपेण मनन व चिन्तन करता है। समाज-दर्शन, वस्तुतः समाज, सामाजिक मूल्यों व आदर्शों तथा सामाजिक जीवन के तात्त्विक पक्षों का अध्ययन करता है। इन उच्चतम आदर्शों, सर्वोच्च मूल्यों सर्वमान्य सिद्धांतों की स्थापना करना एवं तदनुरूप समाज के निर्माण की प्रेरणा देना समाज-दर्शन का प्रमुख कार्य क्षेत्र है।

अद्वैत वेदांत दर्शन समस्त अस्तित्व की एकता का उद्घोष करता है। इसकी निष्पत्ति यह है कि मानव मूलतः एक है। इस एकता का आधार मानव का दिव्य स्वरूप है, जो सभी प्रकार के अनुभवों से परे है, जिस पर किसी प्राकर के बंधन लागू नहीं किये जा सकते हैं। अद्वैत वेदांत व्यक्ति-स्वतंत्रता का उद्घोष करता है। भारत में वेदान्त की सामाजिक एकता एवं स्वतंत्रता की मूलभूत शिक्षाओं पर कभी भी समाज-दर्शन का भवन नहीं खड़ा किया गया। यह सत्य है कि सामाजिक व्यवस्था के लिए व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक कार्य विभाजन एवं नियत भूमिका का महत्वपूर्ण योगदान होता है। लेकिन इसने नाकारात्मक रूप से सामाजिक एकता के आदर्श को खंडित करके सामाजिक विखंडन का मार्ग प्रशस्त किया। 'मानव की एकता' के

वेदान्तिक आदर्श से समझौता करते हुए दर्शन एवं समाज के क्षेत्र में 'पारमार्थिक' एवं 'व्यवहारिक' भेद उपस्थित करके, वेदान्त की इन शिक्षाओं को भारतीय समाज में कभी भी लागू नहीं किया। सर्वप्रथम स्वामी विवेकानंद ने अपने समाज-दर्शन में वेदांत की इन शिक्षाओं को समाज में व्यवहृत करने का प्रयास किया। उन्हें 'तत्त्वमसि' जैसे उपनिषदों के महावाक्य में भेदभावरहित नवीन समाज व्यवस्था के बीज दिखाई दिये।

भारत के व्यवहारिक समस्याओं के प्रति स्वामी जी की दृष्टि मूलतः आध्यात्मिक थी। भारत की आम जनता के लिए वह नवीन आर्थिक व्यवस्था एवं नवीन समाज-व्यवस्था चाहते थे। उन्हें इस तथ्य की भली भांति अवगति थी कि स्वतंत्रता एवं सामाजिक न्याय के आदर्शों से प्रेरित राजनैतिक क्रान्ति, आम जनता के लिए स्वतंत्रता एवं सामाजिक न्याय को लाने में विफल हुई है। इन आदर्शों की प्राप्ति का उद्यम जीवन के किसी ऐसे गहरे तत्व या भाव द्वारा प्रेरित होने पर जीवित रहता है, जो किसी तुच्छ कामना, शक्ति की आकांक्षा एवं व्यक्तियों या समूह के आपसी झगड़ों में भी जीवित रहे। वे क्रांतिकारी से क्रांतिकारी राजनैतिक विचारधारा से भी अधिक क्रांतिकारी आदर्श चाहते थे। अपने ज्ञानयोग पर दिये व्याख्यान में वे इसी विचार को प्रस्तुत करते हैं— 'सुधार के लिए हिंसक उपायों का अंत सुधार की ही समाप्ति में हो जाता है'। वे सुधार में नहीं स्वाभाविक विकास में विश्वास करते थे। वे स्वयं कहते थे कि "मैं सुधार में विश्वास नहीं करता, मैं विश्वास करता हूँ स्वाभाविक उन्नति में। स्वामी जी समाज में आमूल सुधार लाना चाहते थे, इसके लिए उनकी बिल्कुल रचनात्मक योजना थी। समकालीन भारतीय दर्शन में समाज को एक व्यवहारिक प्रयोगशाला के रूप में जाना गया है। स्वामी विवेकानंद ने वेदांत की व्यावहारिकता को सामाजिक सम्बन्धों से जोड़कर जीवन का सर्वांगीण दर्शन प्रस्तुत किया। स्वामी विवेकानंद ही एकमात्र ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने अद्वैत वेदांत दर्शन की यथार्थ और समयानुकूल व्यावहारिक व्याख्या कर उसे राष्ट्रीय एवं सामाजिक धारा से जोड़ा। स्वामी विवेकानंद का विचार था कि जब तक वेदांत को हम व्यावहारिक जीवन में नहीं उतारते, तब तक समाज का कल्याण संभव नहीं है।

शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय का शीर्षक "स्वामी विवेकानंद: एक संक्षिप्त परिचय" है। इस अध्याय में स्वामी विवेकानंद के जीवन से जुड़ी विविध घटनाओं, शिक्षा, श्रीरामकृष्णदेव

से उनके मिलन तथा प्रभाव, भारत-परिव्रजना तथा उसके महत्व, शिकागो विश्वधर्म तथा प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृति के समागम, भारत के पुनरोदय की योजना एवं रामकृष्ण मिशन की स्थापना आदि की विवेचना है। इन घटनाओं का महत्व इसलिए है कि इसने उनके समाज-दर्शन की दिशा निर्धारित की।

शोध-प्रबंध के दूसरे अध्याय में विवेकानंद के वेदांत दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या समाहित है। विवेकानंद ने द्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं अद्वैत आदि मतों में इसी क्रम से समन्वय स्थापित किया है। इस समन्वयकारी दृष्टि की अभिनवता को देखते हुए आधुनिक मनीषी उनके दर्शन को 'नव्य-वेदांत' की संज्ञा देते हैं। वेदांत के आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक जोर देने के कारण उनका दर्शन 'व्यावहारिक वेदांत' भी कहलाता है। विवेकानंद सच्चिदानंद ब्रह्म के स्वरूप को समझाते हुए, ब्रह्म को अनंत, एक तथा अविभाज्य के रूप में निरूपित करते हैं। वे ब्रह्म को व्यक्तित्व कहते हुए इसे अपरिणामी निरूपित करते हैं। उनके अनुसार परिवर्तनशील व्यक्तित्व हो ही नहीं सकता, यह स्व-विरोधी वाक्य है। ब्रह्म इन्द्रियों और बुद्धि से परे है। "जो शाश्वत् 'सत्' है, इंद्रियों और बुद्धि से परे है वह स्वयं ईश्वर ही है"। उनके अनुसार वह निरपेक्ष सत् या ब्रह्म विशुद्ध विज्ञाता है। वह ज्ञान का आधार है, स्वयं ज्ञानस्वरूप है। विवेकानंद के अनुसार निर्गुण निरपेक्ष ब्रह्म ही प्रेममय भगवान या ईश्वर है। विवेकानंद का निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म का विभाग केवल दृष्टिभेद है। तात्त्विक दृष्टि से जो ब्रह्म है, वही धार्मिक दृष्टि से ईश्वर है। विवेकानंद ने सगुण ब्रह्म को निर्गुण ब्रह्म का आभास मात्र न मानकर, उसे निर्गुण ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वीकार किया है। उनके दर्शन में निर्गुण और सगुण ब्रह्म जैसे दो स्तर नहीं हैं। वस्तुतः जो सगुण ब्रह्म हैं वही निर्गुण ब्रह्म हैं।

'सच्चिदानंद' स्वरूप के उनके अर्थ निरूपण में सत् और चित् की अवधारणाएँ प्रायः अद्वैत वेदांत के समान ही हैं। वेदांती सत् का लक्षण त्रिकाल में अबाधित सत्ता से करते हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य में जिसकी सत्ता एक जैसी बनी रहे। हमारे इन्द्रियग्राह्य जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो इस कसौटी पर खरी उतरे। प्रगाढ़ निद्रा में विषयों, इंद्रियों आदि का अनुभव नहीं होता अतः तत्तज्जन्य सुख की उपस्थिति का भी प्रश्न नहीं उठता। किन्तु फिर भी एक प्रकार के आह्लाद का अनुभव सतत होता रहता है। वेदांती इसी इंद्रियातीत सुख को

आनंद की संज्ञा देकर इसे जीव, आत्मन् या ब्रह्मन् का स्वरूप निरूपित करते हैं। स्वामी विवेकानंद अपने नव्य वेदांत में, 'आनंद' लक्षण का ऐसा अर्थ अभिव्यक्त करते हैं जो अन्यत्र दिखाई नहीं देता। वह आनंद के मूल में 'प्रेम' को स्वीकार करते हैं। विवेकानंद के अनुसार "ब्रह्म आनंद है, जो प्रेम के समरूप ही है"। स्वामी विवेकानंद ने 'आनंद' के मूल में प्रेम को स्वीकार करके इसकी अद्वैती भावना के अनुरूप अवैयक्तिक, असंवेगात्मक तथा दिव्य संकल्पना को प्रस्तुत किया है।

विवेकानंद सृष्टि की चक्रक गति, क्रमसंकोच एवं क्रमविकास आदि को मानते हैं। उनके मत में आधुनिक क्रमविकासवादी सिद्धांत सत्य है किंतु अपूर्ण है, क्योंकि इसकी पूर्ववर्ती स्थिति क्रमसंकोच है। विवेकानंद अद्वैत वेदांत के समान ब्रह्म को ही जगत् का मूल कारण स्वीकार करते हैं। सांख्य के समान वे प्रकृति को जगत् की उत्पत्ति का कारण नहीं मानते। विवेकानंद के अनुसार माया जगत् का यथातथ्य कथन है। जगत् में हमारे अस्तित्व का आधार विरोधों तथा व्याघातों में है। विवेकानंद ने 'मानव के वास्तविक स्वरूप' एवं 'मानव के प्रातिभासिक स्वरूप' की चर्चा की है। स्वामी विवेकानंद को वेदांत की देह और आत्म सम्बंधी सभी अवधारणाएँ मान्य हैं। वे अपने नव्य-वेदांत में जीव के भौतिक स्वरूप अर्थात् मानव के शरीर की आरोग्यता और सबलता पर अत्यधिक जोर देते हैं। उनके अनुसार दुनिया के सभी व्यक्तियों को मोटे तौर पर चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। कुछ स्वभाव से ही जिज्ञासु प्रवृत्ति के होते हैं। वे सदैव विश्व और अपने अस्तित्व के आगमन और भवितव्य के बारे में चिंतातुर रहते हैं। ऐसे व्यक्ति ज्ञानयोग की साधना के लिए उपयुक्त हैं। कुछ नैसर्गिक रूप से भावनाप्रधान होते हैं। वे बुद्धि से अधिक भाव शक्ति पर निर्भर रहते हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा सौम्य और समर्पणयुक्त होता है कि वे सहज भाव से श्रेष्ठ और पवित्र भावों के समक्ष समर्पण कर देते हैं। ऐसे व्यक्ति भक्तियोग की उपासना के लिए अनुकूल हैं। कुछ व्यक्तियों में महान संकल्पशक्ति के दर्शन होते हैं। ये काल्पनिक विचारों से अधिक व्यावहारिक कर्मों में अपने मन की शक्ति निक्षेपित करते हैं। ऐसे व्यक्ति कर्मों से पलायन नहीं करना चाहते बल्कि उसके स्वरूप को समझकर, अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए कर्मयोग की साधना श्रेयस्कर है। कुछ का स्वभाव, सदैव एकांत में रहकर अंतर्मुखी होकर

अपनी प्राण और मनःशक्ति पर ध्यान लगाने का होता है। ऐसे व्यक्ति राजयोग की रहस्य-साधना के लिए उपयुक्त पात्र हैं। विवेकानंद ने इन चारों मार्गों पर समान रूप से अपने विचार व्यक्त किए हैं। वास्तव में उनके ये विचार ही व्यावहारिक वेदांत के कलेवर का निर्माण करते हैं।

तृतीय अध्याय का शीर्षक 'समाज-दर्शन का स्वरूप' है। इसमें समाज के अभिप्राय, उत्पत्ति, भारतीय समाज व्यवस्था, परिवार, कुल-गोत्र, विवाह, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था, वर्ण तथा जाति के मध्य संबंध, आश्रम व्यवस्था, ऋण तथा पुरुषार्थ व्यवस्था, समाज तथा संस्कृति के मध्य संबंध एवं सांस्कृतिक बहुलतावाद पर विमर्श अपेक्षित है।

अव्यवस्थित जन समुदाय को भीड़ कहा जा सकता है। भीड़ तो पशुओं की भी हो सकती है। वैयाकरणों ने उसे समज् कहा है। समाज और समज् में अंतर केवल संस्कारों का ही है। 'समाज संगठित और परस्पर व्यवहार करने वाले लोगों का एक ऐसा समूह है जो एक निर्दिष्ट जीवन शैली का अनुसरण करता है।' समाज की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक अनुबंध का सिद्धांत, दैवी अनुबंध का सिद्धांत एवं विकासवादी सिद्धांत प्रचलित हैं। दैवी सिद्धान्त की मान्यता है कि समाज की उत्पत्ति भी ईश्वर के द्वारा की गई है क्योंकि वह सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन करने वाला है। ईश्वर के सृष्टिकर्ता मानने में लोगों में पाप और पुण्य, शुभ और अशुभ की भावना का विकास होता है। सामाजिक अव्यवस्था, अशान्ति और अराजकता पर अंकुश लगाने में इस प्रकार की आस्था एक नैतिक और आध्यात्मिक अंकुश का कार्य करती है। इस सिद्धांत की तुलना श्रीमद्भगवद्गीता की समाज व्यवस्था से की जा सकती है। गीता में श्रीकृष्ण ने गुण और कर्म के अनुसार चातुर्वर्ण्य को उत्पन्न करने का उल्लेख किया है। (गीता, 4.13) चारों वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति के पूर्व न तो राजा था, न राज्य था, न दण्ड था और न दण्ड विधान था। उसके पूर्व सम्पूर्ण प्रजा अपने धर्म से ही अपनी रक्षा करती थी। इस सिद्धान्त का उल्लेख केवल महाभारत, मनुस्मृति या चाणक्य-कृत अर्थशास्त्र में ही नहीं है अपितु ग्रीस (यूनान) और रोम में भी दैवी-उत्पत्ति के सिद्धान्त का उल्लेख प्राप्त होता है।

सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत के अनुसार समाज वस्तुतः दैवी-इच्छा का परिणाम नहीं है अपितु यह एक सामाजिक अनुबन्ध के द्वारा अस्तित्व में आया जिसे प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्यों ने अपनी इच्छा एवं सहमति से स्थापित किया। समाज की रचना में मनुष्यों की इच्छा का जो महत्व है, उसके एक पक्ष का उद्घाटन ही सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त में हुआ है। वस्तुतः मनुष्य समाज की रचना उन प्रवृत्तियों को लेकर करता है जो उसके स्वभाव में रहती हैं। सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त एक प्रकार का सामाजिक आरंभवाद है तथा इससे समाज की समुचित व्याख्या नहीं हो पाती है। विकासवादी दार्शनिक समाज को ऐतिहासिक संगठन न मानकर प्रगतिशील और विकासशील संगठन मानते हैं। उन्होंने समाज और व्यक्ति के बीच के सम्बन्ध को अंगी और अंग के सादृश्य द्वारा व्याख्या की है। समाज और व्यक्ति दोनों का अस्तित्व साथ-साथ है। मानवीय इतिहास साक्षी है कि समाज किसी न किसी रूप में वर्तमान था परन्तु उसके स्वरूप में परिवर्तन होता रहा है। एकप्रकार के विकासवादी समाज में विकास के लिए नैतिकता को प्रधान तत्व मानते हैं। भारतीय दर्शन में वेदों में इसी शाश्वत नैतिक व्यवस्था के लिए 'ऋत्' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा कान्ट ने भी इसे ही नैतिक नियम कहा था। पाश्चात्य दार्शनिकों में टॉयनबी जैविक चक्रीय सामाजिक विकास के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। वह समाज के चक्रवत् परिवर्तन को वृत्त मानते हुए धर्म-केन्द्रित समाज को सर्वोच्च समाज मानते हैं। वे इस धारणा का समर्थक हैं कि प्रारंभिक अवस्था में समाज असभ्य था, परन्तु अतीत में वह सभ्य हो गया।

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित साम्यवादी सिद्धान्त में भी समाज के विकास का उल्लेख किया गया है जिसे मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम से निरूपित किया है। मार्क्स ने दिखाया है कि आदिम समाज वर्गविहीन था जिसमें कोई शोषक या शोषित, धनी या निर्धन नहीं था। समाज की दूसरी अवस्था में दो वर्ग थे — मालिक और दास। स्वामी और दास के बीच संघर्ष निहित था जिसके परिणामस्वरूप सामन्तशाही समाज की स्थापना हुयी। इस अवस्था में सामन्त और प्रजा, दो वर्ग संघर्षरत थे जिनके परिणामस्वरूप चौथी अवस्था पूंजीवादी समाज की स्थापना हुयी। इस अवस्था में श्रमिक और पूंजीपति ये दो वर्ग थे। इनके बीच के संघर्ष के कारण अन्तिम अवस्था विकसित हुई जिसे समाजवाद कहा गया। मार्क्स का लक्ष्य वर्गविहीन

समाज की स्थापना था जिसमें वर्गविहीन समाज की स्थापना था जिसमें वर्ग संघर्ष की कोई संभावना नहीं थी। मार्क्स ने सामाजिक विकास और सामाजिक परिवर्तन का मुख्य आधार आर्थिक साधनों के विकास को माना है।

भारतीय समाज व्यवस्था मुख्यतः वर्णाश्रम व्यवस्था है। यह पुरुषार्थ एवं ऋण व्यवस्था के नैतिक विधान पर कार्य करती है। पुरुषार्थ व्यवस्था के अनुसार अर्थ बीच में आता है और काम सबसे नीचा है। अतएव यदि इन तीनों में विरोध हो तो धर्म का अनुसरण करना चाहिए और अन्य दो को छोड़ देना चाहिए। इससे प्रकट होता है कि अर्थ एवं काम दोनों धर्म के अधीन हैं। धर्म, अर्थ, काम के बारे में मनु (4/3 एवं 15) ने व्यवस्था दी है – ‘व्यक्ति को अपने वर्ण आदि की स्थिति के अनुकूल ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा बिना किसी की हानि किये अर्थ संग्रह करना चाहिए। किसी को अत्यधिक विषयासक्त होकर तथा शास्त्र द्वारा गृहित कहे हुए कर्मों द्वारा धन-संग्रह नहीं करना चाहिए और जब उसके पास पर्याप्त धन है, तब भी ऐसा नहीं करना चाहिए और न ही पापी लोगों से धन प्राप्त करना चाहिए, तब भी नहीं जब वह बड़ी कष्टमय अवस्था में पड़ा हो।’ कौटिल्य ने भी कहा है कि ‘विषयों का उपभोग इस प्रकार करना चाहिए कि मनुष्य धर्म एवं अर्थ के विरोध में न पड़ जाए और न आनंदरहित होकर ही जीवन यापन करना चाहिए।’ मोक्ष का कम लोग अवलम्बन करते हैं। यह छूरे की धार के समान बहुत ही कठिन मार्ग है।

चतुर्थ अध्याय में विवेकानंद के समाज-दर्शन की विवेचना शामिल की गई है। इसमें सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलनों के समाज पर पड़े प्रभाव का विवेचन है। इसमें भक्ति आंदोलन एवं पाश्चात्य देशों के प्रभाव को भी रेखांकित किया जाना है। पुनर्जागरण काल के सुधार आंदोलन ने समाज पर गहरा प्रभाव डाला है। अतएव इसका भी इस अध्याय में विवेचन है। यह विवेकानंद के समाज दर्शन की पृष्ठभूमि है।

स्वामी विवेकानंद के समाज दर्शन के स्रोत मुख्यतः वेद, उपनिषद्, महाभारत, स्मृति एवं सूत्र-साहित्य आदि हैं। ब्रिटिश शासनकाल के समय इतिहास, पुरातत्व एवं समाज दर्शन के क्षेत्र में पाश्चात्य शोध-प्रविधियों का प्रयोग करके जो शोधें हो रही थीं, विवेकानंद उन सभी से

भी परिचित थे। इसके अतिरिक्त परिव्राजक के रूप में अपनी भारत परिव्रजना में उन्होंने समाज की यथार्थ स्थिति का साक्षात् परिचय प्राप्त किया था। इस प्रकार उनके समाज दर्शन के स्रोत या पद्धति को भारतीय ग्रंथों पर आधारित होने से 'इंडोलॉजिकल' तथा यथार्थ निरीक्षण पर आधारित होने से 'आनुभविक' भी कहा जा सकता है।

विवेकानंद के अनुसार समाज का मूल प्रयोजन एवं कार्य मनुष्य की वासना को नियंत्रित करना है। उनके अनुसार 'प्रेम' एवं 'आत्म-त्याग' निष्कामता की प्राप्ति का सबसे सरलतम उपाय है। समाज के द्वारा व्यक्तियों को प्रेम, आत्म-त्याग एवं आत्म-संयम के सद्गुणों का पालन करने की शिक्षा दी जाती है यदि समाज इन सत्यों को प्रदर्शित करने में सक्षम नहीं है तो उसे जल्दी ही ऐसा करने में सक्षम होना चाहिए। "समाज में जो कुछ भी शुभ श्रेष्ठ एवं महान् है, वह प्रेम की अभिव्यक्ति है"। समाज का मूल कार्य व्यक्तियों की पार्श्विक प्रवृत्तियों को संयमित करके उसे उसके उच्चतर अस्तित्व के प्रति सजग करना है। अतएव समाज में आत्म-संयम का बहुत महत्व है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार "समाज का सम्पूर्ण ताना-बाना आत्म-संयम के विचार पर आधारित है"। वे धर्म को समाज की संघटनात्मक शक्ति निरूपित करते हैं। समाज तो सत्य की प्राप्ति का साधन है। यह अपने आप में साध्य नहीं है। सत्य के प्रति समाज को आदर का भाव प्रदर्शित करना है न कि सत्य को समाज के प्रति समर्पित होना है। इसका कारण यह है कि समाज सदैव परिवर्तनशील है। परिवर्तित समाज कभी भी अपने आप में साध्य नहीं हो सकता है। स्वामी विवेकानंद इस बात पर जोर देते हैं कि समाज का आधार मानव में विद्यमान शुभता है। उनके अनुसार "सारे सामाजिक, राजनैतिक तंत्रों का आधार मानव की शुभता है। कोई भी राष्ट्र इसलिए महान् नहीं है कि संसद अमुक-अमुक विधेयक पारित करती है बल्कि इसलिए कि उसके व्यक्ति अच्छे एवं महान् हैं"। स्वामी विवेकानंद समाज को स्वतः साध्य नहीं मानते। यह मनुष्य की पूर्णता की प्राप्ति का साधन है। इसीलिए समाज में मनुष्य के व्यवहार का मापदंड सदैव सामाजिक विधान ही नहीं होते बल्कि प्रज्ञा होती है। यही कारण है कि सत्य के प्रति समाज को आदर का भाव प्रदर्शित करना होता है। समाज सदैव परिवर्तनशील है। परिवर्तित समाज कभी भी अपने आप में साध्य नहीं हो सकता है। विवेकानंद के अनुसार सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों के आधार पर ही वर्ण व्यवस्था

का निर्माण हुआ। सामाजिक विकास एवं पूर्णता मानवता का लक्ष्य नहीं है क्योंकि समाज एवं सामाजिक संस्थाएँ कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती हैं। तथापि “वही समाज सर्वश्रेष्ठ है जहाँ सर्वोच्च सत्य व्यवहृत होते हैं”। समाज में कुछ चुनिंदा व्यक्तियों का नहीं बल्कि सभी का व्यक्तियों का विकास ध्येय है। विवेकानंद के अनुसार मानव के विकास में समाज केवल एक अवस्था है। विवेकानंद कहते हैं कि “समाज केवल एक अवस्था है जिससे हम गुजर रहे हैं। यदि समाज की अवस्था स्थायी होती तो यह ठीक वैसा ही है जैसे एक बच्चे का सदैव बच्चा ही बना रहना। किसी अवस्था विशेष में समाज अच्छा हो सकता है किंतु यह हमारा आदर्श नहीं है, क्योंकि यह सदैव परिवर्तनशील है”। इस प्रकार वह यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यह बिल्कुल अतार्किक होगा कि समाज को सत्य का मापदंड बनाया जाए। वे कहते हैं कि यह ठीक वैसा ही जैसे कि “किसी वैज्ञानिक खोज की सत्यता, सटीकता एवं उपयोगिता का निर्णय; बच्चों के द्वारा उसके उपयोग किये जाने से किया जाए”। स्पष्ट है कि विवेकानंद के समाज दर्शन में समाज केवल एक साधन है, साध्य नहीं है।

विवेकानंद जाति-व्यवस्था में लचीलेपन की व्याख्या करते हैं कि— “यहाँ भारत में इकाई एक जातीय समुदाय के सभी सदस्यों को लेकर बनती है। यहाँ भी व्यक्ति को इस बात का पूरा अवसर है कि एक निम्न जाति से उठकर उच्च या उच्चतम जाति तक पहुँच जाय : केवल एक शर्त है, परमार्थवाद के जन्मदाता इस देश में, व्यक्ति को विवश किया गया है कि वह अपनी समूची जाति को अपने साथ ऊपर उठाये”। स्वामी विवेकानंद ने जाति के संबंध में आर्य एवं अनार्य में रंग एवं भाषा के भेद के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं माना है। वर्ण के सम्मिश्रण या लचीलेपन का अभिप्राय यह है कि वर्णव्यवस्था जन्म पर आधारित न होकर कर्म पर आधारित थी। साथ ही इसमें किसी भी वर्ण विशेष का विशेषाधिकार सुरक्षित नहीं था। विवेकानंद किसी भी जाति की बलात् अधिकृत जन्मजात श्रेष्ठता को कल्पना मानते हैं। इस कल्पना को पुष्ट होने का कारण भाषागत विभेद है। विवेकानंद ने जातिगत भेद की व्याख्या के उपरान्त भी विशेषाधिकारों का निषेध किया है — “समाज में भिन्न-भिन्न अभिरुचियों के लोग रहते हैं, इसलिए जाति-भेद उत्पन्न होना स्वाभाविक है। सभी एक ही कार्य को समान कौशल से नहीं कर सकते हैं। यदि कोई समाज के नियमन की कला में पारंगत होता है, तो

दूसरा जूते बनाने की कला में दक्ष होता है। किन्तु इसी आधार पर हम एक को दूसरे से श्रेष्ठ नहीं कह सकते, क्योंकि एक दूसरे की कला एक दूसरे के लिए दुःसाध्य है।.....जाति-भेद तो हमेशा रहेंगे। उन्हें तुम भी नष्ट नहीं कर सकते। जहाँ मनुष्य समाज में रहेगा, वहाँ जाति-भेद आवश्यक रूप से होगा। फिर भी, किसी विशेष जाति को किसी भी कारण से दूसरी जाति की अपेक्षा विशेष अधिकार नहीं मिलना चाहिए। हमें विशेषाधिकार के पागलपन को बिल्कुल निकाल देना होगा। प्रत्येक व्यक्ति में एक ही परमेश्वर व्याप्त है; भले ही वह कोयला बेचे या वेदान्त के तत्त्वों का ज्ञाता हो। हमें इसी बात को प्रसारित करने की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है”।

पंचम् अध्याय का शीर्षक ‘विवेकानंद का वेदान्तिक समाजवाद’ है। इसमें सर्वप्रथम, समाज की कुछ पाश्चात्य संकल्पनाओं जैसे यांत्रिक, आण्विक, जैविक आदि का वर्णन शामिल है। तत्पश्चात् समाजवाद, साम्यवाद एवं भारतीय समाजवाद की विवेचना शामिल है। स्वामी विवेकानंद के वेदान्तिक समाजवाद का स्रोत उनका वेदान्त-दर्शन है। वेदान्त के अनुसार सत्, ब्रह्म अथवा वास्तविकता अपरिवर्तनीय है। इसके विपरीत जगत् सापेक्षिक, परिवर्तनशील होने से मिथ्या कहा गया है। समाज भी नित्य परिवर्तित होते हुए विकसित होता है। ऐसे में वेदान्त-दर्शन एवं इससे सम्बन्धित किसी सिद्धांत जैसे वेदान्तिक समाजवाद को उस पर आधारित कैसे माना जा सकता है ? जो लोगों की भौतिक स्थिति को उन्नत बनाने में सचेष्ट है। यदि वेदान्त के अनुसार जगत् मिथ्या है, तो ऐसी कौन सी नैतिक बाध्यता है, जो इसे समाज की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति को परिवर्तित करने के लिए प्रेरित करे। अद्वैत वेदान्त पर आधारित नैतिकता संभव है, यह सामाजिक एवं समाज से पृथक् दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों के आचार का नियमन कर सकती है। मानव मूलतः एक है। इस एकता का आधार मानव का दिव्य स्वरूप है। इसी अध्याय में विवेकानंद के वेदान्तिक समाजवाद के व्यावहारिक पहलुओं जैसे सेवायोग, शिक्षा, स्त्री शिक्षा, निर्धन सेवा, चिकित्सा तथा धर्म प्रचार आदि का उल्लेख किया गया है।

सामाजिक परिवर्तन की संकल्पना में ही सामाजिक विकास या प्रगति का विचार निहित है। इस अध्याय में रेखीय एवं तरंग या चक्रीय सिद्धांतों की विशद व्याख्या शामिल है।

विवेकानंद आध्यात्मिकता एवं भौतिकता की वृहत् तरंगों के माध्यम से विकास की व्याख्या करते हैं। वे कमविकास के साथ कमसंकोच को भी स्वीकार करते हैं। उनके सिद्धांत का आनुभविक आधार भी उपलब्ध है। उनके अनुसार जातिव्यवस्था का प्राकृतिक आधार भी उपलब्ध है। वे प्रत्येक युग में एक वर्ण का प्रभुत्व स्वीकार करते हैं। सामाजिक विकास के उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी के सभी सिद्धांत रेखीय विकास सिद्धांत थे, किंतु वे सभी अवैज्ञानिक थे। अनुभव या वैज्ञानिक धरातल पर इन सभी सामाजिक एवं सांस्कृतिक सिद्धांतों की कुछ सीमाएँ थीं। एक दिशा में निश्चित विकास असंभव है क्योंकि बाह्य शक्तियों के आघात एवं प्रतिघात गति को बाधित कर देते हैं एवं इससे उसकी दिशा बदल जाती है। इसप्रकार, रेखीय गति चक्क हो जाती है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास सृष्टिमूलक या जैविक विकास से अलग नहीं रह सकता है। इसके साथ ही 'यह सामाजिक विकास उस संचित विकास से भी अलग नहीं रह सकता जिसमें सामाजिक जीवन के किसी एक विशेष आयाम में परिवर्तन किसी दूसरे आयाम में परिवर्तन का कारण बनता है'। इसप्रकार आधुनिक विज्ञान के अनुसार एक ही सीधी दिशा में कोई भी गति नहीं हो सकती और सामाजिक एवं सांस्कृतिक घटनाओं के सम्बंध में भी यह सत्य है, ऐसा ही सोरोकिन का दृष्टिकोण है।

सामाजिक विकास की मार्क्सवादी संकल्पना भी एक निरंतर सरल रेखीय विकास की संकल्पना है। समाज का विकास दास-समाज, सामंती-समाज, पूँजीवादी समाज से होता हुआ समाजवाद में होता है। समाजवाद ही सर्वोच्च अवस्था है। यह विकास 'तकनीकी' के एकमात्र घटक में सुधार एवं बदलाव से नियंत्रित होता है। मार्क्स इस बारे में मौन हैं कि इस अवस्था की प्राप्ति के बाद क्या होता है। क्या विकास की प्रक्रिया रुक जाती है ? मार्क्स इस महत्वपूर्ण प्रश्न को हल करने में हमारी कोई मदद नहीं करते हैं। तार्किक दृष्टि से समाज का विकास किसी भी अवस्था विशेष में रुकता नहीं है। समाज स्वभाव से ही गतिशील है। समाजवाद की अवस्था की प्राप्ति के बाद भी यह वैसा ही गतिशील बना रहने वाला है। यदि तकनीकी विकास से सामाजिक विकास सम्पन्न होता है तो समाजवाद की अवस्था की प्राप्ति के बाद भी यह तकनीकी विकास क्या रुक जाता है ? क्या तकनीकी विकास की प्रक्रिया रुक जाती है ? यह एक प्रासंगिक प्रश्न है जिस पर मार्क्स एवं उनके अनुयायी मौन हैं ? विकास का एक रेखीय सिद्धांत सामाजिक विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया की व्याख्या नहीं कर सकता है।

यह इसकी एक मुख्य कमी है। मार्क्स डॉर्विन के विकासवादी सिद्धांत से कुछ ज्यादा ही प्रेरित थे, जिसके कारण उनके सिद्धांत में यह दोष उत्पन्न हुआ। उनका सिद्धांत सामाजिक विकास की उत्पत्ति की तो व्याख्या करता है किंतु उसके अंत की व्याख्या करने में असफल हो जाता है। “समाजवाद के बाद आगे क्या ? विकास का अगला चरण क्या होगा”? मार्क्स औद्योगिक क्रांति से भी अत्यधिक प्रेरित थे, जिसने उन्हें यह सोचने के लिए प्रेरित किया कि तकनीकी परिवर्तन ही सामाजिक विकास का एकमात्र कारण है।

विवेकानंद ने विकास के रेखीय सिद्धांत को चुनौती दी थी। आधुनिक विज्ञान पर आधारित उनके तर्क अग्रलिखित हैं : सारा विकास कम से होने वाले उत्थान एवं पतन से आगे बढ़ता है और “कोई भी विकास एक सीधी रेखा में नहीं होता है”। अनंत की ओर प्रवर्तित एक सरल रेखा का अंत एक वृत्त में होता है” और यह अपने आरंभ बिंदु पर वापस लौट आती है। बिना संगत पतन के कोई विकास नहीं होता है”। विवेकानंद के अनुसार हम एकता की प्राप्ति तो कर सकते हैं किंतु पूर्ण विकास नहीं। प्रत्येक गति एक वृत्त में होती है। इसलिए यह विचार कि मनुष्य की नियति कभी न रुकने वाला एवं आगे ही आगे होने वाला विकास है; निरर्थक है”। प्रकृति में कोई भी समरूप, एकदेशीय प्रगति अथवा ह्रास नहीं है। यह पुनः पुनः समान रूपों को प्रदर्शित करती है। वस्तुतः ‘नियम’ शब्द का यह अभिप्राय है।

विवेकानंद के अनुसार जैसा प्रकृति में परिवर्तन का रूप है, वैसा ही समाज के क्षेत्र में भी है। समाज में होने वाला परिवर्तन भी निरंतर तरंगों की श्रृंखला के समान है, जिसमें आध्यात्मिकता एवं भौतिकता की तरंगें कम से उठती हैं। ऐसा दिखाई देता है कि पहले एक समय आध्यात्मिक पक्ष आगे बढ़ता है और फिर भौतिक पक्ष और ऐसा ही कम से एक के बाद एक तरंगाकार गति से होता रहता है। एक ही देश में विभिन्न ज्वार आते हैं। एक समय भौतिक आदर्श का चरम उभार आता है और इस जीवन में जो कुछ भी है – समृद्धता, ऐसी शिक्षा जो अधिक सुख एवं अन्न ला सके – वही एक बार वैभवशाली बन जाता है और तत्पश्चात् उसका क्षय और पतन हो जाता है। समृद्धता के साथ मानवता की समस्त ईर्ष्याओं एवं घृणाओं का जन्म होता है। प्रतिस्पर्धा एवं दयारहित क्रूरता इन दिनों के ध्येयवाक्य बन जाते हैं। फिर लोग सोचने लगते हैं कि जीवन की सारी योजना ही निष्फल है। यदि आध्यात्मिकता रक्षा करने आगे नहीं आती और डूबते हुए विश्व के आगे हाथ नहीं बढ़ाती तो

विश्व का नाश हो जाता। ... नियमानुसार, आध्यात्मिकता एक ऐसे वर्ग के लोगों को लाती है जो संसार की शक्तियों पर अपने विशेषाधिकार का दावा करते हैं। इसका त्वरित प्रभाव भौतिकता की ओर प्रतिक्रिया होती है जो कि विशेषाधिकार के दावों पर विजय प्राप्ति के लिए द्वारों को खोल देती है। ऐसा समय जब कि न केवल किसी जाति की समस्त आध्यात्मिक शक्तियाँ बल्कि इसकी सभी भौतिक शक्तियाँ और विशेषाधिकार केवल कुछ लोगों के हाथों में केंद्रित हो जाते हैं; और ये कुछ लोग जनता की गर्दन पर सवार होकर उन पर राज करना चाहते हैं। समाज को अपनी सहायता स्वयं करनी पड़ती है और भौतिकता रक्षा करने आ जाती है”।

स्वामी विवेकानंद ने सामाजिक शक्तियों के रूप में भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के विकास को यथार्थतः प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार आध्यात्मिकता का भी पतन हो जाता है और यह विशेषाधिकारों एवं निरंकुशता के अत्यंत खराब रूपों के लिए अवकाश प्रदान कर देता है। ऐसे समय में शोषित जनमानस की भौतिकता रक्षा करती है। स्वामी विवेकानंद के अतिरिक्त अन्य किसी भी धार्मिक नेता ने कभी भी भौतिकता के पक्ष में ऐसे विचार नहीं प्रकट किए। इसके साथ ही उन्होंने आध्यात्मिकता के पक्ष में भी यह कहा कि उसने भौतिकता से जन्में वर्ग-संघर्ष, द्वन्द्व से लोगों की रक्षा की। कार्ल मार्क्स ने तरंग का केवल एक पक्ष देखा। जब आधुनिक समाज में आध्यात्मिकता का पतन हो गया तो भौतिकता लोगों की पुरोहित वर्ग के शोषण से रक्षा करने आई। विवेकानंद ने एक समग्र चित्र प्रस्तुत किया। उन्हें इतिहास के प्रति अंतर्दृष्टि थी और उन्होंने अतीत में हुए ध्वंस से समाज को बचाने के लिए भौतिकता एवं आध्यात्मिकता की उपयोगिता को समझा। भौतिकता की पकड़ से बचाने के लिए आध्यात्मिकता की आवश्यकता है।

इसी प्रकार सोरोकिन, विवेकानंद के समान ही धर्म की वैचारिक एवं आदर्शात्मक प्रतिरूप में भूमिका को आवश्यक मानते हैं। “यदि प्रकृति की शक्तियों पर विजय एन्द्रियात्मक संस्कृति का कार्य है तो मनुष्य का मानवीकरण, उसकी ईश्वरीय राज्य में भागीदारी सदैव वैचारिक एवं आदर्शात्मक संस्कृति का कार्य रहा है”। उनके अनुसार प्रकृति की गुलामी के स्थान पर प्रकृति की प्रभुता एन्द्रिय संस्कृति में जा जाती है एवं इसका स्थान मानव के नियंत्रण पर वैचारिक संस्कृति ले लेती है।

इस प्रकार विवेकानंद के अनुसार आध्यात्मिकता, समाज की मुख्य शक्ति है जैसे ही समाज इससे दूर होता है, उसकी ओर पुनः मुड़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। विकास या परिवर्तन को समझाते समय विवेकानंद कमविकास के साथ कमसंकोच को भी आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार परिवर्तन की दो प्रक्रियाएं हैं। प्रथम है कमविकास जो कि वस्तुओं एवं घटनाओं का आंतरिक गुणधर्म है। दूसरा है कमसंकोच अर्थात् कार्यों का अपने कारणों में वापस लौटना।

विवेकानंद के अनुसार प्रत्येक परिवर्तन आंतरिक होता है। आंतरिक शक्तियों के द्वारा नियंत्रित होता है। इसे समझाते हुए स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि “प्रत्येक कमविकास के पूर्व कमसंकोच होता है। हम जानते हैं कि ब्रह्माण्ड में सब समय कुल ऊर्जाओं का योग एक समान रहता है और वह पदार्थ अनश्वर है”। आगे कहते हैं कि “सब कुछ किसी विशेष बीज से, किसी विशेष अवशेष से, किसी सूक्ष्म रूप से, आरंभ होता है; और विकसित होते हुए स्थूल से स्थूलतर होता जाता है; और फिर पुनः उसी सूक्ष्म रूप में लौटकर स्थित हो जाता है”। सारी प्रक्रिया एक तरंग के समान है। इसे समझाते हुए विवेकानंद कहते हैं— “सृष्टि में सबकुछ इसी रूप में चलता है, एक तरंग उठती है, दूसरी गिरती है, फिर उठती है पुनः गिरती है ... ब्रह्माण्ड को एक मानकर यही नियम लागू करना चाहिए क्योंकि यह समरूप है”। वे आगे कहते हैं — “यह ब्रह्माण्ड पहले के चक्र के कमसंकोच का कमविकास है और चक्र भी पुनः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हुए पुनः संकुचित हो जाएगा और फिर इससे नया चक्र उत्पन्न होगा”।

कमविकास के पूर्व कमसंकोच की अवस्था मानना चाहिए। बीज में वृक्ष विद्यमान है। विवेकानंद अपना निष्कर्ष निकालते हुए कहते हैं कि कुछ की भी उत्पत्ति शून्य से नहीं हो सकती। सबकुछ अनंत काल से विद्यमान है और अनंतकाल तक विद्यमान रहेगा”। आंतरिक परिवर्तन संभव है क्योंकि कमसंकोच होता है। कमसंकोच के कारण ही समान सामाजिक—सांस्कृतिक रूप पुनः इतिहास में प्रकट होते हैं।

आंतरिक रूप से आगामी परिणाम उत्पन्न होते हैं। इसका अर्थ यह है कि किसी राष्ट्र में विशिष्ट सामाजिक—सांस्कृतिक प्रारूप होते हैं जिनसे ही आगामी परिणाम उत्पन्न होते हैं।

बाह्य प्रभावों से ये परिणाम उत्पन्न नहीं होते हैं। विवेकानंद प्रत्येक राष्ट्र के भिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिरूपों को स्वीकार करते हैं। इनसे ही आने वाले दूसरे परिणाम उत्पन्न होते हैं। विवेकानंद को इसकी अवगति थी और उन्होंने इनको इंगित भी किया था। उनके अनुसार “यूरोप सदैव से सामाजिक शक्ति का केंद्र रहा है और एशिया आध्यात्मिक शक्ति का। यूनानी लोगों ने सदैव राजनैतिक स्वतंत्रता तो हिंदुओं ने आध्यात्मिक स्वतंत्रता की इच्छा की”। प्रत्येक सामाजिक-सांस्कृतिक निकाय का अपना एक विकास का मार्ग होता है। विवेकानंद के अनुसार राष्ट्रीय जीवन का संबंध चेतन शक्तियों से है न कि जड़ शक्तियों से। उनके अनुसार “हमें राष्ट्रीय जीवन की धारा को दृढ़ करना चाहिए और शेष सब इस पर छोड़ देना चाहिए”।

विवेकानंद ने अपने सांस्कृतिक अध्ययन के ये निष्कर्ष भिन्न राष्ट्रों के भ्रमण के उपरांत बनाए इसलिए उनके इस चिंतन का आधार आनुभविक कहा जा सकता है। उनके अनुसार प्रत्येक राष्ट्र का अपना जीवन आदर्श होता है जो कि उसकी जीवनी शक्ति, उसका मेरुदण्ड होता है। भारत का मेरुदण्ड धर्म या आध्यात्मिकता है। यदि एक राष्ट्र दूसरे के जीवन आदर्श का अनुसरण करे तो वह राष्ट्र नष्ट हो जाएगा। भारतीय यदि यूरोप का अनुसरण करें तो वे नष्ट हो जाएंगे। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कोई परिवर्तन होता ही नहीं है। यह बाह्य प्रभावों को मूल धारा के अनुकूल आत्मसात कर लेती है।

जब कभी भी विदेशी आक्रमण या दूसरी संस्कृतियों से आर्थिक सम्बंध स्थापित होता है, तब विचारों का आदान-प्रदान होता है एवं बाह्य प्रभाव को आत्मसात कर लिया जाता है। विवेकानंद के अनुसार जब कभी भी किसी शक्तिशाली बाहरी शक्ति के द्वारा सैन्य आक्रमण होता है या आर्थिक सम्बंध बनता है तो शेष सारी जातियाँ उसके समक्ष नतमस्तक हो जाती हैं एवं एक संस्कृति के निर्माण की दिशा में लग जाती हैं। तब प्रत्येक जाति को अपने हिस्से का योगदान देना होता है फिर वह चाहे राजनैतिक, सामाजिक या आध्यात्मिक ही क्यों न हो। समग्र मानवीय ज्ञान में भारतीयों का योगदान आध्यात्मिक एवं दार्शनिक रहा है। यह योगदान फारसियों के साम्राज्य से भी पहले एवं उनके साम्राज्य के समय रहा; यूनानियों के उद्भव के समय रहा; एवं अंग्रेजों के उत्कर्ष के समय भी यही नियति दोहराई जाने वाली है। जैसे पश्चिम के संगठनात्मक एवं बाह्य सभ्यता के विचार हमारे राष्ट्र में उड़ले जा रहे हैं, चाहे हम

उन्हें रखें या न रखें, वैसे ही भारतीय आध्यात्मिकता एवं दर्शन भी पश्चिम की जमीन में रोपे जा रहे हैं। कोई भी इन्हें नहीं रोक सकता, और हम भी पश्चिम से आयी हुई भौतिक सभ्यता को फैलने से नहीं रोक सकते। थोड़ी भौतिक सभ्यता हमारे लिए अच्छी है एवं पश्चिम के लिए थोड़ा आध्यात्मिकीकरण अच्छा है। इस प्रकार से दोनों में संतुलन बनेगा। यदि यूरोपियों के लिए अपनी शताब्दियों की संस्कृति को छोड़ना असंभव है तो भारतीयों के लिए भी ऐसा करना संभव नहीं है।

यदि किसी समाज या संस्कृति के लिए अपने मूल स्वभाव को त्यागना असंभव है तो बिल्कुल एकसमान पुनरावृत्ति भी असंभव है। विवेकानंद के अनुसार धर्म भारत का मेरुदण्ड है, उसका मूल स्वभाव है। लेकिन इतिहास के भिन्न चरणों में धर्म के भिन्न रूप हमें देखने को मिलते हैं। जैसे प्राचीन काल में वैदिक यज्ञ-बलि का धर्म था जिसमें दार्शनिक अद्वैतवाद का पुट भी शामिल था। बाद में इसका स्थान उपनिषदों का शुद्ध अद्वैतवाद ले लेता है। इसके बाद बौद्ध एवं जैन लोगों का उद्भव हुआ जिन्होंने वैदिक प्रमाण को अस्वीकार किया। फिर इसके बाद शंकराचार्य के द्वारा उपदेशित अद्वैतवादी धर्म के भिन्न रूप उत्कर्ष हुआ जिसमें दर्शन पर अधिक जोर दिया गया। फिर इसके बाद नानक, कबीर एवं चैतन्य आदि के द्वारा विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों का सूत्रपात हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म की मूल प्रवृत्ति में भी कई सम्भावनाएँ विद्यमान हैं।

अतएव कहा जा सकता है कि समाज-संस्कृति के विकास का यह तरंग या चक्रीय सिद्धांत अपने में रेखीय सिद्धांत की विशेषता को भी शामिल किए रहता है। रेखीय सिद्धांत नवीनता पर जोर देता है। तरंग सिद्धांत मूल प्रवृत्ति एवं पुनरावृत्ति पर जोर देता है। लेकिन इस मूल प्रवृत्ति के अंदर नवीनता को भी यह स्थान देता है। विवेकानंद के अनुसार भारतीय समाज-संस्कृति के विकास में धर्म ही मूल प्रवृत्ति या स्वभाव है। इतिहास के विभिन्न चरणों में धर्म के विकास में हमें भिन्न भिन्न आयाम जुड़ते हुए दिखाई देते हैं, साथ ही मूल स्वभाव सुरक्षित रहता दिखाई देता है। यदि किसी भी बाह्य परिवर्तन को आत्मसात किया जाना है तो यह परिवर्तन इस मूल स्वभाव को अक्षुण्ण रखते हुए ही किया जाना है, अन्यथा वह बाह्य प्रभाव भी अंकुरित नहीं हो सकेगा। मूल राष्ट्रीय धारा के अनुकूल ही शेष दूसरे प्रभावों को आत्मसात करना उचित है। धर्म को अक्षुण्ण रखते हुए राजनीति, आर्थिक क्रियाकलाप एवं

संगठनात्मक षक्ति को विकसित किया जाना उचित है, अन्यथा यह प्रयास फलदायी नहीं होगा। विवेकानंद के अनुसार विकास या परिवर्तन की यही सही व्याख्या है।

मानव जीवन का आदर्श भोग नहीं, बल्कि योग है। वह योग क्या है? इसी जीवन, मृत्यु के पूर्व ही अपनी आत्मा की अनुभूति कर लेना, ईश्वर का दर्शन पा लेना – यही भारतीय राष्ट्र का आदर्श है। मोक्ष का यह आदर्श जब तक हर भारतीय के सामने नहीं रखा जाएगा, तब तक आप इस देश से भ्रष्टाचार दूर नहीं कर सकते, अनाचार दूर नहीं कर सकते, अव्यवस्था को दूर नहीं कर सकते। यदि व्यक्ति के सामने मोक्ष का आदर्श न रखा जाय, तो पृथ्वी के किसी भी देश के सामने, चाहे या अनचाहे, भोग का आदर्श ही प्रकट होगा। मोक्ष का आदर्श यदि नहीं है, तो मानव-प्रकृति निश्चित रूप से उसे भोग की ओर ले जाएगी।

स्वामी विवेकानंद के अनुसार, त्याग और सेवा – ये ही भारत के आदर्श हैं। स्वामी जी ने बताया कि सर्वप्रथम हमें अपने समक्ष मोक्ष का आदर्श रखना पड़ेगा और उसके बाद जगत् हिताय च – जगत् का हित। मोक्ष का आदर्श अनादि काल से इस देश में है और उसकी प्राप्ति के विभिन्न मार्ग हैं।

किसी राजनीति के द्वारा अथवा किसी लोकसभा या विधानसभा के कानून द्वारा मनुष्य के चरित्र का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस देश के कानून में ऐसी व्यवस्था नहीं है कि अनुचित उपाय से धन कमानेवालों को शासित किया जाय। उसका क्रियान्वयन नहीं हो पा रहा है। अब प्रश्न उठता है कि उसका क्रियान्वयन क्यों नहीं हो पा रहा है ? इसलिए कि दण्डविधान की व्यवस्था करने वाले के समक्ष मोक्ष का आदर्श नहीं है।

षष्ठम् अध्याय में उनके समाज दर्शन के मुख्य लक्षणों का वर्णन किया गया है। ये सामाजिक अखंडता, समता, न्याय एवं बंधुता हैं। विवेकानंद के अनुसार किसी वर्ग को विशेषाधिकार देने और किसी को अधिकारों से वंचित कर देने से ही अस्पृश्यता जैसी सामाजिक बुराईयों का जन्म हुआ है। उनके अनुसार समाज में किसी भी वर्ग को विशेषाधिकार नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग होने के कारण

महत्वपूर्ण है। जाति-जाति में भेद का बीज अंकुरित करने वाली व्यवस्था, हर हाल में निन्दनीय और कड़वी है। विश्वबन्धुत्व की भावना करुणा, दया, क्षमा, और अहिंसात्मक विचारों के आधार पर होती है। विवेकानंद के अनुसार, “शिक्षा मनुष्य के भीतर निहित पूर्णता का विकास है”। शिक्षा का भारतीय आदर्श मन का वह नियंत्रण है, जिससे हम उसे जहाँ चाहें ठीक वहीं लगा सकें। एकाग्रता की प्राप्ति उत्तम तो है, पर जब तक उसके साथ हममें अनासक्ति की भी शक्ति नहीं आती, तब तक सम्भव है कि वह हमें कठिनाइयों के आवर्त में डाल दे। स्वामीजी कहते हैं, “तथ्यों के संग्रह को नहीं अपितु एकाग्रता को ही मैं शिक्षा का मूल समझता स्वामी विवेकानंद निर्भीक वेदान्ती थे और उन्होंने महिलाओं की स्वाधीनता एवं अधिकार का खुले तौर पर समर्थन किया। स्वामीजी अपने समय की नारी समस्याओं पर चर्चा करते हुए कहा— “परतत्त्व ब्रह्म में लिंगभेद नहीं। हमें ‘मैं-तुम’ की भूमि में लिंगभेद दिखाई देता है”। उन्होंने और भी कहा — “इस देश में पुरुष और स्त्रियों में इतना अन्तर क्यों समझा जाता है, यह समझना कठिन है। वेदान्त शास्त्र में तो कहा है, एक ही चित् सत्ता सर्वभूतों में विद्यमान है”। विवेकानंद के अनुसार मनुष्य का आदर्श मुक्ति या मोक्ष है और इस मोक्ष प्राप्ति का मार्ग सेवा है। पहले के ऋषियों ने कहा था — मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव। स्वामीजी ऋषि थे और ऋषि-परम्परा में उन्होंने नया उपनिषद् देते हुए कहा — दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव, रूग्णदेवो भव — गरीब को देवता समझो, मूर्ख को देवता समझो, रोगी को देवता समझो और देवता समझकर उनकी सेवा करो, उनकी उन्नति का उपाय करो।

अंततः सार रूप में कहा जा सकता है कि स्वामी विवेकानंद के समाजपरक विचारों से समाजवादी व्यवस्था का तो निष्कर्ष निकलता है किंतु इसे ‘वेदांतिक’ विशेषण से विशेषीकृत करना अत्यंत आवश्यक है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

- अग्निहोत्री, डॉ. प्रभुदयाल. *प्राचीन भारतीय समाज एवं संस्कृति*. दिल्ली: ईस्टर्न बुक लिंकर्स, 2000.
- उप्रैती, पं. थानेशचन्द्र. *याज्ञवल्क्यस्मृतिः (मूल हिन्दी अनुवाद एवं 'मिताक्षरानुसरी सुधा' हिन्दी व्याख्या)*. दिल्ली: परिमल पब्लिकेशन्स, 2011.
- काणे, पी.वी., *धर्मशास्त्र का इतिहास-पंचम भाग*. लखनऊ: उ.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 2010.
- कुमार, डॉ. सुरेन्द्र. *ऋग्वेद में विविध विद्याएँ*. दिल्ली: संजय प्रकाशन, 2010.
- गुप्त, देवेन्द्र कुमार. *सूत्र साहित्य में वर्णित भारतीय समाज एवं संस्कृति*. दिल्ली: प्रतिभा प्रकाशन, 2010.
- गुप्त, महेन्द्रनाथ. *श्रीरामकृष्णवचनमृत-3*. नागपुर: रामकृष्ण मठ, नवम् संस्करण, 1992.
- गुप्त, विनोद कुमार. *स्वामी विवेकानंद और उनका अवदान*. दिल्ली: प्रतिभा प्रकाशन, 2012.
- गौतम, सुदेश. *अथर्ववेद एवं स्मार्त संस्कृति*. दिल्ली: प्रतिभा प्रकाशन, 2011.
- गुरुदत्त. *धर्म तथा समाजवाद*. नई दिल्ली: भारती साहित्य सदन, 1988.
- गुप्ता, शिवानी. *भारत में जाति व्यवस्था*, दिल्ली: वंदना पब्लिकेशन, 2011.
- जैन, प्रदीप कुमार. *भारतीय संस्कृति*. दिल्ली: राहुल पब्लिशिंग हाऊस, 1994.
- टैगोर, रवीन्द्रनाथ. *द रिलीजन ऑफ मेन*. लंदन: जॉर्ज एलन एंड अनविन लिमिटेड, 1949.
- दत्त, तपश कुमार. *ए स्टडी ऑफ द फिलॉसफी ऑफ विवेकानन्द विथ रिफरेन्स टू अद्वैत वेदान्त एंड ग्रेट युनिवर्सल हार्ट ऑफ बुद्धा*. कलकत्ता: श्रीभूमि पब्लिकेशन कम्पनी, 1982.
- दासगुप्ता, आर. के. (संपादक). *स्वामी विवेकानंद-हंड्रेड इयर्स सिंस शिकागो-ए कम्मेमोरैटिव वैल्यूम*. पश्चिम बंगाल: रामकृष्ण मठ एंड रामकृष्ण मिशन, बेलूर मठ, हावड़ा, 1994.
- दासगुप्ता, आर. के. *स्वामी विवेकानंद ऑन इंडियन फिलॉसफी एंड लिटरेचर*. कोलकाता: दि रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर, गोल पार्क, 2000.

- दासगुप्ता, आर. के. *स्वामी विवेकानंद वेदान्तिक सोशलिज्म*. द रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर, गोल पार्क, 700029.
- दासगुप्ता, सांत्वना. *सोशल फिलॉसफी ऑफ स्वामी विवेकानंद*. कोलकाता: द रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर, गोल पार्क, 700029.
- दिनकर, रामधारी सिंह. *संस्कृति के चार अध्याय*. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, 2017.
- नागोरी, डॉ. एस. एल., नागोरी श्रीमती कान्ता. *आधुनिक भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक इतिहास*. जयपुर: राज पब्लिशिंग हाऊस, 2007.
- पण्डित, रामेश्वरभट्ट. *मनुस्मृति: 'सरला'—भाषाटीकया समलङ्कृता*. दिल्ली: चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2011.
- पाण्डेय, डॉ. उमेशचन्द्र. *याज्ञवल्क्यस्मृति*. वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वि. सं. 2070. (2014).
- पाण्डेय, डॉ. उमेशचन्द्र. *आपस्तम्ब-धर्मसूत्रम्*. वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वि. सं. 2073. (2016).
- भटनागर, सुनीता. *स्वामी विवेकानन्द का समाज दर्शन*. दिल्ली: प्रतिभा प्रकाशन, 2013.
- मिश्रा, डॉ. महेंद्र कुमार. *भारत का सामाजिक इतिहास*. दिल्ली: कल्पना प्रकाशन, 2014.
- मिश्रा, डॉ. महेंद्र कुमार. *भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति*. दिल्ली: कल्पना प्रकाशन, 2014.
- महाराज, श्रीस्वामी करपात्रीजी, *मार्क्सवाद और रामराज्य*. गोरखपुर: गीताप्रेस, सं. 2076.
- महर्षि, डॉ. सन्तोष कुमार. *स्वामी विवेकानंद जीवन एवं विचार*. नई दिल्ली: नेहा पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2019.
- राधाकृष्णन, एस. *पूर्व और पश्चिम—कुछ विचार*. नई दिल्ली: राजपाल एंड संज, चतुर्थ संस्करण, 1967.
- राधाकृष्णन, एस. *धर्म और समाज*. नई दिल्ली: राजपाल एंड संज, 1967.
- राधाकृष्णन, एस. *धर्म तुलनात्मक दृष्टि में*. नयी दिल्ली: राजपाल एंड संज, तृतीय संस्करण, 1966.

- राधाकृष्णन, एस. *भारतीय दर्शन—दो खंडों में*. नई दिल्ली: राजपाल एंड संज, 2004.
- रोलां, रोमां. *विवेकानन्द की जीवनी*. कोलकाता: अद्वैत आश्रम, प्रथम संस्करण, 2005.
- रामबचन, अनंतानंद. *द अटेनमेंट ऑफ मोक्ष एकाईजिंग टू शंकर एंड विवेकानंद विथ स्पेशल रिफरेंस टू द सिगनिफिकेंस ऑफ स्क्रिपचर (श्रुति) एंड एक्सपिरिएंस (अनुभव)*. लीड्स : द यूनिवर्सिटी ऑफ लीड्स, 1984.
- लाल, बसंत कुमार. *समकालीन भारतीय दर्शन*. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 2013.
- वैदिक, डॉ. वेदवती. *उपनिषद् युगीन संस्कृति*. दिल्ली: नाग पब्लिशर्स, 2003.
- विजयश्री, रमेश चन्द्र सिन्हा. *समकालीन भारतीय चिंतक*. नयी दिल्ली: डी. के. प्रिंटवर्ल्ड (प्रा.) लि., 2013.
- श्री, अरविन्द. *भारतीय संस्कृति के आधार*. पॉण्डिचेरी: श्री अरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग, 605002.
- सिंह, डॉ. शिव भानु. *समाज दर्शन का सर्वेक्षण*. इलाहाबाद: शारदा पुस्तक भवन, 2013.
- डॉ. सहाय, जगदीश, *समाज—दर्शन की भूमिका*. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1999.
- सिंह, नागशरण. *स्मृति सन्दर्भः (श्रीमद्भीः महर्षिभिः प्रणीतः धर्मशास्त्र संग्रहः)*. सप्तम भाग. दिल्ली: नाग प्रकाशक, 1993.
- स्वामी, गंभीरानन्द. *युगनायक विवेकानन्द (तीन भागों में)*. नागपुर: रामकृष्ण मठ, 1994.
- स्वामी, निखिलानंद. *विवेकानंद—एक जीवनी*. नागपुर: रामकृष्ण मठ, 2006.
- स्वामी, रंगनाथानंद. *उपनिषदों का सन्देश*. नागपुर: रामकृष्ण मठ, 2001.
- स्वामी, रंगनाथानंद. *परिवर्तनशील समाज के लिए शाश्वत मूल्य*. नागपुर: रामकृष्ण मठ, 1999.
- स्वामी, विवेकानंद. *द कम्प्लीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानंद*. (नाइन वाल्यूम्स). कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 2001.
- स्वामी, मुमुक्षानंद. *विवेकानन्द साहित्य*. (दस खण्डों में) कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 700014.

- स्वामी विदेहात्मानन्द. (संपादक). *स्वामी विवेकानंद और उनका अवदान*. कोलकाता: अद्वैत आश्रम, 2018.
- शर्मा, डॉ. अम्बिकादत्त. डॉ. जटाशंकर. सिन्हा, डॉ. रमेशचंद्र. *दर्शन के आयाम*. दिल्ली: न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, 2012.
- डॉ. शर्मा, मुंशीराम, *वैदिक संस्कृति और सभ्यता*. कानपुर: ग्रन्थम्, रामबाग, 1987.
- शर्मा, चन्द्रधर. *भारतीय दर्शन*. दिल्ली : मोतीलाल बनारसी दास, 2013.
- Page, H. Charles and Maciver, R. M. *Society an Introductory Analysis*. Delhi: Surjeet Publications, 2018.
- Pande, G. C. *Foundation of Indian Culture. Vol. 1*. Delhi: Motilal Banarasidass Publishers, 2007.
- Pande, G. C. *Foundation of Indian Culture. Vol. 2*. Delhi: Motilal Banarasidass Publishers, 2007.

शोध पत्रिकाएँ :-

- *प्रबुद्ध भारत*. रामकृष्ण मिशन, अद्वैत आश्रम, कोलकाता.
- *वेदान्त-केसरी*. रामकृष्ण मिशन, चेन्नई.
- *विवेक-ज्योति*. रामकृष्ण मिशन, विवेकानंद आश्रम, रायपुर.
- *Journal of Indian Council of Philosophical Research (JICPR)*. New Delhi: Drshan Bhawan.

अन्तर्जालीय-सामग्रीस्रोत :-

- <http://archive.org>
- <http://books.google.in>